मुक्तिबोध का साहित्य चिन्तन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी०फिल्० (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

अनुसधान पर्यवेक्षक
प्रो० राजेन्द्र कुमार वर्मा
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अनुसधान अध्येता
रमेश चन्द्र शुक्ल
कनिष्ठ अनुसधान अध्येता (हिन्दी)
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

२०००

अनुक्रम

******

(अ) मुक्तिबोध और छायावाद– रचना का आरम्भिक चरण, प्रेम और वेदना का कवि, राष्ट्रीय काव्य धारा की शून्यता, महादेवी वर्मा का प्रभाव, कविताओ का प्रगीतात्मक आधार, मृत्युवाद एव जिजीविषा का द्वन्द्व

(ब) सुमित्रानन्दन पत और मुक्तिबोध–

(2) प्रगतिवादी परिवेश – (अ) राजनीतिक जागरण की उपज, बामपथ की भूमिका ओर प्रगतिवाद, हिन्दी साहित्य मे प्रगतिवाद की ऐतिहासिक स्थिति, प्रगतिशील एवं प्रगतिवाद का अन्तर, प्रगतिवाद की फिलॉसफी, प्रगतिवादी दर्शन की अपूर्णता का प्रश्न, क्या प्रगतिवाद विदेशी विचारधारा है, आन्दोलन के प्रारम्भ मे निराला की स्थिति, प्रगतिवादी एकागिता।

(ब) प्रगतिवाद और मुक्तिबोध– सन् 1936 और मुक्तिबोध, मार्क्सवाद एव मुक्तिबोध, मुक्तिबोध एक सचेत विचारक, वर्गहीन समाज की कल्पना, नव प्रगतिवाद का सृजन, कविता और राजनीतिक अंत सम्बन्ध, नई कविता में मुक्तिबोध की उपेक्षा का कारण, भारतीय संस्कृति और मुक्तिबोध, शोषण सभ्यता के विरुद्ध, कविताओं की राजनैतिक पट भूमि, साहित्य एवं राजनीति की अन्योन्याश्रिता, मुक्तिबोध एव टॉलस्टाय तथा कामायनी, यथार्थ एवं बुर्जुआ यथार्थ, सघर्ष का सौन्दर्य, श्रम का सौन्दर्य।

(3) प्रयोगवादी परिवेश – (अ) प्रयोगवाद – ऐतिहासिक स्थिति, तारसप्तक एवं विभिन्न वैचारिक समन्वय, प्रयोगवाद का अर्थ, आत्मघटित और आत्मानुभूत का प्रश्न, द्वितीय महायुद्ध और प्रगतिवादी साहित्य, प्रयोगवाद एवं अस्तित्ववाद का अन्तस्सम्बन्ध,।

(ख) <u>साहित्य प्रयोजनीयता</u> – कार्य, करण की अनुक्रिया। रचना मे उद्देश्य का अन्तमर्हत्व, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भरत, भामह मम्मट, भिखारीदास का मत, समाज मे परिवर्तन, का माध्यम, यूरोपीय चिन्तको के आनन्दवाद की दशा और साहित्य की उपयोगितावादी दृष्टि, सवेदनात्मक उद्देश्य के निर्माण–सहायक तत्व, सास्कृ तिक एव मानसिक परिष्कार, व्यक्तिवादी अवधारणाओ का खण्डन जन–मुक्ति की प्रबल पक्षधरता।

(ग) <u>सम्प्रेषण सम्बन्धी मान्यताए</u> – सम्प्रेषण का अर्थ एव आवश्यकता, सम्प्रेषणीयता की ऐतिहासिक स्थिति – भरत का नाट्यशास्त्र, कला का अन्तर्तत्व, विभाव पक्ष, सप्रेषण का माध्यम, स्तजन की सायसता, मुक्तिबोध की सम्प्रेषण प्रणाली की कठिनाई, कविता की वाचिक परम्परा, कविताओ मे परस्पर विरोधी भावो का सन्तुलन, सप्रेषण की विफलता का सवाल, कविताएं . जिन्दगी को पहचाने का एक उपक्रम, महान उद्देश्य और महान कविता, सवेदनात्मक उद्देश्य और कलात्मक प्रभाव, भाष्यकारो के आयवरी टावर, रीतिकालीन संस्कार और कविताए, सम्प्रेषणीयता की समस्या ओर कारण,

(घ) <u>काव्य जीवन की पुनर्रचना</u> – जीवन का अर्थ, अन्तरंग जीवन के विकास में बाल्यावस्था का रोल, स्वानुभूत जीवन, स्वानुभूत जीवन और कलाकार की ईमानदारी, ईमानदारी का नई कविता से पूर्व अर्थ एवं प्रयोग, ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान, व्यक्तिगत ईमानदारी और कलात्मक ईमानदारी, स्वानुभूत जीवन और कविता की प्रतिनिधिकता,

(2) <u>कल्पना</u> – अर्थ, कल्पनात्मक चित्रों की त्रैकालिकता, कल्पना का आधार वास्तविकता, विधायक कल्पना एवं ग्राहक कल्पना, कल्पना एवं फैंसी,

(3) पुनर्रचना – पुनर्रचना की ऐतिहासि स्थिति, पुनर्सृजन मे कल्पना की सृजनशील भूमिका, पुनर्सृजन का स्वरूप– द्वन्द्वात्मक या सामजस्य।

(क) काव्य भाषा विषयक पारपरिक अवधारणा कारण–कार्य एव सासारिक स्थिति, भाषा को जानने का साधन भी भाषा ही, भाषा को सृजनशील और सम्प्रेषणीय बनाने वाले तत्व शब्द शक्तियाँ. शब्द की मूल इकाई वर्ण, शब्द शक्ति मे शक्ति का अर्थ, अर्थ के प्रकार और उसका ग्रहण, अभिधा शब्द शक्ति, – सकेत ग्रहण के उपाय, लक्षणा शब्द शक्ति–भाषिक, सौष्ठव मे लक्षणा का योग, व्यञ्जना शब्द शक्ति – उसके प्रकार एव प्रयोग, काव्य दोष, गुण रीति एव वृत्तियाँ काव्यत्व का आधार शब्दार्थ, काव्य मे दोषों की स्थिति, अदोष और ईषत्दोष, दोषो के प्रकार, गुण, रसोत्कर्ष के हेतु, रीति और आधुनिक शैली विज्ञान, वृत्त्यिों का भाषिक सौन्दर्य में साहायय, अलकार, काव्य में अलकार की निवारता, अलंकार का विभाग– सादृश्य एवं विरोध के आधार पर, वक्रोक्ति–कथन की भंगिमा का स्वरूप, वक्रोक्ति के भेद,

(ख) मुक्तिबोध की काव्यभाषा विषयक अवधारणा– समकालीन काव्य भाषा पर बहस की ऐतिहासिकता, अज्ञेय की भाषा विषयक अवधारणा, कविता मात्र भाषा नही है, कला का तीसरा क्षण, जीवन और कला का अद्वैत भाषा की प्रकृति, समतुल्यता, भाषाएवं बोली का अर्थ, भाषा एक सामाजिक निधि, भाषा एवं भाव का मेलापक, रचना की सबसे बड़ी कसौटी,

एकान्त समर्पण, व्यवहारिक आलोचना, सैद्धान्तिक बिन्दुओ का ही एक पहलू, प्रसाद, मुक्तिबोध एव डॉ0 राम विलाश शर्मा का अत सम्बन्ध, कामायनी एक पुनर्विचार–आत्म वचना से निकलने का उपाय, कामायनी के पात्र किसी मूर्त यथार्थ के प्रतीक, इतिहास एव कल्पना का असफल मिश्रण, पद्मावत और कामायनी तथा कृतिकारो का मन्तव्य कथा का आधार एवं प्रसाद की कल्पना–शीलता, कामायनी बडे रचनाकार की उत्तरदायित्व हीनता का सबूत, कामायनी 'फेटेसी' है, कामायनी जीवन की पुनर्रचना है, प्रसाद जी की विचार–धारा पर सामन्ती एव नव अद्वैतवादी विचारधारा का प्रभाव, मनु 'मन' का प्रतीक नही है, 'मन' से मुक्तिबोध का तात्पर्य, निराला की कामायनी विषयक अवधारणा, मनु कमजोर चरित्र है, डॉ0 रामविलास शर्मा की मनु विषयक समझ एव मुक्तिबोध परिवार से उसका तादात्म्य, श्रद्धा की अवतारणा हेतु मूलक, श्रद्धा का चारित्रिक अन्तर्विरोध, श्रद्धावाद और शोषक वर्ग, प्रसाद पर भाववादी विचारक स्पेग्लर का अशत प्रभाव, सामाजिक असमानता सृष्टि का अन्तर्नियम नही, इडा का चरित्र एवं मुक्तिबोध, इडा–सर्वाइवल आव दि फिटेस्त और स्ट्रगल फार इक्जिसटेन्स और प्रसाद का अत सम्बन्ध, कामायनी का विश्व साहित्य मे स्थान।

'अंधा युग' एक फैटेसी– अन्धायुग का भवनात्मक आधार मौजूदा सम्यता, अन्धा युग मे सामाजिक रूपान्तर का कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नहीं।

'उर्वशी' कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित कथा काव्य है, उर्वशी में वर्णित कामाचार आध्यात्मिकता का सामाजिक

नत निवेदन

कवि गजानन माधव मुक्तिबोध के प्रति मेरी जिज्ञासा आकस्मिक न होकर क्रमिक है। मुक्तिबोध की कविताओ के प्रति आकर्षण उच्चतर माध्यमिक कक्षाओ से ही जागा। हलॉकि उस समय तक उनकी मैने मात्र एक कविता 'मुझे कदम-कदम पर' पर पढी थी। कविता की कोई खास समझ थी नही अत यह कहना कि पठित कविता का अर्थ अद्भुत लगा, सरासर झूठ होगा। बावजूद इसके मुक्तिबोध ने मुझे 'अपील' किया। तात्कालिक सच्चाई बस इतनी सी है।

उक्त कविता जिस सकलन 'चॉद का मुँह टेढा है' से उद्धृत थी, उसका शीर्षक भी मेरे लिए कम हैरतनाक नही था। कारण यह जिस चॉद को मै मामा से शुरू करके खिलौना तथा विरहणियो के उद्दीपक तक पहुँचा पाया था, अचानक ही एक नवीन रूप मे वह भी 'टेढा मुँह' लेकर प्रकट होगा, मेरे लिए अकाल्पनिक था। एक जिज्ञासा उक्त सकलन को पढने की लगी, लेकिन पुस्तक की अनुपलब्धता की समस्या की वजह से वह इच्छा मन के किसी कोने मे दुबक गयी। समस्या का समाधान भी एक अजीब से सयोग से हुआ। हुआ यो कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में स्नातक का छात्र होने का मुझे गौरव मिला, तो पठन-पाठन के सिलसिले में चाचा डॉ0 लक्ष्मीकान्त पाण्डेय, उपाचार्य हिन्दी, पी0 पी0 एन0 पोस्ट ग्रेजुएट कालेज कानपुर के साथ कानपुर जाने का मौका मिला। 'चॉद का मुँह टेढ़ा है' पुस्तक वही मेरे हाथ लगी। दस दिन के प्रवास के दौरान उक्त सकलन की सारी रचनाए मै पढ गया। कविताओ की एक 'लिरिकल' धुन साथ ही सामाजिक चित्रण का एहसास उस समय भी मुझे हुआ।

मुक्तिबोध के प्रति आकर्षण को और गहरा करने का श्रेय जिन पुस्तको को मैं देना चाहूँगा उसमें विष्णु शर्मा की किताब 'मुक्तिबोध की आत्मकथा' तथा नरेश मेहता की किताब 'मुक्तिबोध एक अवधूत कविता' विशेष उल्लेख योग्य हैं। दोनो ही किताबों में मुक्तिबोध को जिस आत्मीयता से पाठक के समक्ष रखा गया

है, वह सिद्धहस्त जीवनी लेखन और मित्र–भाव का परिपूर्ण निदर्शन है। सन् 1995 मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की 'फेलोशिप' मिलने के बाद मेरी मुक्तिबोध पर ही काम करने की इच्छा हुई।

नरेश जी ने मुक्तिबोध के कवि व्यक्तित्व के बारे में एक बडे ही महत्व की बात कही है– अपना यश देखना और भोगना सामान्यत सौभाग्य समझा जाता है परन्तु पुण्यात्मा के भाग्य मे यह नही होता इसीलिए पुण्यात्मा का यश उसकी पीठ पर लिखा होता है। इस सन्दर्भ मे यदि हम देखे तो मुक्तिबोध का कृतित्व एव व्यक्तित्व दोनो वाकई हैरत मे डालने वाला है। सैकडो कालजयी कृतियो का रचयिता स्वय एक अदद लेक्चरशिप के लिए कहाँ–कहाँ नही भटका। बल्कि यह कहूँ कि नौकरी की खोज कवि के भटकाव का पर्याय बन गई तो अतिरजना न होगी। अप्रतिम राजनीतिक जागरूकता के बावजूद उनकी साहित्य क्षेत्र मे जो भी फजीहत हुई इसका एक कारण राजनीति अवश्य थी। सन् 1964 यानी जब तक मुक्तिबोध मर न गये तब तक न तो उनकी कोई किताब ही प्रकाशित हुई ओर न ही हिन्दी–जगत मे उनकी उपस्थिति की कोई गम्भीर नोटिस की गई। महत्ता का यह सम्पूर्ण माजरा घटित हुआ उनकी बीमारी के दौरान जब वे आल इण्डिया मेडिकल साइन्सेज के बेड पर मूर्च्छित पाए गये। कई दिनो की नीम बेहोशी के बाद आखिर 11 सितम्बर 64 की वह कालरात्रि आ ही गई जो कवि की विगत अवस्था को देखते हुए आकस्मिक नही थी।

प्रबुद्ध वर्ग की यह एक विचित्र विसगति ही कही जाएगी कि विश्व–विद्यालय की उच्च कक्षाओं तथा साहित्यिक सामाजिक गोष्ठियों मे मानवातावादिता पर दून हॉकने वाले सज्जनो को न तो सघर्ष करते व्यक्ति में कोई सम्भावना नजर आती है और न ही उसके कलात्मक सृजन मे तपिश। मुक्तिबोध का सम्बन्ध बौद्धिक वर्ग से कुछ ऐसा ही था। पहले तो उनकी कविताओं को पढ़ने की जहमत ही नही उठाई गई, क्योंकि वे उक्त सज्जनो के अनुसार बोझिल और उबाऊ थी। जब उठायी भी गई तो कविताओ के मनमाने अर्थ करके साहित्य जगत् में एक भ्रम फैलाने का ही काम किया गया।

आज की तारीख मे मुक्तिबोध हिन्दी काव्यधारा के प्रगतिशील परम्परा के ऐसे 'माइलस्टोन' है जिनको अलक्षित करके हिन्दी काव्य–यात्रा की ठीक–ठीक जॉच नही की जा सकती। सघर्ष करते युवा मानस के तो वे प्रतीक है, बरसो से दबी कुचली जनता के भी वह प्रतिनिधि कवि है। अपने समस्त रचना क्रम के माध्यम से उन्होने सामाजिक बुराइयो, पाखड आदि से पर्दा हटाकर जनता को उसकी जमीनी सच्चाई से रूबरू कराया।

मुक्तिबोध के कृतित्व एव व्यक्तित्व पर बहुत से शोध–प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके है जो प्रबुद्ध युवामनो की उनके प्रति अभिव्यक्ति श्रद्धाञ्जलि ही कही जाएगी। डॉ० अशोक चक्रधर, प्रो० राजेश, डॉ० सजीव, डॉ० हुकुम चन्द्र राजपाल, डॉ० गगा प्रसाद विमल, डॉ० सुरेन्द्र प्रताप, डॉ० शशि शर्मा, डॉ० बृजबाला चौहान, डॉ० सुरेश ऋतुपर्ण ने मुक्तिबोध पर श्लाघनीय काम किया है। मुक्तिबोध की काव्य–समझ को प्रचारित करने मे निश्चित ही इन प्रबन्धो का योग है लेकिन खेद इस बात का है कि शोध–प्रबन्धो की इस विपुल राशि मे स्वय शोधकर्ता की क्या राय है, यह लगभग गुप्त या गोलमोल है।

मुक्तिबोध निश्चित ही एक बडे कवि के साथ श्रेष्ठ विचारक भी है। बल्कि यदि हम यह कहे कि वे बडे विचारक के कारण ही बडे कवि है तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि कविता मे विचारो का 'प्रोजेक्शन' जिस तरह से चलता है . उससे यही लगता है कि विचारो को ही कविता का रूप दे दिया गया है, मुक्तिबोध के विषय मे बहुत से सुधी विद्वानो की एक स्वर राय रही है कि मुक्तिबोध किसी एक वाद,सिद्धान्त या विचारधारा तक बँधकर रहने वाले चिंतक नहीं हैं। अत कवि को जनवादी, मार्क्सवादी की अपेक्षा व्यापक अर्थवत्ता का सर्जक मानना ही ज्यादा न्याय सगत होगा। लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ, मुक्तिबोध विषयक सारे भ्रम की शुरुआत यही से होती है जब हम उनकी विचारधारा के प्रति जागरूकता का परिचय नही देते। मुक्तिबोध अपने कई लेखों में अमूर्त मानववादिता के प्रति गहरा क्षोभ व्यक्त करते हुए, वैयक्तिक

प्रश्नो को व्यापक धरातल प्रदान करने के निमित्त एक व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टि की जरूरत पर लगातार बल देते रहे। वे जन के निजी प्रश्नो को व्यापक मानवीय सवालो से जोडकर एक जनान्दोलन खडा करने की इच्छा रखते थे। सन् 1947 की प्राप्त स्वतन्त्रता को जिस लेखक ने 'रिक्थ' स्वतन्त्रता' कहकर जन-स्वतन्त्रता को ही वास्तविक स्वतन्त्रता बताया हो, जो देश को मात्र कागज पर फैला 'मैप' न मानकर वहाँ रहने वाले लोगो के रहन-सहन और सस्कृति के आधार पर निर्मित मानता हो उसको किस आधार पर जनवादी न माना जाए?

स्वातन्त्र्योपरान्त शीत युद्ध के दौरान सन् 1950 मे हिन्दी साहित्य मे भी कलावाद को प्रतिष्ठित करने का जो आन्दोलन शुरू हुआ वह अन्तर्राष्ट्रीय साजिश की एक कडी थी जिसके तहत साम्यवादी समाजवादी अवधारणा को समूल नष्ट करके व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा पर विशेष जोर दिया गया था। ऐसा नही है कि हिन्दी साहित्य मे इस षडयन्त्र को केवल मुक्तिबोध ही भाँप पाए। सन् 50 के दो दशक पहले ही मुशी प्रेमचन्द, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति विद्वानो ने इसका मुखर विरोध करते हुए कला की उपयोगिता का सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया था। यह जरूर था कि इन लेखको मे मार्क्सवाद का जिक्र शुक्ल जी ने नही किया है, मुशी जी ने सोवियत सघ की राज्य प्रणाली का खुला समर्थन करते हुए भारत मे इस तरह की शासन व्यवस्था की कामना की है।

मुक्तिबोध ने जिस तरह साहित्य के लिए एक वैज्ञानिक विचारधारा की जरूरत और कलावाद के खण्डन पर जोर दिया, इससे इस शक की कोई गुंजाइश नहीं रह जानी चाहिए कि वे मार्क्सवादी नही थे। जिस तरह से उन्होने कलावाद तथा कला की स्वायत्तता के सवालो के मूल मे जनवाद के महन विरोध को लक्षित किया है उससे यह जानना स्वाभाविक हो जाता है कि वे किन विचारो से प्रभावित होकर यह सब करने के लिए दृढ सकल्पित हुए। जहाँ तक मैं समझता हूँ वह वैचारिक आधार मार्क्सवाद था। हमें यह नही भूलना चाहिए कि कलावाद की घोषित शुरुआत साहित्य के दो विशेष सन्दर्भों के विरोध के निमित्त थी, पहली-कवि के भोगे गए यथार्थ को साहित्य का सन्दर्भ न बनाया

जाय, दूसरा–मार्क्सवादी अवधारणा को साहित्य जगत से बाहर खदेडना, कहने की जरूरत नही कि इन दोनो ही चीजो की विशेष जरूरत पर मुक्तिबोध बल देते रहे। अत मुक्तिबोध को मार्क्सवादी कहना न तो उनके साथ अन्याय है और न ही कलाकार के प्रति की गई ज्यादती। हॉ यह सही है कि वे मार्क्सवाद की रूढिगत स्थिति मे कुछ परिवर्द्धन करना चाहते थे। इसका कारण साफ है– वे कला को सारी वस्तुगतता के बावजूद एक आत्मिक प्रयास ही मानते है, हकीकत भी यही है। मार्क्सवाद उनके लिए निश्चित ही वैचारिक प्रतिबद्धता का पर्याय है, लेकिन अपनी सास्कृतिक परम्परा खासतौर पर भक्तिकालीन सतो की वैयक्तिक दैन्य निरूपण की आत्मपरक भावधारा का उन पर अतिशय प्रभाव है।

उन्होने साफ तौर पर माना है कि आत्मपरक भावधारा भी हमारी काव्यात्मक सस्कृति का एक महत्वपूर्ण अग है और इस धारा के माध्यम से भी कवियों ने वास्तविकता को ही दर्शाया है। अतएव कोई कारण नही हो सकता कि इस धारा के माध्यम से सच्चाई का न बयान किया जा सके। इसीलिए वे नई कविता के सन्दर्भ म प्राय आत्मपरकता और वस्तु परकता के समन्वय पर बार–बार जोर देते रहे।

मुक्तिबोध के विचार इतने स्पष्ट हैं कि किसी से छिप नही सकते। वैचारिक तौर पर वे 'वामपथी' है यह बात सबको मालुम है। फिर भी भ्रम, किसी भाष्यकार या शोधकर्ता द्वारा उनसे वैचारिक तौर पर इत्तेफाक न रखना समझा जा सकता है, लेकिन उस विचार से स्वय का सम्बन्ध न होने के कारण कवि के ही विचारों का इतर घोषित करना उसकेसाथ अन्याय है। कहने की जरूरत नहीं कि मुक्तिबोध के रचना–प्रक्रिया विषयक जितने भी लेख है वह इसी अन्याय के प्रतिकार का ही एक रूप है। उनके समस्त वैचारिक चितन को देखकर मैं भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मुक्तिबोध का मार्क्सवाद मे गहन विश्वास था और इस विश्वास के चलते ही वे आज एक बडे कवि और चितक हैं, इस विश्वास के बावजूद नही।

इतना कह चुकने के बाद इस बात की गुजाइश नि शेष हो जाती है कि मैने शोध–प्रबन्ध का विषय "मुक्तिबोध का साहित्य चितन" ही क्यो चुना। यो तो मुक्तिबोध के चिन्तन को 'एक साहित्यिक की डायरी' का ही पर्याय माना जाता है, लेकिन इतने बडे विचारक की समझ मात्र वही तक ही सीमित नही है। अत इन सभी बातो के मद्दे नजर मैने मुक्तिबोध रचनावली के छहों भागो से चितन के तत्वो को खोज कर अपनी धारणा को तर्कसगत बनाने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध सात अध्यायो मे विभाजित है। उपसहार को अलग से लिखा गया हे, सम्भव है उसे आठवॉं अध्याय मान लिया जाये।

प्रथम अध्याय 'मुक्तिबोध का जीवन' दर्शाने के निमित्त है जिसमे उनके जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त पारिवारिक और साहित्यिक गतिविधियो को सक्षिप्तता से प्रकाशित किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'मुक्तिबोध का परिवेश' के रूप मे लिखा गया है। जिसके माध्यम से उनके राजनैतिक, सामाजिक परिवेश की जानकारी तो दी ही गई है, साहित्यिक परिवेश को विशेष तौर पर विस्तार से निरूपित किया गया है। जिसके अन्तर्गत छायावादी प्रगतिवादी – प्रयोगवादी तथा नई कविता की पृष्ठभूमि और स्वय मुक्तिबोध का उनसे अत सम्बन्ध क्या था इन बातो का विश्लेषण करते हुए कवि के व्यक्तित्व का क्रमिक साहित्यिक विकास दर्शाया गया है तथा मैं मानता हूँ कि मुक्तिबोध इन सारे काव्यान्दोलनो के बीच 'नवप्रगतिवाद' के प्रतिष्ठापक कवि और चितक हैं।

तृतीय अध्याय मे मुक्तिबोध के 'साहित्य एव जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण' को लक्षित किया गया है। जिसमे साहित्य की अवधारणा एव स्वरूप, साहित्य का प्रयोजन, सम्प्रेषण सम्बन्धी मान्यताए तथा काव्य को जीवन की पुनर्रचना के तौर पर दिखाने का प्रयास है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत 'समकालीन भाषा और मुक्तिबोध' शीर्षक से काव्यभाषा की पारम्परिक अवधारणा तथा मुक्तिबोध की काव्यभाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण को दिखाया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत 'रचना–प्रक्रिया' जैसे विशिष्ट लेख को भी रखा गया है जिसका कारण यह है कि रचना प्रक्रिया मे ही किसी कवि की वैचारिक और भाषागत समझ अनुस्यूत होती है, कवि की रचना की उत्पत्ति और उसकी प्रेरणा, उस प्रेरणा को शाब्दी आकार प्रदान करने की विराट प्रक्रिया को इसके अन्तर्गत विश्लेषित करने का उपक्रम हुआ है।

पचम अध्याय 'काव्य भाषा के सृजनात्मक तत्वों' का है। जिसके अन्तर्गत बिम्ब, प्रतीक, मिथक, फैटेसी को शामिल किया गया है। बिम्ब, प्रतीक, मिथक की परिभाषा देने से बचते हुए इस का प्रयास किया गया है कि कवि कीकविताओ मे इन तत्वो का रचनात्मक उपयोग कैसे हुआ है। चूँकि कवि नाट्यधर्मी फैटेसीकार है और फैटेसी मे वर्तमान स्थिति से एक दूरी स्थापित करते हुए वास्तविकता को नेपथ्यगामी बना दिया जाता है। मेरी कोशिश यह रही है कि 'फैटेसी' को उसके मूर्त यथार्थ के तौर पर उद्घाटित किया जाय।

षष्ठ अध्याय 'मुक्तिबोध की समीक्षात्मक दृष्टि' को लेकर है। जिसमे मैने उन्हे मूल्यवादी मार्क्सवादी आलोचक के तौर पर देखा है। व्यवहारिक समीक्षक के तौर पर वे इन्ही सिद्धान्तो को किसी लेखक पर घटाते है। दोनो ही आलोचनाओ मे उनकी सैद्धान्तिक और व्यवहारिक एकता को लक्षित किया गया है।

सप्तम अध्याय में मुक्तिबोध के साहित्यिक सृजनात्मक तत्वो का विश्लेषण एवं चिन्तन के स्वरूप को लक्ष्य किया गया है। जिसके अन्तर्गत भावतत्व, विचार तत्व, सौन्दर्य बोध तथा इतिहास एवं सास्कृतिक बोध को विश्लेषित करते हुए उनके चिन्तन के स्वरूप को भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक माना गया है।

उपसहार मे इन समस्त अध्यायो का निचोड प्राकृत करते हुए मुक्तिबोध को समस्त मानवीय वैविध्य, एव सतर्क कलात्मक चेतना समपन्न रचनाकार घोषित किया गया है।

सर्वप्रथम मै गुरुदेव डॉ० राजेन्द्र कुमार वर्मा आचार्य एव पूर्व विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग, इलाहाबाद, विश्वविद्यालय के प्रति नतमस्तक हूँ जिन्होने अपनी गहन अस्वस्थता के बावजूद भी कुशल निर्देशन एव प्रोत्साहन द्वारा मेरा मार्ग प्रशस्त किया। जितना भी हो सका वह बिना गुरु कृपा के सम्भव न होता। डॉ० मालती तिवारी आचार्य एव अध्यक्ष, डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र आचार्य, डॉ० राजेन्द्र कुमार उपाचार्य हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति भी मै कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके सहज स्नेह और बहुमूल्य सुझाव दोनो ही मुझे प्राप्त हुए। सुहृद चाचा डॉ० लक्ष्मीकान्त पाण्डेय उपाचार्य हिन्दी, पी० पी० एन० कालेज कानपुर एव चाचा कमला शकर पाण्डेय के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन महज औपचारिक सा होगा, क्योकि उनका मुझ पर पुत्रवत् स्नेह और स्नातक से लेकर अब तक की शिक्षा–दीक्षा मे जितना अनुग्रह है वह कृतज्ञता ज्ञापन की तुलना मे नही आ सकता। सहपाठी एव मित्रो मे भाई सूर्यनारायण सिह प्राध्यापक हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, भाई श्रीप्रकाश शुक्ल प्राध्यापक हिन्दी गर्वनमेट डिग्री कालेज गाजीपुर का भी आभारी हूँ जिनके विद्व ससर्ग से कुछ न कुछ अवश्य मिला। गुरु भाई दिनेश कुमार राय तथा अजय कुमार श्रीवास्तव (अनुसधान अध्येता हिन्दी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के प्रति भी अपना अभार प्रकट करना चाहूँगा जिनका मित्रभाव, भातृभाव कीह सीमा को छूता है। अन्य मित्रों में भृगुपति कुमार तिवारी, बिजेन्द्र मिश्रा, डॉ० सन्तोष त्रिपाठी, डॉ० कौशलेश कुमार मिश्र, श्याम शकर सिह, आशीष मिश्र आदि को भी अपना धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जो कही न कही से मुझसे जुडे रहकर निराशा के क्षणों में प्रोत्साहित करते रहे।

सग्रहालय हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद, एव इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तक के सभी कर्मचारियों के प्रति मै साधुवाद प्रकट करता हूँ जिन्होनें सम्बद्ध
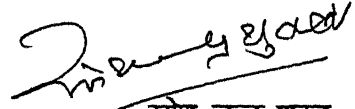
पुस्तको को उपलब्ध कराने मे अपनी–अपनी भूमिका का निवोह किया। अत मे उन सभी सुधी वि॰ानों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग से इस प्रबध का प्रणयन हो सका।

ज्ञान के अथाह सागर मे मेरा यह प्रयास यदि बूँद बराबरभीसाबित हुआ तो समझूँगा कि मेहनत सार्थक हुयी। यदि मुक्तबोध से शब्द उधार लूँ तो

"जितना भी किया गया
उससे ज्यादा कर सकते थे
ज्यादा मर सकते थे।"

रमेश चन्द्र शुक्ल

कनिष्ठ अनुसन्धान अध्येता हिन्दी,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
सन् 2000

प्रथम अध्याय

मुक्तिबोध का जीवन

मुक्तिबोध का जीवन

इस सदी के सर्वश्रेष्ठ विचारको मे से, एक गजानन माधव मुक्तिबोध का जन्म 13 नवम्बर सन् 1917 मे तत्कालीन ग्वालियर स्टेट के श्योपुर (जिला मुरैना) नामक कस्बे में रात के दो बजे हुआ। ए "सात-भाई बहन हुए जिनमे से दो भाई और एक बहन (सुमन) बचपन मे ही चले गये थे।"[1] माता का नाम पार्वती बाई (पिता पक्ष-ब्राह्मण देश पाण्डेय ग्रोत्रीय)- "बहुत ही भावुक किन्तु खुद्दार"[2] महिला उस जमाने की केवल कक्षा छ पास पर प्रखर मेधा सम्पन्न। "विद्यार्थी जीवन मे अपनी शैक्षणिक योग्यता के कारण उन्हे 100 रू0 का इनाम मिला था।"[3] एक किसान परिवार से आने के कारण उनके मन मे "विलेज काम्पलेक्स" सदैव बना रहा। एक विचित्र प्रकार का डर कि कही इस सुसस्कृत परिवार मे मेरी ग्रामीणता लक्षित न हो जाए, उनको सदैव घेरे रहा। इसीलिए उनके व्यवहार मे एक अतिरिक्त सजग तत्परता का निर्वाह मिलता था। "माँ ने हिन्दी और मराठी दोनो ही भाषाओ से अपना नाता जोडे रखा तथा "हरि नारायण आप्टे और प्रेमचन्द उनके प्रिय लेखक थे।"[4]

मुक्तिबोध के पिता माधवराव जी तत्कालीन अग्रेजी राज्य में पुलिस के एक महत्वपूर्ण अधिकारी पद पर थे। रूल-रेग्युलेशन के पक्के पाबंद, "पुलिस अधिकारी के रूप मे पिताजी का व्यक्तित्व बहुत रोबीला था।"[5] यद्यपि प्रमाण पत्रीय दृष्टि से केवल मिडलची थे, पर स्वाध्याय और मनन के जरिये उन्होने स्वय का एक दर्शन तैयार कर लिया था। जिसकी आलोचना या प्रतिकूल आचरण वे जरा सा भी बर्दाश्त नही कर पाते थे। यदि कभी किसी पारिवारिक सदस्य ने भी उनकी अवहेलना करने का साहस किया तो वह बहुत बिगड जाते थे। "स्पष्टत अपने सिद्धान्तों और विचारो के प्रति उनमें एक भीतरी जिद्द थी, जिसका निर्वाह उन्होंने जीवन-पर्यन्त किया।"[6] वे कभी भी किसी लाभ-लोभ भय-आतक के आगे नहीं झुके। महकमा-पुलिस तो सदा से ही अपनी बेइमानियो और काले-कारनामों के लिए बदनाम रहा पर वे "कीचड मे कमल की तरह विकसित"।[7] किसी भी व्यक्ति के सदैव से ही दो पहलू हुआ करते हैं, प्रथम बाह्य और दूसरा अन्तस्, यह भी सच है कि बाह्य से ही अन्त परिचालित होता है और कभी-कभी जो व्यक्ति बाह्यत दिखता है वैसा वह होता नहीं। यह भी एक मनोवैज्ञानिक पहलू है कि जिसका बाह्य चर्म या बाह्य कलेवर जितना सख्त होता है या लगता

है उसके अन्तस मे वैसी ही विराट कोमलता भी पाई जाती है। इसीलिए बावजूद सारे पुलिसिया रोब-दाब के माधवराव जी का अन्तस एक कोमल कवि हृदय और भावुक किस्सागो का ही था- "रोजनामचा लिखते तो चित्र खीच देते। xx xx xx xx एक फासी का किस्सा जब वे सुनाते थे तब जैसे सारा दृश्य आखो के सामने प्रत्यक्ष हो उठता था।"[8] एक उच्च अधिकारी होने के कारण उनकी जान-पहिचान ऐसे लोगो से अवश्य ही रही जो उनके लिए कभी भी "दूध देता थन" बन सकते थे पर- "रिटायरमेन्ट के बाद, विषम आर्थिक परिस्थितियो के दौरान वे किसी के पास सिफारिश के लिए नही गये।"[9]

मुक्तिबोध महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे पर उनका व्यक्तिगत सम्बन्ध जितना हिन्दी क्षेत्रो से रहा सभवत उतना मराठी, परिवेश से नही। अब यह एक अवान्तर प्रसग है कि वे ब्राह्मणो के पच द्राविण वर्गीकरण मे कोकणस्थ थे, देशस्थ थे, या चितपावन। उनके "किसी पूर्वज ने समर्थ स्वामी रामदास के "दासबोध" की भाँति "मुक्तिबोध" लिखा और वह प्रणयन ही कालान्तर मे इस परिवार का अवटक हो गया।"[10]

इनके परिवार के धार्मिक वातावरण के विषय मे जो जलगाव मे कथा प्रचलित है वह कवि के व्यक्तित्व से कम रोचक नही है। जिसमे कवि के प्रपितामह (श्री वासुदेव जी) को दैवयोग से स्वप्न मे "हरि" और "हर" के दो चिन्ह स्वरूप नर्मदा से लाने का आदेश हुआ, बाद मे उनको वे लिंग प्रतीक प्राप्त हुए तथा "हरि" का स्थापन जलगाव में ही करके "हर" को ग्वालियर ले आया गया। जिनकी "दिन मे तीन बार पूजा होती थी तथा पिताजी के प्रमोशन बच्चों के पास होने और तीज-त्योहार के अवसर पर उनके पूजन का विशेष आयोजन किया जाता था।"[11] जैसे गोस्वामी जी ने अपने अन्यतम ग्रन्थ "रामचरितमानस" मे शैव और वैष्णव का संगुम्फन किया कुछ वैसा ही वातावरण मुक्तिबोध के परिवार में भी रहा। यहाँ एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि गजानन माधव मुक्तिबोध में तीनों जून की दिया-बाती और सध्या वदन का सर्वथा अभाव रहा। माँ के द्वारा ठाकुर जी को भोग लगाना उन्हे अजीब लगता था और विनोद भी करते थे कि माँ यहाँ खिलाओ तो कुछ गुण भी बढ़े, पत्थर में क्या रखा है।

निरन्तर दो बच्चो का पैदा होकर काल के गाल मे समा जाना, माँ के लिए एक हृदय विदारक घटना ही थी सो तीसरे नम्बर मे पैदा होने वाले गजानन के प्रति माँ और पिता का स्वाभाविक अगाध स्नेह रहा, "सब उन्हे बाबू साहब कहकर पुकारते थे- पिताजी का आग्रह था।"[12] पुलिस अधिकारी पिता के वैभव के वे एकक्षत्र अधिपति रहे, बचपन मे उन्होने कोई भी ऐसा बाल्य-सुलभ सुख नही था जिसे न भोगा हो। आलीशान हवेली, नौकर-चाकर सभी तो थे। कुछ पिता से पाए हुए सस्कार और कुछ माँ का अतिरिक्त लाड बालक गजानन को "हठी मिजाज" का बना दिया, उनकी हर जरूरतो को पूरा किया जाता था, हरेक माग पर ध्यान रखा जाता था। जिद्दी तो शुरू से ही थे - "पहाडे रटाते समय यदि जिद्द पकड ली तो फिर पिता जी से मार खाना मजूर, अपनी हठ से बाज नही आते थे। बोलना बद कर लेते थे।"[13] बाल्यकाल की अतिरिक्त देखरेख और प्राप्त महत्व ने उन्हें एक ओर तो "हीन-ग्रन्थि से मुक्त रखा और दूसरी ओर इनका आत्माभिमान, गर्व तथा "अपनापन" जीवन की विषम परिस्थितियो में भी कायम रहा। इस सन्दर्भ मे इनके कवि मित्र वीरेन्द्र कुमार जैन की यह प्रतिक्रिया कितनी सही है कि वे "अपनी अप्रतिम 'श्रेष्ठता" और "विशिष्टता" से अभिभूत थे। अपने को भूल कर अपने से ऊपर किसी को देखना उनके बस का नही था।[14]

सच यह है कि एक बडा रचनाकार तात्विक रूप से अत्यन्त बडा मनुष्य भी होता है। लेकिन बडे होने का अर्थ और अभिप्राय किसी इतर मुद्रा या वायवीय आचरणगत बड़प्पन मे नही होता। छोटी से छोटी हवा मे भी बडी वनस्पति के हिलने का छन्द छोटी वनस्पति के हिलने के छन्द से सर्वथा भिन्न होता है। यह बड़प्पन न तो सतो वाली असगता था और ही सम्पन्नता वाला औपचारिक आचरण हाड़ मास वाली उन सारी मानवीयताओं और कमजोरियों से निर्मित तथा युक्त उनका बड़प्पन उन्हे विश्वसनीय ही बनाता था। जिस तरह से गांधी पूरे भारत की रचनात्मक सकल्पता के प्रतीक थे उसी प्रकार मुक्तिबोध सघर्ष करते विवश, शकालु, अनिर्णीत तथा भयाक्रान्त मध्यवर्गीय व्यक्ति की सृजनात्मकता के वैचारिक प्रतीक थे। "मुक्तिबोध" के व्यक्तित्व का यदि मूर्त चित्रण किया जाए तो- "धूप जला वर्ण, प्रशस्त ललाट, सुतॉ चेहरा तथा लम्बी चौड़ी हड्डियों भरी हथेलियॉ

से वह सूबात या तहसील के करकून या किसी कस्बे के स्कूल मास्टर या ऐसी ही किसी अनाम साधारणता वाले व्यक्ति तो लगते थे परन्तु कवि तो नही ही।"[15] मराठी होने के बावजूद भी किसी ने उन्हे – "दुलधी मराठी धोती" पहने तो नही देखा पर पायजामे पर कमीज और काला हाफकोट पहने अवश्य देखा है।"[16] वे बहुत तेजी से बोलते थे मगर कुछ ऐसा वातावरण बन जाता था कि सरसता कायम रहती थी। "अत्यधिक बीडी पीने के कारण आवाज मे एक प्रकार का जलापन था।"[17]

अतिरिक्त जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण स्कूली शिक्षा कविवर के लिए विभिन्न क्षेत्रों के तथ्यों से सूचनात्मक रूप से अवगत होने का एक साधनमात्र था। पारम्परिक शिक्षा के अनुकूल वे स्वय को बनाकर खपा नही सके जिसका फलस्वरूप यह रहा कि वे स्नातक और मिडिल मे असफल रह गये। शिक्षा मे वे रूढियो के सर्वाधिक मुखर आलोचक रहे तथा पाठ्यक्रम मे सामाजिक और धार्मिक रूढियो का जस का तस वर्णन उनके लिए श्रेष्ठ नही रहा। जिसका परिणाम रहा, उनकी पाठ्यक्रम मे शामिल की गयी इतिहास की पुस्तक "भारत इतिहास और सस्कृत। इसमे अपनी वैयक्तिक दृष्टि को कवि ने एक नवीन आयाम दिया, जो विवाद का एक कारण रहा। यह विवाद इस तरह उस जमाने मे उछला कि पुस्तक पर ही राज्य प्रशासन की ओर से प्रतिबन्ध लगा दिया गया।।

घुक्कड़ी का चस्का जो किशोरावस्था मे लगा तो आजीवन चलता रहा। घुमक्कड़ी उनकी उन्मुक्त प्रकृति के सर्वथा अनुकूल थी। किन्तु उनका घूमना फिरना सर्वथा निरर्थक नही था। वे प्रकृति के हर अग का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते थे। प्रथमत. अपने मनस में उतार कर, फ्रिर उसका चित्रणि अपनी कविता मे करते थे। भ्रमण के दौरान मित्रों से सैद्धान्तिक और दार्शनिक बहसों मे उलझना उनकी एक आम दिनचर्या थी। इस सन्दर्भ में उनके मित्र शाताराम क्षीर सागर का यह संस्मरण – "हमारी बातचीत का कोई निश्चित एजेंडा तो नही था। गाधी जी की नीतियों की आलोचना तथा मार्क्सवाद की प्रशसा, साहित्य और समाज के विविध प्रश्नों को लेकर परिचित व्यक्तियों और उज्जैन की तत्कालीन घटनाओं तक उनकी चर्चाओं का विषय बन जाते थे।"[18] उल्लेखनीय है। कविताएं तो

वे बचपन से ही गाया करते थे किन्तु लिखने की सवेदनात्मक अनुभूति परिपक्व हुई सन् 35 मे जो घुर छायावादी युग था, अत आकस्मिक नही कि उन पर छायावादी सस्कारो का प्रभाव रहा हो। अपने शुरू के कवि जीवन मे मुक्तिबोध पूरी तरह रोमाटिक थे, छायावादी प्रभाव मे पूरी तरह पगे हुए– "बाल बढाए और दुशाला ओढे हुए।"[19] उस दौरान उनमे "कर्मपक्ष बहुत ही दुर्बल" तथा मार्क्सवाद, गरीबी, शोषण के प्रति उनकी सहानुभूति बौद्धिक थी। उनके मित्रो की जिन्दगी भी हवायी और वायवीय ही थी। छायावाद मे जिस मसृण सौन्दर्य की बात की जाती है उसको मुक्तिबोध ने तारसप्तक के वक्तव्य मे स्पष्टत ही स्वीकार किया है वे लिखते है कि – "मालवे के मनोहर विस्तीर्ण मैदानो मे से घूमती हुई क्षिप्रा की रक्त भव्य साझे और विविध रूप वृक्षो की छायाए मेरे किशोर मन की आद्य सौन्दर्य प्रेरणाए थी। उज्जैन नगर के बाहर का यह विस्तीर्ण नि सर्ग लोक उस व्यक्ति के लिए जिसकी मनोरचना मे रगीन आवेग ही प्राथमिक है अत्यन्त आत्मीय था।
मेरे बालमन की पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्व–मानव का सुख–दु ख। इन दोनो का सघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी।"[20] इसी प्रवृत्ति की माग और रूचि के अनुकूल मुक्तिबोध ने किशोरावस्था से लेकर जीवन के अन्तिम समय तक जासूसी उपन्यास "साइस फिक्सन्स" तथा पश्चिम के रोमाटिक कवियो को पढ़ते रहे। जिसका सम्पूर्ण प्रभाव उनकी कविताओं के रहस्यमयी वातावरण तथा उस सत्रास से उपजी करूणा मे देखा जा सकता है। उनके काव्य बिम्ब जो हिन्दी के लिए अनूठे हैं – का मूल उत्स उन्ही "साइस फिक्सन्स" मे ही खोजा जा सकता है।

प्रारम्भिक शिक्षा की समाप्ति पर मुक्तिबोध का व्यक्तिगत परिवेश और भी घनीभूत वेदना का पडाव रहा। पिताजी की सेवानिवृत्ति ने आर्थिक स्थितियो की ओर भी कवि को सचेत रहने की चुनौती दी। यौवन के उत्साह और नवीन युग दृष्टि के विकास ने स्वय की आवश्यकताओं की ओर भी आकर्षित किया और उनकी साहित्यिक रूचि तथा अप्रतिम विशिष्ट योग्यता ने बुद्धिजीवी मित्रों के साहचर्य को भी अपरिहार्य सा अनुभव किया।

साहित्यिक क्षेत्र में मुक्तिबोध को प्रारम्भिक प्रेरणा मिली – उज्जैन के माधव कालेज के शिक्षक प्रो0 रमाशंकर शुक्ल से जो उस समय छायावाद के

वेदनावादी धारा के प्रमुख कवि हुआ करते थे। "रमाशकर शुक्ल "हृदय" उनके अध्यापक तो थे ही कविता के क्षेत्र मे सलाहे देने और उत्साह बढाने का श्रेय भी उन्ही को दिया जाना चाहिए।"[21] अलावा इसके इदौर के वीरेन्द्र कुमार जैन जो कि स्वय भी "छायावादी" ही थे – मुक्तिबोध के सहपाठी और मित्र हुआ करते थे। तब तक मुक्तिबोध मे "जीवन दृष्टि" और "काव्य दृष्टि" दोनो ही भ्रूणावस्था मे ही थे। इदौर मे ही प्रभाकर माचवे जैसे मित्रो के सहयोग से ही काव्य दृष्टि मे बदलाव दृष्टिगोचर होता है। सौन्दर्य क्षेत्र के प्रति मुक्तिबोध की मानसिक चेतना कोरी कल्पना न रहकर एक सुदृढ दार्शनिक आधार की भी अपेक्षा रखती थी। परिणामत जीवन–जगत के बाह्य जगत के बाह्य–आभ्यतर द्वन्द्वो को सुझा कर उनका रचनाकार निरन्तर एक अनुभव सिद्ध जीवन दर्शन को आत्मसात् करने की छटपटाहट से गुजरता रहा।

छायावादी प्रवृत्तियो से कवि के मोह भग का एक कारण उन पर मुशी प्रेमचन्द का प्रभाव भी है जिसके फलस्वरूप छायावादी शैली को त्यागकर वे नए आन्दोलनों की ओर भी क्रमश प्रवृत्त होते जा रहे थे। वैचारिक दृष्टि से वे माचवे जी के अधिक नजदीक थे। कहना न होगा कि उनकी मित्रता का एक प्रमुख कारण वैचारिक समानता थी।

बचपन की कैशोर्य भावुकता, यौवन की दहलीज पर पहुँचकर प्रबल प्रेम में परिणत हो जाती है। यदि नरेश मेहता की इस बात से सहमत हुआ जाए कि– "प्रत्येक सत्ववान जिद्दी होता है। इस प्रकार के जिद्दीपन के प्रकार सम्भव हैं पर होता वह– जिद्दीपन ही है।"[22] तो, कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध का विवाह भी उसी उनकी भीतरी जिद का ही परिणाम थी। प्रेम के सम्बन्ध में वे जाति–पांति से ऊपर उठकर एकात समर्पण को ही महत्व देते थे। एक बार जब वे बहुत बीमार पड गये थे तब मनुबाई की लडकी शाता ने उनकी बहुत सेवा की थी वे उस सेवाभाव से इस तरह अभिभूत हुए कि उससे अलग रहने पर मिलने की चाह बराबर बनी रहती थी। प्रेम के सम्बन्ध मे उनका रुख पूरी तरह विद्रोही था। एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में अब्राह्मण कन्या को वधु स्वीकार करना

लोहे के चने चबाने जैसा ही है, और फिर माता–पिता के भी पुत्र के लिए कुछ स्वप्न होते है। किन्तु बिना इस सब की परवाह किये उन्होने अपने अन्तर्जातीय विवाह की घोषणा परिवार मे कर ही दी– "घर मे भयकर विरोध हुआ। अपने विरोध को जाहिर करने के लिए वह कुछ दिनो के लिए घर से भागे भी रहे।"[23] इस सन्दर्भ मे उनके बाल सखा "विलायती राम घेई" का सस्मरण महत्वपूर्ण है, वे कहते हे कि – "वे बताया करते थे कि किस कदर वह लडकी उन्हे प्यार करती है– दरवाजे पर नमक बिखेर कर अपने प्यार की अभिव्यक्ति चाहती है।" पिता जी को कवि की जिद के आगे झुकना पडा और – "मुक्तिबोध की शादी बहुत मामूली ढग से हुई थी। चूँकि दूसरा पक्ष उतना समर्थ नही था। एक मदिर मे सम्पूर्ण विधिया सम्पन्न करा ली गई थी।"[24] इस विवाह का अत तक विरोध उनकी बुआ भागोबाई ने किया और क्रोधवश उस उत्सव मे शामिल भी नही हुई, उनके लिए यह कैसे गवारा हो सकता था कि– "मेरी नौकरानी की लडकी से मेरा भतीजा शादी करे।" उनके विरोध का एक बडा कारण यह भी था कि– "उन दिनो शाता जी को अस्थमा की शिकायत थी।"[25] जैसे–तैसे करके विवाह निपटा, पर इससे परिवार मे एक कलह का वातावरण पैदा हुआ। किन्तु स्थिति को सामान्य बनाने के लिए जिस अतिरिक्त प्रयास की तब बहुत जरूरत थी उसका निर्वाह नही किया गया इसलिए एक पारिवारिक तनाव ने जन्म लिया जो निरन्तर बढता गया। इस पारिवारिक तनाव का अन्य चाहे जो भी कारण रहा हो, पर जैसा कि उनके अनुज का अभिमत है कि– "यहाँ एकदम कहा जा सकता है कि वास्तविक उत्तरदायित्व शाता भाभी को निभाना चाहिए था। लेकिन उनमे उतनी कुशलता नही थी। वे सोंच भी नहीं सकती थी कि मैं कहाँ से कहाँ आ गयी हूँ, मेरी इति कर्तव्यता क्या है।"[26] बाद के दिनों मे पति–पत्नी का सम्बन्ध भी तल्खी भरा ही रहा। शांता जी के अपने सपने थे और मुक्तिबोध की अपनी "आइडियोलाजी" सो इन दोनों का टकराव धीरे–धीरे प्रेम रस का दोहन करने लगा।

नौकरी मुक्तिबोध के लिए भटकाव का पर्याय बन गयी। एक शिक्षक की हैसियत से वे उज्जैन और शुजलपुर कई–कई बार स्थानान्तरित होते रहे "तहसीलदार की नौकरी" तो उन्हें आसानी से मिल सकती थी। मगर उस समय

मुक्तिबोध सरकारी नौकर होना गुलामी को स्वीकार करने के बराबर मानते थे। इसीलिए उन्होने इधर-उधर के स्कूलो मे मास्टरी करना ही ज्यादा मुनासिब समझा।"[27] सुजालपुर की अध्यापकी के दौरान उनका सम्पर्क "वर्ग साँ" के अध्येता व गाधीवादी विचारक डॉ0 नारायण विष्णु जोशी से हुआ जिसके परिणामस्वरूप "वर्ग साँ" की "क्रियमाण जीवन शक्ति (लाइफ फोर्स) तथा अति व्यक्तिवादी धारणा से अभिभूत हुए। इसी बीच कवि ने बहुत सारा यूरोपीय साहित्य पढ लिया था। बॉल्जाक, फ्लावेयर तथा मेक्सिम गोर्की उनके प्रिय लेखको मे से रहे। उनकी विराट अन्तर्दष्टि इसी समस्त अध्ययन का ही परिणाम थी। "पियरे, एदमोशा, दाहान प्रिश, मुदश्किन शेगोजिन, किरिलोन्त स्टीपान आदि का उल्लेख वे परिचित लोगो की भाँति किया करते थे।"[28] माचवे जी का सम्पर्क भी उनके लिए पुस्तक प्राप्ति का ही एक साधन था। "नए साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र" तथा "नयी कविता का आत्मसघर्ष" जैसी पुस्तके इस बात की गवाह है कि उनका पश्चिमी साहित्य के प्रति रूझान क्या और किस सीमा तक थी। वे फ्रायड, एडलर तथा युग जैसे मनोविश्लेषको से भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

शुजालपुर मे ही उनका सम्पर्क डॉ0 नेमिचन्द्र जैन से हुआ, जिनके साहित्य के परिणामस्वरूप उनकी मार्क्सवादी दृष्टि में विस्तार तथा एक नवीन काव्य-दृष्टि का प्रसार हुआ। जो व्यक्ति अपने समाज की शोणित-सभ्यता का प्रत्यक्षीकरण कर रहा हो तथा स्वय भी उसी गलीज यातनामयी, असमान सघर्ष में पिस रहा हो, उसका मार्क्सवाद से प्रभावित होना एक नयी घटना नही कही जा सकती। इसी तथ्य को मुक्तिबोध ने "तारसप्तक के वक्तव्य" मे स्वीकार भी किया है - "यहाँ (शुजालपुर) लगभग एक साल मे पाँच साल पुराना जड़त्व निकालने की सफल-असफल कोशिश की .... क्रमश मेरा झुकाव मार्क्स-वाद की ओर हुआ, अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।"[29] शिल्प के तत्वगत स्वरूप के प्रति सजग रहते हुए उन्होंने अपनी काव्य-वस्तु को बदला। छायावादी बिम्बों तथा प्रतीकों को एक हद तक वे मान्यता भी देते हैं किन्तु उसके (छायावादी) कथ्य को पूरी तरह नकार देते हैं।

मार्क्सवाद की सामाजिक विचारधारा के अध्ययन ने मुक्तिबोध के मानसिक तनाव, जिज्ञासा और उलझनो को एक सही दिशा की ओर अग्रसर किया। सामाजिक, राजनीतिक और जीवन जगत की दार्शनिक समस्याओ का मानो उन्हे साक्षात् व्यावहारिक समाधान प्राप्त हो गया। "कॉडवेल" के मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र से प्रभावित होकर उसे अपने साहित्यिक चिन्तन का आधार बनाया। सुजालपुर के महत्वपूर्ण दौर के पश्चात् मुक्तिबोध को कई अन्य सघर्षों मे पिसना पडा। उज्जैन, बगलौर (वायु सेना मे भर्ती के लिए) बनारस, (हस के सम्पादक मण्डल मे) जबलपुर, नागपुर (सूचना प्रसारण विभाग तथा आकाशवाणी) एव अतत राजनॉद गांव – आर्थिक स्थितियो को सुधारने के लिए उनके द्वारा किये गए अथक सघर्षपूर्ण परिश्रम के पडाव हैं। मुक्तिबोध के लिए मार्क्सवाद अभिप्रेत रहा हो, तो भी उनके सर्जक व्यक्तित्व के लिए उनके शुक्रवारी मुहल्ले के राम–मन्दिर के चातुर्मास के दिनो की भागवत जी या पारपरिक मराठी कथाकारियो की कथा–वाचन भी अभिप्रेत था। "यदि विभिन्न स्रोतों की सृजनात्मक टकराहट उनमे न होती तो निश्चित ही वह सपाट बयानी वाले राजनीतिक कवि होते और चूँकि सपाटबयानी उनमे नहीं है इसलिए जीवनभर वे कम्यूनिस्टों द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत होते रहे।"[30] यही वजह है कि जीवन के उत्तरार्द्ध मे वे पार्टी के सदस्य नही रहे। वस्तुत देखा जाए तो मुक्तिबोध पार्टी सेल की मीटिंगों में बैठे हुए शातिर मार्क्सवादी नही थे, बल्कि मार्क्स से प्रेरणा प्राप्त समाज की तंग–अधेरी गलियों में भटकते हुए भयग्रस्त सर्जक थे जो जानते थे कि मनुष्य के नंगे सीने और व्यवस्था की गोली के बीच कोई भी दर्शन कवच नहीं हुआ करता। जीवन के अन्तिम दिनों में गाँधी को लेकर उनमे जो परिवर्तन आया था वह इसीलिए आया था कि वह उत्तरोत्तर काव्यात्मकता की ओर बढ़ रहे थे। इसलिए भी वे सघर्ष से करूणा की ओर भय से निर्भयता की ओर बढने लगे थे। इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि गाधी की ओर बढना मार्क्स से विमुख होना है।

इतने लम्बे जीवन संघर्ष मे कवि की आस्था या साहस मे कोई कमी नही आयी जिसका जिक्र वे अपने मित्र वीरेन्द्र जैन से एक पत्र में करते हैं – "जिंदगी बहुत तल्ख है लेकिन इस तल्खी के बीच मिठास के अपने अमर क्षण भी हैं।"[31]

व्यक्तिगत सघर्षों के समानान्तर वे लेखन मे भी निरन्तर प्रवृत्त रहे। मार्क्सवाद उन पर वैचारिक रूप से छा गया था और वे मूलत कवि की सवेदनशीलता और भावुक मन लेकर "मानव मात्र के कल्याण के आदर्श के लिए उन्मुख थे।" इसीलिए समसामयिकता की कसौटी पर जन सामान्य के समक्ष और अपने को ईमानदार और प्रतिबद्ध लेखक सिद्ध करने के लिए उनके पास एक ही जरिया था – "पत्रकारिता।" इसलिए वे जीवन के व्यावहारिक पैंतरेबाजी से बचकर तथा स्वय को आर्थिक सुविधात्मक आकर्षणो के प्रति निर्मम बनाकर अपना अतिरिक्त समय सामाजिक सेवा तथा सामाजिक चेतना जाग्रत करने मे देते रहे। सन् 43 मे "विश्व बन्धु" (कलकत्ता) सन् 56 मे नागपुर से "नया खून" और "सारथी" का सम्पादन किया। अलावा इसके "न्यू एज" जैसे पत्र के गोपनीय वितरण का गुरूतर भार भी स्वीकार किया। 1945 मे "हस" (बनारस) "समता", "जयहिन्द" (जबलपुर) के सपादन मे भी अपना अहम् योगदान दिया। वे "नया खून" साप्ताहिक मे निरन्तर छद्म नामो से वैचारिक टिप्पणिया लिखते थे। इसीलिए दो चार भी यदि कोई अपरिचित उन्हे अपनी गली या आफिस या "नया खून" के दफ्तर मे मिल जाता तो वह व्यक्ति उनके लिए निश्चित ही सी0आई0डी0 का आदमी हो जाया करता था। इसी सन्दर्भ में नरेश मेहता का संस्मरण – "पार्टनर! आप नही जानते, "नया खून" में पिछले दिनों मैंने उस मत्री की जो पोल पट्टी खोली थी न, यह उसका ही आदमी है। उसके बगले के बाहर मैने उसे देखा है। यह जरूर सी0आई0डी0 का आदमी है। आज भी जरा सावधान रहना।"[32] जाहिर सा है कि उनकी टिप्पणिया कुछ प्रतिक्रियात्मक या समाज के साधारण जन की अभिव्यक्ति हुआ करती थीं। यही प्रतिक्रिया ही उन्हें युग सम्पृक्त रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं, एवं उनके अन्तर–बाह्य व्यक्तित्व के एक रस सामंजस्य का सशक्त प्रभाव प्रस्तुत करती हैं।

मुक्तिबोध के रचनात्मक व्यक्तित्व का एक अन्य पक्ष है – मानवता का व्यावहारिक पक्षधर होना। "एज ए ह्यूमेन बीइंग उनमें अनेक बातों के बावजूद ग्रेटनेस के लक्षण थे।"[33] उनकी उदारता, सरलता तथा आत्मीय सहजता के कारण उनके मित्र उन्हें – "फक्कड़ और यार बॉस"[34] की संज्ञा भी देते हैं। अपनी सारी

साहसिक जीवटता और कर्मठता के बावजूद उनकी मौलिक कमजोरी थी – "विपन्न स्थितियों से मुक्ति के लिए जूझने के बजाय उनके उत्पीडन के शिकार हो जाना, उन्हे सहने की विवशता के अधीन हो जाना।"[35] इस प्रकार उनमे दुर्बलताओ की सामना करने की शक्ति का अभाव था, जिसके परिणामत एकाकीपन की मनहूस त्रासद विसगति ने उन्हे जीवन भर दबोचे रखा। मानव जीवन की बेहतरी के लिए किए गये क्रान्तिकारी विचारात्मक प्रयत्नो के साथ-साथ वे सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से एक निर्वासित जिन्दगी जीने को मजबूर थे। इस प्रकार "एक ओर यह जीवन की अनेक सतहो पर प्रतीत होने वाली भयानक विसगति और परिणामत घनघोर अकेलेपन और दूसरी ओर मानवी जीवन के परिवर्तन के प्रति असीम आस्था, उत्पीडन मानव के भविष्य के प्रति निष्ठा, उपेक्षितो के प्रति गहरा लगाव– उनके एकरस व्यक्तित्व के दो पहलू थे।

मुक्तिबोध उक्त दोनो पक्षो का भोगा हुआ यथार्थ था। "प्रगतिवाद" (मार्क्सवादी दर्शन) एव "नयी कविता" (अस्तित्ववादी सकट) का ऐसा सम्मिलित और समस्त पक्षो मे ईमानदार रचनाकार हिन्दी साहित्य मे अनूठा ही रहा, जो सारे साहित्यिक गुट बन्दियों और खेमे बाजियो के खिलाफ चुनौती स्वरूप उपस्थित हुआ?

"मुक्तिबोध मर गये" – यह कोई आश्चर्य नही, बल्कि वह इतने दिनों जीवित कैसे रह गये, यह आश्चर्य का विषय है। यदि महाराष्ट्र की चट्टानी तथा प्रखर भूमि और परम्परा से वह न निर्मित होते तो उन्हे वर्षों पूर्व ही टूट जाना चाहिए था। शायद यह सही है कि प्रकृति जिसकी– जितनी परीक्षक होती है, उसे वैसा ही स्वत्व और आयुधों से लैस करके ही भेजती है। इन सारे निराशा -जनक परिवेश में अच्छाई केवल इतनी ही रही कि कमोवेश रूप में उन्हें जहाँ सम्पन्न विरोधी मिले वहाँ उतने ही प्रशसक और भक्त भी मिलते रहे। अस्तु।

****

सन्दर्भ सूची

1 "लक्षित मुक्तिबोध" स0 मोतीराम वर्मा, निवेदित साक्षात्कार – चन्द्रकान्त माधव मुक्तिबोध, पृ0–97

2 वही, शरच्चन्द्र माधव मुक्तिबोध, पृ0 – 74

3 वही, " पृ0 – 82

4 वही, " पृ0 – 82

5 वही, नि0साक्षा0 चन्द्रकान्त मुक्तिबोध, पृ0 – 96

6 वही, " पृ0–96

7 वही, नि0 साक्षा0 शाताराम क्षीरसागर, पृ0– 105

8 वही, नि0 साक्षा0 शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, पृ0 – 82

9 वही, " चन्द्रकान्त " पृ0–96

10 "मुक्तिबोध, एक अवधूत कविता" – नरेश मेहता, पृ0 – 20

11 लक्षित मुक्तिबोध, स0 मोतीराम वर्मा, पृ0 – 93

12 वही, " पृ0–97

13 वही, " पृ0–97

14 "धर्मयुग" 20 मई 1973 वीरेन्द्र कुमार जैन

15 मुक्तिबोध, एक अवधूत कविता, पृ0–20

16. वही, " पृ0–20

17. वही, " "

18. "लक्षित मुक्तिबोध" स0 मोतीराम वर्मा, नि0 साक्षा0 शांताराम क्षीर सागर, पृ0 – 106

19. वही, नि0 साक्षा0 शरच्चन्द्र मु0, पृ0– 83

20 वही, " पृ0 – 83

21 "तारसप्तक" वक्तव्य, "मुक्तिबोध", पृ0 – 42

22 लक्षित मुक्तिबोध – सं0 मोतीराम वर्मा, पृ0 – 107

23 मुक्तिबोध, एक अवधूत कविता – नरेश मेहता, पृ0 – 10

24 लक्षित मुक्तिबोध, स0 मोतीराम वर्मा, पृ0 - 93

25 वही, " पृ0 - 114

26 वही, " पृ0 - 109

27 वही, " पृ0 - 99

28 वही, " पृ0 - 109

29 "गजानन माधव मुक्तिबोध" स0 लक्ष्मणदत्त गौतम, पृ0 - 11

30 "तारसप्तक" वक्तव्य - मुक्तिबोध, पृ0 - 42

31 मुक्तिबोध, एक अवधूत कविता - श्री नरेश मेहता, पृ0 - 50

32 राष्ट्रवाणी मुक्तिबोध विशेषाक- 1965, पृ0 - 280

33 मुक्तिबोध, एक अवधूत कविता - नरेश मेहता, पृ0 - 56

34 लक्षित मुक्तिबोध, स0 मोतीराम वर्मा, पृ0 - 79

35 वही, " नि0साक्षा0 - शेक्ष मुईनुद्दीन साहब, पृ0 - 119

36 वही, " " "

द्वितीय अध्याय

मुक्तिबोध का परिवेश

मुक्तिबोध का परिवेश

राजनीतिक परिस्थिति

जब भी भारत को चेतना मे लाया जाता है तो उसके दो पक्ष अनिवार्य रूप से सामने आते हैं। प्रथमत "समृद्ध भारत" जिसको कभी "सोने की चिडिया" कहा जाता था, दूसरा वह भारत, जिसकी दरिद्रता नियति बन चुकी है। अपने अतिरिक्त जनभार को सर्वथा अक्षमता से वहन करते हुए अभावो और बेकारी की समस्या से सराबोर।

भारत के बीते हुए गौरव को याद करते हुए- "आधुनिक भारत के शायद प्रथम राष्ट्रवादी कवि"[1] डेरेजियो ने सन् 1827 मे लिखा - "आधुनिक

My Country! in the days of glory past A beauteous halo circled round the brow, and worshipped as a diety thou wast, where is that glory, where that reverence now? The eagle pinion is changed down at last, and gravelling in the lowly dust art thou, Thy minstrel hath to wreth to wave for thee, save the sad story of the misery!"

जिसका गद्यानुवाद नीचे दिया जा रहा है - मेरे देश। बीती हुई गरिमा के दिनो में तुम्हारे ललाट के चारों ओर एक सुन्दर प्रभा मण्डल व्याप्त था और पूजा एक देवता के समान होती थी। वह गरिमा कहाँ है? अब वह श्रद्धा कहाँ है? आखिरकार गरूड़ के समान तुम्हारे पंखों को जंजीर में जकड दिया गया है और तुम नीचे धूल में औंधे पड़े हो। तुम्हारे चारण को तुम्हारी विपन्नता की दु खद कहानी के सिवाय गूंथने को कोई माला नहीं है।"

स्पष्टत. हमारी इस दारूण दशा के लिए उत्तरदायी है हमारी वह 200 वर्षों की गुलामी जिसमें हमारा सम्पूर्ण समृद्धि-रस सोख कर टेम्स के किनारे निचोड़ दिया गया। एक ओर साम्राज्यवादी पूँजीपति अंग्रेजो ने अपनी श्रीवृद्धि की और दूसरी आरे हमको सदा के लिए विपन्नता की धधकती भट्ठी में सिकने के लिए छोड़ दिया।

मुक्तिबोध के सृजनकाल को स्वतन्त्रता पूर्व के 15 वर्षों तथा स्वातन्त्र्य प्राप्ति के बाद 17 वर्षों के बीच माना जा सकता है। अर्थात् सन् 1932 से लेकर सन् 64 (मृत्युपर्यन्त) के बीच देश ने जो भी राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक करवट बदली उसका चस्मदीद गवाह मुक्तिबोध का कवि, चिन्तक और विचारक व्यक्ति रहा। इन्ही परिस्थितियो के बीच से उन्होने जीवन दृष्टि निर्धारित की अत इनका अपना ऐतिहासिक महत्व है। यह युग वस्तुत शोषण के विरूद्ध जनता की सचित शिकायतो का प्रतिफलन था, जिसका अभिव्यक्तिकरण गोलियो तथा बमो के धमाको से हुआ। जिसका उद्देश्य – "बहरे को सुनाना"[3] था। उक्त राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को समझने के लिए उसके पूर्ववर्ती अहिंसात्मक आन्दोलन को और उसके चरित्र को ध्यान मे रखना आवश्यक है। गाँधीवादी तौर–तरीकों जिसमे कि – "वह (सत्याग्राही) अन्यायी के खिलाफ सघर्ष के क्रम मे यातनाए सहने के लिए तैयार रहे। उसका सघर्ष उसके सत्य प्रेम का ही एक भाग हो। मगर बुराई के खिलाफ लड़ते हुए भी वह बुरा करने वाले को प्रेम करे।"[4] शामिल है। उनके "पाप से घृणा" और पापी से प्रेम वाले सिद्धान्तो ने देश में बराबर विवाद की स्थिति को जन्म दिया। इसके समानान्तर देश मे एक वर्ग ऐसा भी उपजा जो राजनीति मे भीख मागने वाली और अन्यायी के प्रति भी अहिंसा की नीति का सख्त विरोधी था। यह वर्ग अन्यायी के प्रति क्रोध को उसके प्रति दिखाई गयी दया से श्रेयस्कर मानता था। साहित्य में भी इस सिद्धान्त का जमकर विरोध किया गया और आचार्य शुक्ल जैसे मनस्वियो ने अन्यायी रावण के खिलाफ राम के "कालाग्नि सदृश क्रोध" को उचित ठहराया। महाप्राण निराला ने भी – "आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर।" जैसी कविता की लाइनें रचकर तात्कालीन अनिर्णय (राजनैतिक) की स्थिति पर काव्यात्मक विजय प्राप्त की।

सन् 1932 से लेकर सन् 1942 तक देश में जो भी राजनीतिक सफलताएं और असफलताए रही उस पर नि सन्देह अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव भी रहा। सन् 1917 में रूस की सफल लाल क्रान्ति ने मार्क्सवादी विचारों को देश में प्रत्यारोपित किया। सन् 24 में मानवेन्द्र नाथ राय तथा श्रीपाद अमृत डागे को देश में "कम्युनिज्म"

का प्रचार करने के आरोप मे गिरफ्तार किया गया। सन् 25 मे "कम्युनिस्ट पार्टी" का गठन तथा विभिन्न कृषक मजदूर पार्टियो का गठन मार्क्सवादी विचारधारा को देश मे स्स्थापित करने का एक सबल माध्यम साबित हुई। गुजरात मे वल्लभ भाई पटेल जैसे "लौह पुरूष" के नेतृत्व मे कृषको ने लगान-बन्दी आन्दोलन को सफल बनाया। मजदूर-आन्दोलनो मे सबसे महत्वपूर्ण हडताल बम्बई की कपडा मिलो मे हुई - "लगभग 1,50,000 मजदूर पाच महीने से भी अधिक तक हडताल पर रहे। इस हडताल का नेतृत्व कम्युनिस्टो ने किया।"[5]

आतकवादी आन्दोलन मे इस जमाने मे एक गुणात्मक परिवर्तन यह हुआ कि वह समाजवादी मोड लेता गया। सन् 24 मे स्स्थापित "हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन" सन् 28 में "आजाद" के नेतृत्व मे "हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन" मे रूपान्तरित हो गया। इसमे शामिल युवाओ ने व्यापक मानवता के हित मे कार्य किया तथा घोषणा की कि - "हमारा उद्देश्य एक ऐसी क्रान्ति के लिए काम करना है जो मानव द्वारा मानव के शोषण को समाप्त कर देगी।"[6]

उस जमाने मे भी भगत सिह जैसे क्रान्तिकारी विचारकों को यह अनुमान था कि स्वतन्त्रता की जिस व्यापक लडाई को वे लड रहे हैं, वह "वास्तविक स्वतन्त्रता" क्या भारत को नसीब होगी। यही वजह थी कि उन्होंने समाजवाद में अपनी आस्था जताई। वे किसानों, मजदूरों तथा आम जनता को न केवल विदेशी दासता से ही मुक्त कराना चाहते थे बल्कि भूस्वामियो तथा पुजीपतियों की तानाशाही रवैयि से मुक्ति भी उनका एक लक्ष्य था। उन्होंने 3 मार्च 1931 के अपने आखिरी सदेश में यह घोषणा की कि भारत मे सघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक - "मुट्ठीभर शोषक आम जनता के श्रम का शोषण अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करते रहेंगे। इस बात का कोई महत्व नही है कि वे शोषक विशुद्ध रूप से ब्रिटिश पूँजीपति हैं, या गठबंधन किए हुए अंग्रेज और भारतीय, या विशुद्ध भारतीय।"[7] स्पष्टत उनके विचार में शोषक केवल शोषक होता है, उसकी राष्ट्रीयता और अराष्ट्रीयता का प्रश्न एक फरेब है।

सन् 38–39 मे लगातार सुभाषचन्द्र बोस का कांग्रेस अध्यक्ष चुना जाना कांग्रेस के अन्दर ही गाधीवाद और गाधी जी की स्पष्टत पराजय थी। अलावा इसके गाधी जी के पटु शिष्य जवाहर लाल नेहरू का भी झुकाव समाजवाद की ओर होना उसकी उपादेयता का स्पष्ट दस्तावेज है। उन्होने एक बार कांग्रेस के अध्यक्ष पद से "अपने को सबसे बडा समाजवादी" घोषित किया था। जवाहर लाल नेहरू के अनुसार समाजवाद – "वर्तमान पूजीवाद व्यवस्था से आमूल रूप से भिन्न एक नई सभ्यता" है।[8]

सन् 39 मे द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उपजती हुई फासिस्ट ताकतो का भी भारत मे जबर्दस्त विरोध हुआ। तथा समाजवाद के साथ अपनी सहानुभूति दर्शाने के लिए– "सन् 38 मे चीनी फौजो के साथ काम करने के लिए डॉ0 अटल के नेतृत्व मे एक मेडिकल मिशन भेजा।"[9] लगभग इसी समय जिन्ना के नेतृत्व मे मुस्लिम लीग ने देश मे यह हो–हल्ला मचाया कि मुस्लिम अल्पमत को बहुमत हिन्दू सरकार से खतरा पैदा हो गया है। उसने यह भी प्रचार किया कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक राष्ट्र है और इसलिए वे कभी भी एक नही रह सकते। इसको क्रिया परिणति देने के लिए सन् 40 मे पृथक "पाकिस्तान" की माग की गयी। इस माग को तब और भी मुखरता प्राप्त हुई, जब हिन्दू कट्टरवादी पार्टी "हिन्दू महासभा" ने इसके लिए विपरीत राग गलापना शुरू किया। उन्होने मुस्लिम सम्प्रदायवादियो की हाँ मे हाँ मिलाते हुए यह घोषणा की कि हिन्दू एक अलग राष्ट्र है और भारत हिन्दुओं की भूमि है। जवाहर लाल नेहरू के अनुसार– "एक साम्प्रदायिकता दूसरी साम्प्रदायिकता को खत्म नही करती, वे एक दूसरे का पोषण करते हैं तथा दोनो मोटे तगडे होते जाते हैं।"[10] इसी सम्प्रदायवाद का अन्तत. परिणाम हुआ भारत का विभाजन और विश्व मानचित्र पर "पाक" का प्रादुर्भाव।

अंग्रेजो की भीषण शोषक और क्रूर नीतियों के कारण सन् 43 का बगाल का अकाल तत्कालीन सम्पूर्ण भयावहता को पार कर गया और – "कुछ ही महीनों में तीस लाख से अधिक लोग भूख से मर गये। उस समय इनकी

साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए "हस" ने "अकाल" निकाला, सभवत उस समय "हस" के सम्पादक मण्डल मे – "मुक्तिबोध जी भी थे। देश विभाजनोपरान्त भीषण मार–काट, कश्मीर पर पाकिस्तान का आक्रमण 48 मे "राष्ट्रपिता" की हत्या हैदराबाद रियासत का भारतीय सघ मे शामिल किया जाना इस काल की कुछ विशेष घटनाए कही जा सकती हैं। 1950 मे भारत द्वारा विश्व राजनीति मे "सार्वभौम गणतन्त्र की घोषणा" तथा 52 मे प्रथम आम चुनाव ने भी देश की जनता को कई तरीके से प्रभावित किया ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद "एन्टीफासिज्म" विघटित हो गया और फिर आया "शीत युद्ध" (कोल्ड वार) का मौसम) बुनियादी सवालो जैसे – व्यवस्था और मानव का अन्तस्सम्बन्ध, जनतत्र के भविष्य का प्रश्न, आण्विक शस्त्रो की उपस्थिति मात्र से सम्पूर्ण विश्व के क्षय होने का आतक, जैसे प्रश्न चेतना के केन्द्र बिन्दु पर फन काढे खडे थे। मुक्तिबोध का इशारा उनकी कविता मे इस तरह हुआ –

> "प्रश्न थे गम्भीर शायद खतरनाक भी
> इसीलिए बाहर के गुजान जंगलो
> से आती हुई हवा ने
> फूक मार एकाएक मशाल ही बुझा दी–
> कि मुझको यो अंधेरे में पकड कर
> मौत की सजा दी।"12

"मुक्तिबोध ने विश्व राजनीति के दोनों ध्रुवों (साम्राज्यवादी और समाजवादी) को देखा था तथा विश्लेषण किया था। भारतीय परिवेश में उन्होंने एक ओर नेहरू व्यक्तित्व से जनित नवनिर्माण मूलक भावनाओं और सुखद भविष्य के स्वप्न के जनता मे परिपोषित होते देखा तो दूसरी ओर चीनी आक्रमण द्वारा उन्हीं स्वप्नों को ढहते हुए भी देखा। भारतीय जनमानस अब उज्जवल भविष्य की अपेक्षाओं से पूर्णत निराश हो चुका था। स्वतन्त्रता पूर्व का उत्साह तीन आम चुनावों के परिणामों व क्रियाकलापों तक ठडा पड गया था। भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे स्वार्थी पदलोलुप प्रवृत्तियों ने राजनीतिक रूप से देश को विकृत बना दिया। पूँजीवादी शासनतंत्र

ने स्वतन्त्रता सघर्षों के मूल्यो से अधिक महत्व जमाखोरी की प्रवृत्ति को दिया। देश के विभिन्न वर्गों के बीच आर्थिक भेद विकराल रूप ले चुके थे ओर पूँजी की केन्द्रीकरण वृत्ति उनको किसी भी तरह मिटाने के पक्ष मे नही थी। शोषक और शोषित का वर्ग स्थितियो, बुद्धिजीवी वर्ग को पूरी तरह विकसित कर चुकी थी। भारतीय जनमानस से श्रद्धा और निष्ठा जैसे मूल्य सदा के लिए लुप्त होने लगे। सन् 1964 मे पण्डित नेहरू तथा मुक्तिबोध जैसे नेता और प्रतिबद्ध विचारक की मौत ने देश को तथा साहित्य को एक करारा झटका दिया।

कहना न होगा कि सन् 32 से लेकर सन् 64 तक की सम्पूर्ण राजनीतिक क्रियकलापो, घात–प्रतिघातो तथा पाखण्डो का जो खुलासा उनकी कविता "अधेरे में" मिलता है वह अप्रतिम और दुर्लभ है –

"ओ मेरे आदर्शवादी मन
और सिद्धान्तवादी मन,
अब तक क्या किया?
जीवन क्या जिया!!
xx xx xx
xx xx xx
बहुत–बहुत ज्यादा किया,
दिया बहुत–बहुत कम,
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम!!
लोकहित–पिता को घर से निकाल दिया,
जन–मन करूणा–सी माँ को हकाल दिया
स्वार्थों के टैरियर कुत्तों को पाल लिया,
भावना के कर्त्तव्य . त्याग दिये,
हृदय के मन्तव्य .... मार डाले!
xx xx xx xx
xx xx xx xx
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल मे
आदर्श खा गये।"[13]

******

परिस्थितियाँ   सामाजिक एवं आर्थिक

मुक्तिबोध ने स्वय कहा है कि – सच है लेखक महापुरूष बनकर पैदा नही होते, वह आदर्शवादी अध्यात्मवादी और साम्यवादी बनकर नही जनमता। वह अपने सामाजिक वातावरण मे सास लेकर अपने परिवेश से प्रतिक्रिया करता है। उसे अपने परिवेश के भीतर जो कटु अनुभव प्राप्त होते हैं, उन कटु अनुभवो की बारम्बारता उसमे सघन निबिड कटुत्व का भाव उत्पन्न करती है – और यह भाव स्थायी भाव भी बन सकता है।"[14]

अत इस आलोक मे किसी भी सर्जक कलाकार के परिवेश को जानना न केवल जरूरी है बल्कि अपरिहार्य भी है। यह वह काल था जब अंग्रेजों की दुर्धर्ष शक्ति के आगे सारा भारतीय जनमानस बौना पड गया था, जिसमे– पूरे देश को एक कारागार कहा जाता था।"[15] इस काल के विजेताओ ने भारत मे प्रमुख रूप से दो कार्य किए –

1. साम्राज्यवाद
2 शोषण

इन द्वय नीतियो के सचित प्रभाव से भारत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना लाजिमी था। केवल वह वर्ग ही शेष था जो अपनी जीविका के लिए कम्पनी के ऊपर निर्भर था। जैसा कि लखनऊ घोषणा मे कहा गया था कि अंग्रेजो के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रिय चार प्रमुख तत्वो– धर्म, मान, जीवन तथा सम्पत्ति सभी को भय उत्पन्न हो गया था।"[16] धार्मिक दृष्टिकोण से सभी विजेता जातियों की भाँति अंग्रेज शासक भारतीयों के प्रति बहुत रूखे और प्रगल्भ थे। अलावा इसके वे जातिगत भेद भावना से भी प्रेरित थे। वे भारतीयों को हेय दृष्टि से देखते थे और हिन्दुओं को बर्बर तथा मुसलमानों को कट्टरपंथी, निर्दयी और बेईमान समझते थे। इनकी नजरों में हम– "मनुष्यों की एक अत्यन्त पतित और निकृष्ट नस्ल हैं जिसमें नैतिक जिम्मेदारी की नाममात्र की भावना रह गयी है और जो अपने दुर्गुणों के कारण विपन्नता मे धंसी हुई है।"[17]

यूरोपीय अधिकारी वर्ग भारतीयों के प्रति बहुत ही कठोर और

निर्दयी था। वे भारतीयो को "काले" (नाइजर) अथवा "सुअर" की सज्ञा देते थे। शिकार पर जाते वक्त ए पदाधिकारी "भारतीय अस्मिता" से बलात्कार करते थे। यूरोपीय जूरियाँ जो इन मामलो की सुनवाई करती थी। बहुधा टालने वाली मुद्रा मे उनको (सम्बन्धित अभियुक्त) या तो बरी कर देती थी अथवा कम से कम दण्ड का प्राविधान किया जाता था। असल मे उनका कुल उद्देश्य- "भारतीय राष्ट्र को हर सभव तौर पर अपने हितो और फायदो के लिए गुलाम बनाना था। भारतवासियो को हर सम्मान प्रतिष्ठा या ओहदे से वचित रखा गया, जिन्हे स्वीकार करने के लिए छोटे से छोटे अग्रेजो की भी चिरौरी की जा सकती है।"[18]

कई बार शारीरिक और राजनीतिक अन्याय सहन करना सम्भव होता है जबकि धर्म पर प्रहार एक धर्मवान व्यक्ति या देश के लिए सर्वथा असह्य और क्रूरता की कसौटी बन जाती है। वैसे भी इस सम्बन्ध मे अग्रेजो का दृष्टिकोण- "ईसाई धर्म की पताका भारत के इस छोर से दूसरे छोर"[19] तक फहराने मे तथा भारत में उनके- "अधिकार का अन्तिम उद्देश्य देश को ईसाई बनाने"[20] वाला ही था। हमारे ही सामने धर्म के महत्वपूर्ण स्तम्भो "राम" और "मुहम्मद" को सरेआम गाली दी जाती थी, और "सत्य-धर्म" के प्रति आस्था जताने को विवश किया जाता रहा।

दुनिया मे पहली बार, जो इंग्लैण्ड मे पूजीवाद औद्योगिक क्रान्ति हुई, वह भारत की भयानक लूट और व्यापक शोषण से इकट्ठी की गयी- पूजी के बिना बिल्कुल असम्भव थी। भारत का खून चूसकर ही अग्रेजो के पंजों मे इस कदर ताकत आयी कि उन्होंने दुनिया के एक बहुत बडे भूभाग के पजे को मरोड़ दिया। यहाँ नि सन्देह कहा जा सकता है कि - "ब्रिटेन मे खड़े हुए कारखानो, मिलों और खदानो को भारत ने अपना खून ही नही मांस और मज्जा भी दी है।"[21]

ब्रिटानी पूजीवाद ने सर्वप्रथम हमारी ग्रामीण सामुदायिक, पचायती अर्थव्यवस्था पर हमला बोला। जिसके परिणामस्वरूप उसमे तमाम चटखनें उभर आयीं। कारीगरों को इस कदर बर्बाद किया गया कि - बुनकरों की हड्डियाँ भारत के मैदानों को

विरजित"[22] करने लगी। चूँकि भारत मे अंग्रेजो से पहले भू-स्वामित्व वैयक्तिक न होकर पचायती था। अत ब्रिटानी आकाओ ने अपना रोब गालिब करने के लिए न केवल परम्परागत ढाचे को तोडा बल्कि उसका जो विकल्प प्रस्तुत किया उसमे निजी भू-स्वामित्व वाले ब्रितानी सामतवाद की गध थी। भारत मे ब्रिटेन से औद्योगिकीकरण की जो पहली खेप आयी वह थी – रेलवे, जिसने भारतीय ग्रामीण उद्योगो के क्षय मे न केवल वृद्धि की वरन् अमेरिकी विद्वान डी0एच0 बुकानन के शब्दो मे – "अलग-थलग रहने वाले स्वावलम्बी गाँव के कवच को इस्पात के रेल ने बेंध दिया तथा उसकी प्राण शक्ति को क्षीण कर दिया।"[23] यहाँ एकदम कहा जा सकता है कि ब्रिटिश भू और भू-राजस्व नीतियो और कानून तथा उसकी प्रणालियो, ने बडी सख्या मे भारतीय किसानों को अपनी ही जमीन से ने केवल बेदखल किया, अपितु उनकी जमीनो का मालिकाना हक एक ऐसे गैर कृषक वर्ग-महाजन एव पूँजीपतियो मे बाँट दिया जिन्हें कृषि-कार्य का क,ख,ग भी नही मालुम था।

भारतीय समाजार्थिक व्यवस्था मे महाजनी-सभ्यता का उदय एक महत्वपूर्ण दुर्घटना है। बहुधा राजस्व भुगतान करने मे असमर्थता के कारण किसानों को महाजनों से ऊँची ब्याज दरों पर कर्ज लेना पड़ा। किन्तु महाजन तो इस शोषण-तंत्र का एक ऐसा अवश्यंभावी दाँता था जिसमे फसने के बाद निकलना लगभग मुश्किल ही था। गलत हिसाब-किताब, जाली दस्तावेजों और कर्जदारों पर कर्ज की वास्तविक रकमों से अधिक पर दस्तखत करने के लिए मजबूर करने जैसी धूर्ततापूर्ण कार्यवाहियों द्वारा किसानों को तब तक कर्ज मे फांसा जाता था जब तक कि वह अपनी जमीन से बेदखल न हो जाए। इस प्रक्रिया में केवल निम्न वर्ग ही प्रभावित हुआ ऐसा नही है बिल्क वह जमीदार, वर्ग भी डूब कर – "महाजन के बटाईदार बन गये।"[24]

ब्रितानी आर्थिक शोषण, देशी उद्योगों का ह्रास, उनकी जगह लेने में आधुनिक उद्योगों की विफलता, करों की ऊँची दरें भारत से धन की निकासी कृषि का पिछड़ा हुआ ढाँचा, गरीब किसानों का- जमीदारों, भू-स्वामियों, व्यापारियों,

महाजनो, राज्य तथा राजाओ द्वारा अनवरत शोषण– इन सबने सामूहिक रूप से भारतीय जनता को दरिद्रता के पक मे सान दिया। इसमे जो रहा–सहा कसर था उसको प्राकृतिक विपत्तियो ने पूरा किया। 19वी और 20वी सदी मे लगभग सारे देश मे पड़ने वाले भीषण अकालो की एक पूरी शृखला ने देश की लगभग एक तिहाई जनसख्या को निगल लिया। कहने का साराश यह है कि विवेच्य काल मे भारतीय दरिद्रता और भुखमरी की जडे बहुत गहरी चली गयी थी।

समाज का दमन बाह्य शक्तियो द्वारा हो यह एक बात है, और समाज का दमन आन्तरिक शक्तियो द्वारा या अपने ही लोग करे यह दूसरी बात है। कृषक वर्ग की दीन–हीन दशा के समानान्तर दो ऐसे भी वर्ग थे जो सदियो से लतियाए चले आ रहे थे – "नारी वर्ग" और "अछूत"। लगभग मानवीय सभ्यता के प्रारम्भ से ही नारी पुरूषो के अधीन और सामाजिक तौर पर उत्पीड़ित रही है। तिस पर तुर्रा यह है कि– जो कुछ भी किया जा रहा है वह धर्म के अनुसार किया जा रहा है। यह उत्पीड़न तथाकथित उच्च वर्ण में निम्न वर्ण के बनिस्बत अधिक था। इसका काररण यह था कि उच्चवर्गीय स्त्रियाँ पूरी तरह आर्थिक दृष्टि से पुरूषो पर ही निर्भर किया करती थी। उनकी अपनी कोई निजी पहचान नही थी। हमारे समाज मे वह तभी प्रशसा की पात्र बनी जब वह माँ या गृहणी की भूमिका में रहीं। अपने पति से अलग औरत का न कोई महत्व था और न ही उनकी किसी जन्मजात या स्वैच्छिक प्रतिभा के लिए कोई अवकाश ही था। मुस्लिम सम्प्रदाय में भी इस दशा से विलगाव नही मिलता। हालाकि मुस्लिम धर्म के अनुसार स्त्री को सम्पत्ति में भाग दिया जा सकता है फिर भी "तलाक" जैसे क्रूर यातनाओ से उन्हें भी दो–चार होना पड़ता था। कहना न होगा कि हिन्दू और मुसलमान औरतों की सामाजिक स्थिति और उनके मूल्य एक ही थे।

स्त्रियों की दशा को सुधारने के लिए जो आन्दोलन 19वीं सदी के दौरान राजा राममोहन राय तथा ईश्वर चन्द्र विद्या सागर प्रभृति मनस्वियों के कर्मठ आग्रह से तत्कालीन ब्रितानी गर्वनर जनरल विलियम बैंटिक, जो उस जमाने का प्रसिद्ध रैडिकल था, ने विधवा पुनर्विवाह को कानूनी मान्यता तथा "सती प्रथा [illegible] को अंजाम दिया था, वही सुधारवादी कार्यक्रम सन् 57 की क्रान्ति के

बाद अचानक नेपथ्य वासी क्यो हो गये? इसके कारणो पर विचार करते हुए जवाहर लाल नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "डिस्कवरी ऑफ इण्डिया" मे लिखा- "भारत के प्रतिक्रियावादियों के साथ ब्रिटिश सत्ता के इस स्वाभाविक गठजोड के कारण अंग्रेज उन अनेक कुरीतियो और कुप्रथाओ के सरक्षक बन गये। जिनकी अन्यथा वे निन्दा करते थे।"[25] अत इस आन्दोलन की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उन्ही नेताओ को निभानी थी जो कि राष्ट्रीय मुक्ति की आराधना मे जुटे थे। अत आकस्मिक नही कि उन्नीसवी सदी मे राष्ट्रीय जागरण का प्रमुख प्रभाव समाज सुधार के क्षेत्र मे देखा गया। इस नारी मुक्ति अभियान को अपना प्रमुख स्वर देने वाले लोगो मे जोतिबा फूले, जस्टिस रानाडे, के0टी0 तेलग, डी0के0 कर्वे आदि को सम्मानित दर्जा प्राप्त है। किन्तु क्या देश की आजादी के बाद भी नारियो की स्थिति मे रद्दो-बदल हो सका? इसका उत्तर है नही। नहीं तो सन् 50 मे मुक्तिबोध के द्वारा देखे गये उस स्वप्न - "काश, हमारी गरीब स्त्रिया आज मुक्त हो पाती शिक्षित होकर प्रभावकारी हो पाती।"[26] का कोई मतलब न होता। यहाँ यह बताना अप्रासगिक नही है कि नारी मुक्ति का जो आन्दोलन भारत के लगभग सभी भू-भागो पर जोर-शोर से चला, वही "उत्तर प्रदेश" मे इसे उर्वर जमीन नसीब नहीं हुई। इसी तथ्य की ओर इशारा करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि - "हमने नारी को देवी बनाया, अप्सरा बनाया उसके सौन्दर्य का, कोमलता का, आदर्शीकरण किया, किन्तु सामन्ती सामाजिक बेड़ियो से उसकी मुक्ति का कोई समाज व्यापी विशाल निर्णयकारी कार्यक्रम हमारे यहाँ खडा न हो सका।"[27]

बीसवी सदी मे नारियों ने अपेन उत्थान के लिए अपनी लडाई खुद लडने की ठानी, जिसकी मुखर अभिव्यक्ति सन् 1927 में स्थापित "आल इण्डिया वूमेन्स कान्फ्रेन्स" के रूप में हुई। इस मजिल तक पहुँचने के लिए उन्होंने कई पड़ावों को पार किया। मसलन - बंग-भंग आन्दोलन, होम रूल तथा असहयोग आन्दोलन मे उनकी भूमिका को कैसे भुलाया जा सकता है। इसी समय प्रसिद्ध कवयित्री सरोजनी नायडू ने राष्ट्रीय कांग्रेस अध्यक्ष पद को तो सुशोभित किया

ही, अनेक महिलाओ ने सन् 37 के लोकप्रिय मत्रिमण्डल की मत्री और ससदीय सचिव की भूमिका का भी सफल निर्वाह किया। अत – "जिन्होने जेलो और गोलियों का बहादुरी से सामना किया उन्हे हीन कैसे कहा जा सकता था।"[28]

जैसा कि शुरू मे ही कहा गया है कि अपने ही लोगो के सामाजिक शोषण के लिए बहुत कुछ हम भी जिम्मेदार हैं। जिसे भारतीय समाज मे व्याप्त भयानक जातिवादी कुरीति मे देखा जा सकता है। शुरू–शुरू मे भारतीय समाज कर्मों पर आधारित एक ऐसा समाज था जिसमे किसी के लिए भी जातिगत निर्योग्यता का सवाल ही नही उठता। एक ऋग्वैदिक सूक्त मे स्पष्ट रूप से – "एक ऋषि को गायक कवि उसके पिता को चिकित्सक तथा माँ को अनाज पीसने वाली बताया गया है।"[29] किन्तु बाद की आने वाली पीढियो ने इस समाज व्यवस्था मे न केवल जहर घोला, वरन मानव की एक ऐसी श्रेणी भी कायम की जो मानवीय रक्त मज्जा आदि से सम्पन्न होते हुए भी, अन्त्यावसिन, चाण्डाल, पचम, अछूत और हरिजन आदि न जाने कितने नामो–उपनामों से पुकारी गयी। इस व्यवस्था का सबसे दिलचस्प पहलू यह कि – "मनु चाण्डाल तथा निषाद के मध्य एक वर्ण सकर "अन्त्यावसिन" का उल्लेख करते हैं। जिनसे स्वय चाण्डाल भी घृणा करते थे।"[30]

स्पष्टत सामाजिक सोपान–तत्र मे सबसे निजली सीढ़ी का नाम अछूत था। जिनकी जनसंख्या हिन्दू जनसख्या का 20 प्रतिशत थी। इनके स्पर्श को अपवित्र और प्रदूषणकारी समझा जाता था। किसी ब्राह्मण को देखकर ये लोग इसलिए अपना रास्ता बदल देते थे जिससे इनकी "अपवित्र छाया" उन "पवित्र आत्मा" पर न पड़ जाए। उच्च जातियों द्वारा निर्मित तथा प्रयोजित कुओं और तालाबों का यह वर्ग अपने क्रिया–कलाप में प्रयोग नही कर सकता था। कहने का कुल मतलब यह है कि अछूतों को कठोर प्रतिबन्धों और जातिगत निर्योग्यताओ के कारण प्रचण्ड यातनाएं सहनी पड़ी। यहाँ एकदम से कहा जा सकता है कि भारत मे जो भी तत्कालीन वर्ग सघर्ष की भूमिका का निर्माण हुआ उसको बहुत कुछ इस

गलीज सामाजिक व्यवस्था ने दृढ आधार प्रदान किया। क्योंकि अपनी जातिगत श्रेष्ठता या कुलीनता के कारण तथाकथित "उच्चवर्म" सदा से ही मलाई खाने का हकदार रहा है। इसका सबसे बुरा प्रभाव तत्कालीन स्वतन्त्रता आन्दोलन की असफलता मे देखा जा सकता है। अमानवीय तथा अपमान जनक जातीयता ने न केवल सामाजिक सगठन को विघटित किया, अपितु अग्रेजो को "डिवाइट एण्ड रूल" की खुली छूट भी प्रदान की। इस सन्दर्भ मे सन् 32 मे– रैमजे मैक्डोनल्ड द्वारा हरिजनो को दिया गया "कम्यूनल एवार्ड" तथा इसके विरोध मे महात्मा गाँधी के मरण–व्रत को देखा जा सकता है। जिसका राजनीतिक पटाक्षेप "पूना समझौते" के रूप मे हुआ। हालाकि यह समझौता उस समय के हरिजन–नेता डॉ0 भीमराव अम्बेडकर को कतई नही अच्छा लगा। वे अछूतोद्धार के लिए एक ठोस "राजनीतिक पैकेज" की आकाक्षा करते थे। उनका विचार था कि दलित वर्ग का उत्थान तब तक नही हो सकता जब तक उनके हाथो मे राजनैतिक सत्ता न हो।

इन्ही समस्त समाजार्थिक और राजनीतिक गठबन्धन का अनिवार्य परिणाम पूँजीवाद कहा जा सकता था। क्योंकि किसी भी समाज में व्यापक मानव उत्थान निश्चित तौर पर आर्थिक राजनीतिक समस्या से घनिष्ठ रूप मे जुडा हुआ है। इस पाखड–पूर्ण व्यवस्था में क्या समस्त मानवता का विकास सम्भव है? उत्तर है नही। क्योंकि – "अपने व्यक्तित्व का विकास तो उन्ही लोगो के लिए सम्भव है, जिन्हें जीवन में अपनी आर्थिक, सास्कृतिक, कलात्मक उन्नति के लिए अवसर मिलता रहे। जिस देश में – शोषण होता है, वहाँ शोषक–वर्गों अथवा उनके मित्र वर्गों को शोषण की स्वाधीनता होती है तथा शोषित वर्गों को शोषित होते रहने की स्वाधीनता।"[31] कहना न होगा कि मुक्तिबोध ने स्वतन्त्रता के नाम पर गरीबों को मिली "रिक्त स्वाधीनता" को न केवल पहचाना बल्कि उसका अपनी कवतिाओं मे खुलासा भी किया। उनका पूरा साहित्य उत्पीडन भरे समाज को बदल डालने की तीखी अकुलाहट अपने दामन मे सहेजे हुए है, और जिसमें जन–संघर्षों की निर्णायक स्थिति मे अमानवीय व्यवस्था के कालान्त द्वार को तोड़ डालने की

दृढ आकाक्षा भी है।

वे एक ऐसे समाज की कल्पना करते है– "जिसमे सभ्य सुरक्षित विकासशील जीवन–यापन के लिए स्पर्धा वाली शर्त की आवश्यकता ही नही है। वहाँ "सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट" वाला सिद्धान्त लागू ही नही होता, और वह समाज है – समाजवादी समाज रचना।"[32] मुक्तिबोध के साहित्य मे एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उनकी लगभग सभी रचनाए राजनीतिक सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं। वर्ग सघर्ष, वर्ग–चित्रण तथा उसकी समस्त समाजार्थिक विसगतियो को कवि सूघ सा लेता है। यही घ्राणशक्ति ही उन्हे प्रतिबद्ध सामाजिक विचारक और जनवादी लेखक के रूप मे प्रतिष्ठित करता है। उनका दो टूक मत है कि वर्ग हीन समाज निर्माण की – "पहली शर्त पूँजीवाद का अत तथा समाजवादी समाज रचना की स्थापना।" है।[33]

******

छायावादी परिवेश

किसी भी साहित्य–धारा को समझने के लिए उसके युग का अध्ययन अनिवार्य होता है। युग की विषमताए और आकाक्षाए साहित्यकार के माध्यम से उसके काव्य को स्वरूप और आधार प्रदान करती है। साहित्यकार ही नही चिन्तक और विचारक भी अपने युग की सीमाओ के भीतर ही कार्यशील होते हैं, क्योकि उनमे युग की चेतना ही पुञ्जीभूत होकर साकार हो उठती है। कुछ साहित्यकार अपने देश के प्राचीन मूल्यो को जो प्राणवान है, का अुसधान कर उनकी अतीत प्रासगिकता को वर्तमान मे भी सिद्ध करते है। जबकि कुछ रचनाकार नए युग के स्वप्नो को तराशने के लिए मुक्त रूप से विदेशी चिन्तनधारा को भी अपनाते हैं। इसका कारण यह है कि रचनाकार केवल अपनी ही जमीन से जुडा होकर भी विश्व–मानव के सुख–दु खो से अपनी सम्पृक्ति रखता है।

विवेच्य स्थितियों पर विचार करने के पहले उसकी विरासत के सवालो से मुँह नही मोडा जा सकता, क्योंकि कुछ सस्कार ऐसे होते हैं जो नवीन से नवीन धारा मे भी लिपटे हुए चले आते है। इस युग के पूर्व का काव्य "इतिवृत्तात्मकता" और द्विवेदी व्यक्तित्व जनित व्यापक नैतिकता से आक्रात था। आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रथम प्रस्तोता भारतेन्दु जी मे विचार और सस्कार को लेकर जो गहन द्वैत था उसका बहुत कुछ निरसन द्विवेदी जी ने अपने काव्यात्मक मानदण्डों के माध्यम से किया। भारतेन्दु के व्यक्तित्व में जो दो फॉंक दिखाई देता है। (कविता मे उनका सस्कार है, गद्य मे उनका विचार) उसका मुख्य कारण उनके व्यक्तित्व की संश्लिष्टता है, जिसमें एक तरफ तो वे –

"अधाधुध मच्यो सब देशा। मानहु राजा रहत विदेशा।।"[34] लिखते हैं और दूसरी तरफ –

अगरेज राज सुख साज सजै सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।[35]

कहकर अपने सश्लिष्ट व्यक्तित्व को दिखाते है। इस युगभूमि का वर्णन करते हुए डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का मानना है कि– "मुसलमान शासकों के टूटते बिखरते राज्य की अव्यवस्था को देखते हुए अग्रेजी शासन की नई व्यवस्था

निश्चय ही सराहनीय थी। पर इस तरह का कठोर आर्थिक शोषण इसके पहले कभी नही हुआ।"[36] कहना न होगा कि भारतेन्दु को भी जो क्लेश है, उसका एक वृहद कारण – "पै धन विदेश चलि जात" ही है। अतीत के प्रति व्यामोह भारतीय समाज का मुख्य अनुषग कहा जा सकता है, जिसको आधार बनाकर कभी स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि – "हे भगवान! क्या हमारा देश अतीत की शाश्वत स्तुति से "मुक्त" हो सकेगा।"[37] स्पष्ट रूप से उनका आग्रह था कि लोग विगत गरिमा पर जीना छोडकर जँवा मर्द की तरह भविष्य का निर्माण करे।

अतीत की इस झूठी गरिमा को महिमामडित करने की प्रथा आज भी जस की तस कायम है जिसके परिप्रेक्ष्य मे गली–कूचो मे आज भी अग्रेजो की, उसी तथाकथित शासन व्यवस्था का ढोल पीटा जा सकना सभव हो रहा है, इस गुणगान के पीछे स्वाभाविक रूप से वे पक्ष नेपथ्यगामी हो जाते हैं जिसके कारण आज भी हम नारकीय स्थिति झेलने को अभिशप्त है। यदि शोषण करने का तरीका "मियाँ की जूती मियाँ के सर" वाला होता तो भी बात कुछ हद तक ठीक थी, जैसा कि पूर्व विजेताओ ने किया। किन्तु यहाँ तो "मेरा जूता आपका सिर" वाला हाल है! जिसको सर्वप्रथम "द ड्रेन आफ वेल्थ थ्योरी" के रूप मे पहचाना गया। यहाँ एकदम कहा जा सकता है कि भारतेन्दु जी ने "दादा भाई नौरोजी" के मन्तव्य को काव्यात्मक स्तर पर समझा।

जैसा कि शुरू में ही कहा गया है कि विचार और संस्कार से भारतेन्दु जी बराबर द्विविधा मे रहे। "एक के लिए ब्रजभाषा को वे पकडे हुए है और दूसरी के लिए खड़ी बोली को अपनाते है।"[38] आचार्य द्विवेदी इस व्यवस्था के एकदम खिलाफ थे, वे किसी भी सभ्य समाज के लिए इससे बड़ी विसगति नही मानते थे जिसमे गद्य और पद्य की माध्यम एक न हो, उन्होने लिखा है कि – "यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य ले लेगी xxxxxx बोलना एक भाषा मे और कविता मे प्रयोग करना दूसरी भाषा प्राकृतिक नियमों कि विरूद्ध है।"[39]

इन्ही सब वजहो से डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी भारतेन्दु को सस्कारो की अपेक्षा विचारो से अधिक आधुनिक मानते हैं। काव्य भाषा के स्तर पर भारतेन्दु जी रीतिकालीन भाव-बोध से पगे थे जो कि उनके काव्य मे छन्द और भाव दोनो स्तर पर विद्यमान है। किन्तु बावजूद इसके वे रीतिकालीन भावबोध का अतिक्रमण सा भी करते दिखाई देते है। यह अलगाव आया उनमे- "समकालीन राजनीति पर पूरी दृष्टि" रखके। छायावाद से लेकर समकालीनता के विशाल साहित्यिक कैनवश को देखते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी का दाय निश्चित तौर पर स्पृहणीय है। वे कविता मे - "सरलता असलियत और जोश"[40] पर बल देते है। द्विवेदी जी ने कविता को रीतिकालीन पिजरे से बाहर निकाल कर न केवल साहित्य के उन्मुक्त आकाश मे विचरण के लिए मुक्त किया वरन् कविता के लिए किसी नाप-जोख जैसी खास स्थिति का भी प्रत्याख्यान किया। वे कविता को पूर्ण मानवता के लिए तथा अन्तहीन यात्रा मानते हुए लिखते है कि - "चीटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है।"[41]

इस युग का सबसे विराट और कटु सत्य था- बाहरी शक्ति अर्थात् ब्रितानी शासन का साम्राज्यवादी प्रभाव। सदियो की दासता के कारण भारतीय जनता आत्मकेन्द्रित और रूढ़िग्रस्त हो गयी थी। पाश्चात्य साम्राज्यवादियों के आगमन ने देश में एक भयकर तूफान की स्थिति उत्पन्न की, जिसके कारण सदियो से सोये भारत मे एक नई रवानी का आना सर्वथा लाजिमी था, यह नयी रवानी प्रखर राष्ट्रीयता के रूप मे उभर कर , सामने आयी। इस सन्दर्भ में डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन सर्वथा युक्ति सगत प्रतीत होता है कि- "इस्लाम के आक्रमण ने मध्यकाल में जिस प्रकार भक्ति भावना को उभारा, आधुनिक काल मे अग्रेजी शासन ने उसी प्रकार राष्ट्रीयता की भावना को।"[42] यहाँ एकदम कहा जा सकता है कि यह युग, जातीय एकांतिक भावना से निकलकर समाजीकरण की प्रक्रिया का एक अग है। इस सन्दर्भ मे भारतीय पुनर्जागरण के मनीषियों द्वारा स्थापित सभाओं के नामकरण में देखा जा सकता है, जिसमे "समाज" का

उत्तरवर्ती प्रयोग मात्र सयोग न होकर – "हिन्दी जाति की एकातिक भावना का निरसन"[43] है।

समग्र रूप से देखने पर यह युग– "भारत के लिए अस्मिता की खोज का युग है।"[44] अपनी अस्मिता के बोध ने वैयक्तिक भावनाओ को व्यक्त करने का साहस प्रदान किया। इस अहम् उद्दीप्त बोध ने हर उस चीज से विद्रोह किया जो उसके विरोध मे आया। इसी क्रम मे यदि वह द्विवेदी युगीन नैतिकता तथा इतिवृत्तात्मकता के विरूद्ध खडा होता है तो दूसरी तरफ उसमे विदेशी दासता के प्रति स्पष्ट ललकार भी दिखाई देती है।

छायावादी कवियो ने जिस वातावरण मे साँस लिया वह एक तरफ तो जनमानस की क्रूरतम यातना का युग था तो इसका शुभ पक्ष यह भी था कि भारतीय विचारको तथा नेताओ ने अपने अतीत के शाश्वत मूल्यो को खोजकर वर्तमान मे उसकी प्रासगिकता के अन्तर्महत्व को न केवल समझा वरन व्यावहारिक रूप भी दिया। राम मोहन राय, विवेकानन्द, रामकृष्ण तथा महात्मा गाधी के व्यक्तित्व जनित प्रभावो को इस युग मे देखा जा सकता है। गाधीवादी कवियो की एक पूरी पॉत ही सामने आती है। छायावाद के प्रतिनिधि महाकाव्य मे यान्त्रिकता के विरोध में जो बात है वह मुख्यत गाधी जी का ही प्रभाव है। क्योकि भारत मे यान्त्रिकता का स्वाभाविक विकास इस युग मे न होकर मानव–शोषण की एक कडी के रूप में हुआ। गाधी–दर्शन में यांत्रिकता को इसीलिए स्थान नही मिला और वे भारत के विकास के पचायती व्यवस्था को ही काम्य मानते थे।

इस युग में पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान से सम्पर्क होना भारतीय जनमानस के लिए जहाँ "मुद्रित दृग" खोलने जैसा है वही पर एकदम कहा जा सकता है कि तत्युगीन निराशा, कुण्ठा, और पलायनवाद भी इसी की देन है। हुआ यो कि इस सम्पर्क ने मानव को सुनहले सब्ज बाग तो दिखा दिए किन्तु उन्हे पूरा करने के लिए कोई भी माध्यम नजर नही आ रहा था। इस तात्कालिक विसगति को समकालीन स्थितियों मे और भी स्पष्ट रूप से "ग्लोबनाइजेशन" मे देखा जा सकता है, जिसमे मध्यम वर्गीय आकांक्षाओ को बडी ही रगीनियों से उभार दिया गया।

पर इसका वास्तविक पटाक्षेप निराशा, कुठा तथा अवसाद के रूप मे हुआ।

इस युग के साहित्य और समाज के अन्तस्सम्बन्धो का विश्लेषण करते हुए डॉ0 नामवर सिह का मानना है कि– "छायावादी युग मे "साहित्य समाज का दर्पण है" कहने की हवा थी।"[45] यदि साहित्य समाज का दर्पण है (जैसा कि वह है) तो साहित्य के भीतर समाज की सभी प्रवृत्तियाँ स्वत ही अन्तर्मुक्त हो जाती है। क्योंकि राजनीति भी समाज का एक अनुषग है। अत यह सवाल उठना स्वाभाविक हो जाता है कि इस युग मे राजनीति और साहित्य का क्या अन्तस्सम्बन्ध था। छायावादी युग पर तथा इसके कवियो पर बराबर आरोप लगाया जाता था कि – "जिस समय देश मे स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष हो रहा था। छायावादी कवि कल्पना लोक मे बैठकर हृतश्री के तार बजाया करते थे। लेकिन ऐसा वही लोग कहते हैं जो साहित्य को समाज का अविकल अनुवाद समझते है।"[46] क्योंकि साहित्य समाज का अविकल अनुवाद नही है अत उस अर्थ मे राष्ट्रीयता की भावना भी नही मिलती इसी को दृष्टि में रखकर प्रो0 रामस्वरूप चतुर्वेदी का मत है कि – "छायावादी काव्य मे राष्ट्र जागरण से अधिक समग्र चेतना का जागरण और आह्वान है, उसमे अन्तर्निहित शक्ति के विकास का रचनात्मक उपक्रम है। यहा राष्ट्रीय से अधिक सम्पूर्ण सास्कृतिक जागरण प्रधान है, राष्ट्रीय जागरण वस्तुत सास्कृतिक जागरण के अंग रूप में आता है जो पुनर्जागरण की मुक्तधारा के अनुरूप है। यों कह सकते है कि छायावाद की राष्ट्रीयता मे आधार राजनीति की अपेक्षा सस्कृति है।"[47]

मुक्तिबोध ने अपने एक निबंध मे माना है कि "बातचीत, बहस, भाषण, लेखन, चित्रकला, काव्य साहित्य आदि द्वारा हम बाह्य जीवन–जगत के साथ या तो सामंञ्जस्य उत्पन्न करते है (या उस सामञ्जस्य के अनुकूल प्रस्तुत होते हैं) अथवा उसके साथ हम द्वन्द्व में उपस्थित होते हैं। काव्य भी या तो बाह्य जीवन के साथ सामञ्जस्य मे या उसके अनुकूल उपस्थित होता है अथवा उसके साथ द्वन्द्व रूप में प्रस्तुत होता है।"[48] इसी को आधार बनाकर डॉ0 नामवर सिह ने छायावादी युग तथा उसकी कविताओं पर विचार किया है। उनका मानना है कि छायावादी कवि अपने परिवेश से तो टकराते थे पर तुरन्त

ही समझौता कर लेते थे। इस सम्बन्ध मे दो सवाल उठाए जा सकते है, पहला यह कि वह युग कैसा था? दूसरा यह कि कवियो का जो टकराव अपने परिवेश से हुआ, उसकी दिशा क्या थी? पहले सवाल के रूप मे डॉ0 नामवर सिह का मानना है कि – "सामञ्जस्य की यह दुर्दम आकाक्षा वस्तुत उस पूरे युग के वातावरण मे भी थी। सारा स्वाधीनता सग्राम इसी सामञ्जस्य के नारे पर खडा था। उस लडाई मे सारे आपसी भेद मुल्तवी कर दिये जाते थे। फूट के दुष्परिणामो से समूचा देश इतना आतकित था कि द्वन्द्व की दिमागी ऐयाशी गवारा नही कर सकता था।"[49] अब एक नजर उन पर जो इस "समझौता परस्त नीति, के प्रस्तोता थे, उनको केन्द्र मे रखकर डॉ0 सिह का मानना है कि– "छायावादी युग का सम्बन्ध राजनीति मे गाधी और नेहरू की विचारधारा से है। जिसका दुष्परिणाम आज के लेखको के सामने है। उनके मन मे इस राजनीति के प्रति तीव्र विद्रोह है।"[50]

किन्ही विशेष स्थितियो मे चिन्तन करना और उन्ही स्थितियो से उबरकर चिन्तन करना, इन दोनों मे मौलिक अन्तर हो सकता है। स्वतन्त्रता सग्राम मे रहते हुए, जूझते हुए, उस आन्दोलन को किस भाँति महसूस किया गया, यह एक बात है, जबकि समकालीन स्थितियो मे ठाठ से उस युग पर विचार करना दूसरी बात है। इस तथ्य की सहज ही कल्पना की जा सकती है कि किसी भी पराधीन देश की सबसे ज्वलन्त समस्या है – उसकी आजादी का। अतएव समग्र मानव मुक्ति के लिए "आपसी भेद मुल्तवी" कर भी दिए गए तो ऐसी कौन सी बात हो गयी। सन् 1942 मे गाधी जी ने अंग्रेजों के खिलाफ "भारत छोडो" का जब नारा दिया, तो, उनके सामने देशकी भवितव्यता का प्रश्न नगण्य हो गया था, इसीलिए वे कहते हैं कि – "भारत को ईश्वर के हांथों में अथवा अराजकता मे छोड़ दो। तब सभी दल कुत्तों की भाँति लड़ेगे और जब वास्तविक उत्तरदायित्व सिर पर पडेगा तो स्वयं वास्तविक समझौता करा लेंगे।"[51] स्पष्ट रूप से सवाल वैयक्तिक प्रश्नों को, मतभेदो को मुल्तवी करने का नहीं बल्कि व्यापक मानवता की हित चिन्ता का था। देखने की बात यह है कि तात्कालिक स्थितियों मे जिन वैयक्तिक मतभेदों को मुल्तवी नही किया गया, उसका दुष्परिणाम प्रमुख रूप से

भारत–विभाजन के रूप मे हमारे सामने मौजूद है। इसके पीछे सभवत "द्वन्द्वो की वही दिमागी ऐयाशी" ही थी जिसके प्रति आज के कवि के मन मे ही नही बल्कि पूरे समाज का तीव्र विद्रोह है।

जिन मुक्तिबोध को आधार बनाकर समस्त छायावाद को सामञ्जस्य के किनारे लगा दिया गया उन्ही के द्वारा महात्मा गाधी जी के विषय मे क्या कहा जा रहा है, यह देखना अपने आप मे दिलचस्प है, खास तौर से तब और भी जबकि छायावादी युग की केन्द्रीय सवेदना वे ही ठहरते हो।

मुक्तिबोध ने लिखा है कि – "भारत के इतिहास मे करोड़ो भूखे जनो को महत्व देने वाला इनका सगा लगने वाला, एक व्यक्ति सम्मुख आया जिसने उसी गरीब कुचली जनता को नैतिक साहस प्रदान करके क्या का क्या बना दिया। उस नैतिकता पूर्ण जनशक्ति के आधार से ब्रिटिश साम्राज्य चूर–चूर हो गया।"[52] स्पष्ट रूप से मुक्तिबोध गांधी जी के अन्तर्महत्व को समझते थे तथा शायद यह भी मानते थे कि उनकी राजनीति "दुष्परिणामी" नही है।

अब चूँकि छायावादी सम्पूर्ण युग ही सामञ्जस्य के नारे पर खडा था अत उसका साहित्य भी निश्चित तौर से "सतुलन का नाटक ही" कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ मे डॉ0 नामवर सिह का विचार है कि – "श्री विजय देव नारायण साही का यह कथन युक्तिसगत प्रतीत होता है कि उस युग भूमि को सघर्ष या द्वन्द्व न कहके सतुलन का नाटक कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि वस्तुत वह चरम द्वन्द्व था भी नहीं? वह द्वन्द्व भीतरी हो या बाहरी, एक सीमा तक उसका सामना करने के बाद छायावादी कवि सतुलन या सामञ्जस्य के लिए चिन्तित हो उठते थे। सामञ्जस्य की यह अधीरता इतनी प्रबल थी कि अदबदाकर हर कविता के अन्त में जाते–जाते वह संतुलन किसी न किसी तरह प्राप्त कर लिया जाता है। छायावादी कवियों में द्वन्द्व को सबसे अधिक दूर तक ले जाने वाले निरातन भी इस आकांक्षा से न बच सके, राम की शक्ति पूजा का अन्त प्रमाण है।"[55] यहाँ भी वही कहा जा सकता है, जो इस युग के नेताओं के लिए कहा गया। आलोचक की दृष्टि निश्चित तौर पर द्वन्द्व पर है भी नही, वह तो केवल संतुलन

ही सतुलन ढूँढ रहा है। राम की भक्ति पूजा मे द्वन्द्व या सघर्ष यत्र–तत्र सर्वत्र फैला है, किन्तु आलोचक को शिकायत है राम की विजय को लेकर। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल "छायावाद" को केवल ऋषि–दृष्टि से देखते है जो कि प्राय शाप देने वाली मुद्रा को ही इगित करती है, किन्तु जब वे अपने निबन्ध मे "साहित्य की साधनावस्था" की बात चलाते है तो लगता है जैसे वे "राम की शक्ति पूजा" की ही व्याख्या कर रहे है, वे लिखते है कि – "मगल अमगल के द्वन्द्व मे कवि लोग अंत मे मगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (डिडैक्टिसिज्म) या अस्वाभाविकता की गध समझकर नाक–भौ सिकोडना ठीक नही है। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा, अर्थात् प्रत्येक अवसर पर जब सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जायेगे, पर सच्चे कवि ऐसा कभी नही करते। इस जगत में अधर्म प्राय दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म शक्ति बार–बार उठकर व्यर्थ होती रहती है।"[54] अत कहा जा सकता है कि राम की विजय का भी वही "ग्लैमर" है जो कि उनके सघर्ष का बल्कि विजय कुछ अधिक ही सुन्दर है, क्योंकि इसके पीछे उनकी नैतिक उत्कटता हुई है जो किसी भी स्थिति में अनैतिक साधनों का प्रयोग करने मे हिचकती है।

मुक्तिबोध और छायावाद

आधुनिक काव्य धारा के प्रमुख हस्ताक्षर गजानन माधव मुक्तिबोध ने कभी छायावादी कविता रची थी यह सोचकर दिमाग ही चकरा जाता है, क्योंकि नई कविता मे जो भी शिल्प और भाव मुक्तिबोध का मिलता है वह अपने–आप मे ही स्वय परिपूर्ण और एकातिक है। किन्तु यह एक तथ्य है कि उन्होने ऐसी भी कविताए लिखी जिसमे रोमानियत, मसृणता तथा गीतिमयता मिलने के कारण छायावादी कही जा सकती हैं। इसका एक ऐतिहासिक सन्दर्भ भी है। वे अपने "प्रथम आत्म वक्तव्य" मे लिखते है कि – "सन् 1942 के प्रथम और अतिम चरण मे मै एक विरोधी शक्ति के सम्मुख आया, जिसकी प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुत कुछ सीखना था। × × × × × × × यहाँ लगभग एक साल मे मैंने पाच साल का पुराना जड़त्व निकालने की सफल–असफल कोशिश की। इस उद्योग के लिए प्रेरणा, विवेक और शान्ति मैने एक ऐसी जगह पायी, जिसे पहले मैं विरोधी शक्ति मानता था।"[55] तो सवाल यह है कि वह कौन सी पुरानी जड़ता थी जिसको कवि ने निकालने की, या मार्जन करने का दावा किया है। इस प्रश्न की कालक्रमिकता हमे यही बताती है कि यह जड़ता उन पर सन् 35–36 के जमाने मे हावी थी। इस समय की कविताए उनकी "अस्पष्ट" होती थी जो कि निश्चित तौर पर छायावादी भावबोध का ही एक "फैक्टर" है। इस सन्दर्भ मे उन्होने आचार्य शुक्ल की, उस बात का समर्थन भभ किया है, जिसमें वे, –छायावादी शिल्प के कारण कवियो की दृष्टि उसके अर्थ–विस्तार पर न जा सकी, – का उल्लेख करते है। जाहिरा तौर पर एक कुहासा सा उनकी कविताओं में पाया जाता रहा।

तो जैसा कि मु0 रचनावली के प्रथमखण्ड की प्रारम्भिक रचनाओ का संकलन है, जो लगभग सन् 35 से प्रारम्भ होती हैं, उनका सम्पूर्ण "स्ट्रक्चर" ही छायावादी है। कोमल–कान्त पदों का लालित्य तथा वैसे ही अप्रस्तुत विधान निश्चय तौर पर उनको प्रसाद पत की श्रेणी मे बैठाती है, जैसा कि इस सन्दर्भ में उन्होंने खुद ही लिखा है कि – "मेरे बाल–मन की पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्व मानव का सुख–दुख – इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की

पहली उलझन थी।"[56] वो जो सौन्दर्य की भूख थी उसी के शमनार्थ ही उन्होने उस शैली को चुना जो काव्यात्मकता के एक स्तर पर द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता के विरोध मे तो थी, पर दूसरी तरफ भारत मे छाए हुए घनघोर साम्राज्यवाद के भी खिलाफ न थी। उनकी तात्कालिक कविताओ मे साम्राज्यवाद के विरोध मे ऐसा कुछ भी नही लिखा गया जो उनको सास्कृतिक राष्ट्रवादी पाँत के कवियो मे घोषित करवाने मे अपना योगदान करती। दरअसल उनकी छायावादी सवेदना प्रसाद और निराला के नजदीक न होकर महादेवी वर्मा जी के ही अधिक निकट थी, क्योंकि महादेवी वर्मा का काव्य ही अद्योपान्त रूप से एक अव्यक्त और अज्ञेय के प्रति प्रेम को लेकर चला है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" मे छायावाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि – "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ मे जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है, अर्थात् जहाँ कवि उस अनत और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा मे प्रेम की अनेक प्रकार से व्यजना करता है।"[57] तो इस आलोक मे हम मुक्तिबोध की रचनाओ को देखने का उपक्रम करते हैं, और यह भी स्पष्ट करने का कि क्या वे हूबहू वैसी ही है, जैसा कि शुक्ल जी के उद्‌गार हैं, अथवा उस मार्ग से कुछ विचलित भी हैं? कह देना चाहता हूँ कि मुक्तिबोध की इस ढग की जो कविताए है उसमें एक प्रेमी हृदय युवक की करूण पुकार है, जिसने अपनी प्रिया से मिलने की अनेकानेक आकाक्षा तो पाली हैं, किन्तु इस निष्ठुर विरह ने कभी भी उसे इस रोमानियत का, एक मिलन का वक्त ही नहीं दिया –

"कौन मदिरा मागता हूँ? यह हृदय की प्यास आली,
और यौवन के खिले अरमान है, मधुमास आली।
या तो ज्वाला ही लगा दो और तिनके जन उठें ए,
किन्तु प्यासे इन दृगों को है बड़ा विश्वास आली।
× ×× ×××× ××× × ×
अर्थ यौवन का लगाया प्राण ने औ' प्यार ने क्या?
कब बुझेगी री, हृदय की ज्वाला सो यह प्यास आली?"[58]

आचार्य शुक्ल ने "छायावाद" का दूसरा अर्थ – "काव्य शैली या पद्धति विशेष के" व्यापक अर्थ मे माना है। किन्तु जब वे "छायावाद" के "मूल अर्थ" की बात करते है तो वे उसमे प्रसाद, पत तथा निराला को अलक्षित करके केवल महादेवी वर्मा को ही विशुद्ध छायावादी कवि मानते हैं। मुक्तिबोध ने भी अपने "आत्म–वक्तव्य" मे जिस "सौन्दर्य" और विश्व–मानव के दु ख सुख की बात की है उसे वे दो व्यक्ति विशेषो से जोडते हैं, पहला नाम है "टाल्सटॉय" का और दूसरा नाम है – महादेवी वर्मा का। व्यावहारिक तौर पर दोनो एक दूसरे से न केवल जुदा बल्कि उनके लेखन का जो कथ्य है वह भी भिन्न–भिन्न ही है। एक जहाँ "सौन्दर्य लोक" को अपने लेखन का आधार भूमि बनाती है, वही दूसरा "मानवतामय" या मानवीय–समस्या से ग्रस्त अनुभूति को ही अपने लेखन की दृढ–मित्ति प्रदान करता है। इस सम्बन्ध मे मुक्तिबोध ने यह स्वीकार किा है कि इन दोनो का सघर्ष ही उन दिनो उनकी मनोरचना का निर्माण करता था। किन्तु बावजूद इसके वे अपने काव्य मे प्रथमत सौन्दर्य पक्ष को ही लेकर चलते है जो "समय का प्रभाव और वय की माग" दोनों ही था। इसी सन्दर्भ मे उनके अनुज "शरच्चन्द्र मुक्तिबोध" का वह वक्तव्य भी काबिले गौर है, जिसमे उन्होने कहा है – "शैली तब उनकी रोमाण्टिक थी, भाई साहब को पूरे छायावादी प्रभाव मे मैने देखा है – बाल बढाए और दुशाला ओढे हुए।"[59] जाहिरा तौर पर उस समय कविवर के ऊपर एक रूमानी नशा तारी रहता था, और इसी अदा के तहत वे महादेवी के उस "वेदनावाद" के नजदीक आए जिसमे कही न कही "सर्व दुखम" की अनुगूँज काव्यात्मक स्तर पर विद्यमान है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यद्यपि महादेवी जी मे विस्मय, जिज्ञासा, व्यथा और आध्यात्मिकता के भाव भी मिलते हैं जो कालचक्रमेण अधिकाधिक प्रौढ़ और परिमार्जित होते गए हैं, किन्तु जैसी काव्यात्मक अनेकरूपता पंत और निराला जी मे पायी जाती है, वैसी महादेवी में नही। यद्यपि महादेवी जी की अनुभूति के विषय में आचार्य शुक्ल संशयग्रस्त है, और इस संशयग्रस्तता का ही तकाजा है जो उन्हें यह लिखने को विवश करता है कि – "कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतिया हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना है, यह नहीं कहा जा सकता।"[60] किन्तु एक नारी होने के नाते कविता में उनके द्वारा प्रयुक्त रूपकों की आपसी अन्विति

से इन्कार नही किया जा सकता। उनके द्वारा कविताओ मे बहुप्रयुक्त प्रतीक "दीपशिखा" और "बदली" प्रकारानतर से उनकी वेदना ही परिपुष्ट करते है, क्योंकि बादल का घिरना और मिटना, मिटने के पहले प्यासी धरती को अपनी जीवन्तता से रससिक्त बनाना, दीपशिखा का जलने के बावजूद भी सम्पूर्ण जगत मे अपने को मिटाकर भी आलोक भरना एक नारी की ही नियति कही जा सकती है। इसी "वेदनावाद" को मुक्तिबोध के समकालीन कवि, कथाकार, सपादक, अज्ञेय भी अपने मशहूर उपन्यास "शेखर एक जीवनी" मे शशि के माध्यम से उकेरते है – "तुम पूँछते हो तो कहती हूँ। लो सुनो। स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आयी है। ज्ञान सब उसमे सचित है, जैसे धरती मे चेतना सचित है। पर बीज अकुरित होता है तो धरती को फोडकर, धरती अपने आप नही फलती–फूलती। xxxxxx xxxxxxxxxxxx धरती, धरती ही है, पर वह भी समान स्रष्टा है, क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन पुलक और उन्माद नही क्लेश और वेदना है।"[61]
तो यही क्लेश और वेदना ही महादेवी जी के काव्य का केन्द्रीय सवेदन है।

यह आकस्मिक नही कि महादेवी जी ने अपनी कविता के लिए प्राय जिस प्रगीतात्मकता को आधार बनाया है वह मुक्तिबोधि के द्वारा रचित सन् 35 से 45–46 तक की रचनाओं मे बाकायदे पाया जाता है। दरअसल इसका एक बड़ा कारण यह है कि विचार और वेदना की जहा अन्विति पायी जाती है वहाँ बरबस ही गीत फूटते है। महादेवी जी ने तो गीत की परिभाषा देते हुए भी कहा है कि – "सुख–दु ख की भावावेश मयी अवस्था विशेष का गिने चुने शब्दो मे स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"[62] इस "स्वर साधना" के शब्दों के पीछे कवि का आर्त क्रन्दन छुपा है। मुक्तिबोध एक गीत मे "वेदना का कवि" बनने की इच्छा भी प्रकट करते है, कहते हैं कि –

"वेदना का कवि बनू मैं, कल्पना का मृदु चितेरा।
प्राण मेरे अश्रु बनकर प्रिय उषा को देखते है,
किन पर्दों की लालिमा ले आज शोभन दुख–सवेरा?
प्राण वे कब जानते थे अश्रु मे प्रतिबिम्ब उनका?
नि श्वास बनकर श्वास में मैंने उन्ही को आज हेरा।
उस देहरी पर प्राण, क्यों किस साध की माला चढ़ाई?
आज जी को तू सुला के, खुल न पाये भेद तेरा।

× × × × × × × × × × × ×   × × ×

वेदना मे झूल ले तू कल्पना का बन चितेरा।"[63]

कवि की बहुत सी कविताओ मे जो "मृत्युवाद" सा छाया है उसके पीछे शायद "जिन्दगी तो बेवफा है एक दिन ठुकराएगी। मौत महबूबा है अपनी साथ लेकर जायेगी" – वाला भाव ही छुपा है। उन्होने सन् 1936 मे एक कविता रची थी। नाम था – "मरण–रमणी" जिसके विषय मे भूमिका–टाइप एक लेख भी है, लिखते हैं कि – "मेने मरण को एक विलासिनी सुन्दरी माना है और वह एक ऐसी सुन्दरी है जो कठोर नही है।

× × × × ×   × × × × × × × ×

मैने उसे "प्रेयसी" "ममता–परी" "सखी", "आली" इत्यादि शब्दो से सम्बोधित किया है, क्योंकि वह वैसी है भी। मरण–सुन्दरी हमे आकर्षण द्वारा खीचकर ले जाएगी न कि यम दूतो के समान। यह हमे अपने अंचल से बाधकर ले जायेगी।" कविता इस प्रकार है –

"मरण बन सखि, मम कणो से घर का अश्लेष कर री।
मधु–अधर के स्पर्श में उस पार का सन्देश भर री,
री, आज आलिगन मधुर मे मिलन की उल्लास ज्वाला
तू मुझे सखि, खीचती चल, अप्सरा का वेश कर री।
×   × × × × × × × × × × × ×

प्यार शैय्या पर पडा मैं आज तेरी कर प्रतीक्षा,
ध्वान्त है, घर शून्य है, उर शून्य तेरी ही समीक्षा।
मैं प्यार कर लूँ आज अंतिम, आज जग से जी लगा लूँ।
क्यों न उर से मै लगा लूँ आज उनकी मृत्यु–दीक्षा।"[64]

किन्तु कवि को इसके बावजूद भी जीवन मे और उसकी जीवन्तता मे बराबर आस्था रही है, वह हर जगह प्रिया को मरण रूप मे ही नहीं देखता बल्कि एक ऐसी जीवन–दायिनी शक्ति के रूप मे देखता है जो म्रियमाण प्रेमी मे भी एक पुलक भर देती है, आशा का सचार कर देती है। इस प्रकार की एक कविता है – "तू और मैं' जिसमें कवि ने परस्पर विरोधी भावों को संयोजित करने हुए एक नवीन आयाम दिया है। कविवर लिखते हैं कि –

"मैं बना उन्माद री सखि, तू तरल अवसाद
प्रेम–पारावार पीडा, तू सुनहली याद
तैल तू तो दीप मै हूँ सजग मेरे प्राण।
रजनि मे जीवन चिता औ प्रात मे निर्वाण
शुष्क तिनका तू बनी तो पास ही मैं धूल
आम्र मे यदि कोकिला तो पास ही मे हूल
फूल सा यदि मैं बनू तो शूल सी तू पास
विधुर जीवन के शयन को तू – मधुर आवास
सजल मेरे प्राण है री, सजग मेरे प्राण
तू बनी है प्राण। मै तो आलि चिर–म्रिपमाण।"[65]

उन्होने महादेवी की भाँति "दीपक" को भी अपने काव्य वस्तु के रूप मे स्वीकार किया है, तथा "पथ के दीपक" नामक प्रगीत की रचना 38–39 मे की जिसमे कवि अपने पथ के दीपक से अपने अतरतम को आलोकित करने के लिए कहता है। इसके अलावा "नीर भरी दु ख की बदली" जो महादेवी के यहाँ है वही मुक्तिबोध के यहाँ आकर उस घनघोर निराशा का रूप धारण करती है जो कवि की जीवन्तता को बाधित करके मृत्युबोध से साक्षात्कार सा कराती है।

मुझको मरण मिला जीवन मे
मेरे नभ मे बादल छाया,
प्रात क्षितिज पर सन्ध्या का
अरूण राग कोमल बन आया।[66]

इसी काल मे हिन्दी साहित्य मे पहली बार स्त्री और पुरूष के बीच व्यक्तिगत प्रेम सन्बन्धो का अभ्युदय हुआ और यह स्वच्छन्द प्रेम डॉ0 नामवर सिह के अनुसार – "व्यक्ति स्वातन्त्र्य का ही अनिवार्य परिणाम" था। मुक्तिबोध की प्रारम्भिक रचनाओं मे "प्रेयसी" के सम्बोधन के लिए सखि, सजनि, आली का जो एक तकियाकलाम सा पाया जाता है। दरअसल वह पूरे छायावादी रूझान का ही परिचायक था। जैसे– "कौन मदिरा मांगता हूँ? यह हृदय की प्यास आली" फिर पतझर सखि, कहाँ रहेगा, मै बना उन्माद री सखि, "आज जीवन शुद्ध आली शब्द भी अवरूद्ध आली" "आलोक–हासिनि कल्पने री सजनि, उन्मन तू न बन" "मरण का संसर सजनी", "क्यों प्रेयसी बनी सगिनी", और प्रेयसी का स्मित

समझो" इत्यादि। यह व्यक्ति स्वातन्त्र्य का ही अनिवार्य परिणाम था कि नारी को "छायावाद" मे प्रेयसी का ऊँचा आसन प्राप्त हुआ। "प्रेयसी, प्रिये, प्रियतमे और सखि, सजनी, जैसे सम्बोधन जिस मात्रा मे छायावादी कविता मे व्यक्त किए गये, पहले शायद ही किए गए हो। "सखी" और "सजनि" शब्दो की बहुलता को देखकर कुछ लोगो ने विनोद मे छायावाद को "सजनी-सम्प्रदाय" नाम दे दिया, जैसे यह मध्ययुगीन सखी सम्प्रदाय का पुनरूत्थान ही हो।"[67] यहाँ देखने वाली बात यह है कि मध्यकालीन "सखी सम्प्रदाय" मे भी "राधिका" जी को तथा "सीता जी" को कृष्ण अथवा राम से अधिक महत्व दिया गया था। वही कालान्तर मे स्त्री रूप मे पर्यवसित हो गयी, जिसका परिणाम छायावाद मे स्त्री-दशा के प्रति कवियो की कोमलतम भावनाओ का उद्भव था।

सुमित्रानदन पंत और मुक्तिबोध

मुक्तिबोध ने किसी भी लेखक को जानने, समझने के लिए उसके पारिवारिक जीवन को बहुत महत्व दिया है। क्योंकि किसी भी लेखक का विकास बाह्य समाज मे जितना होता है, उतना ही उसके विकास मे परिवार का भी "रोल" होता है। उन्होंने लिखा भी है कि - "व्यक्तिगत जीवन के भयानक उतार चढ़ाव और पीड़ादायक सघर्षों द्वारा मन बुझ जाता है। बाहर के उलझाव, भीतर के उलझाव बन जाते हैं, यद्यपि जीवन एक ओर अधिक अनुभव सम्पन्न होता है, साथ ही बौद्धिक शक्ति भी बढ जाती है, किन्तु आत्म जगत उलझ जाता है। इसका कारण यह है कि ये व्यक्तिगत जीवन सघर्ष सोद्देश्य सहेतुक आत्म विकास के संघर्ष नही होते। प्रगतिमूलक प्रगति कारक संघर्ष और होते है, स्थिति रक्षा के संघर्ष मे जीवनी शक्ति का अपव्यय होता है। निरातन का संघर्ष स्थिति रक्षा का सघर्ष है, प्रसाद को अपने जीवन क्षेत्र मे जो सघर्ष करना पड़ा, वह भी इसी प्रकार का है। पूजीवादी समाजवादी में व्यक्ति को अपनी स्थिति रक्षा का सघर्ष करना ही पड़ता है। साम्यवादी समाज में ऐसा नही होता।"[66] इस दृष्टिकोण से विचार करने पर न तो पंत में संघर्ष है और न ही तज्जनित अनुभव सम्पन्नता

ही क्योंकि पत जी की पारिवारिक हैसियत निश्चित रूप से ऐसी नही थी कि उन्हे "स्थिति रक्षा का सघर्ष" करना पडा, यही वजह है कि पत जी न केवल अपने भावो को सरल रूप मे रखते है, बल्कि उसकी मात्रा भी अत्यल्प होती है, उसमे जोश तो बिल्कुल ही नही है – "वे मात्र निवेदन करते है। उनका काव्य अधिकतर निवेदनात्मक है।"[69]

मुक्तिबोध ने लिखा है कि मानव वास्तविकता के मार्मिक–पक्षो का उद्घाटन–चित्रण करने के लिए – "कवि हृदय द्वन्द्वो का भी अध्ययन करे तथा वास्तविकता मे बौद्धिक दृष्टि द्वारा भी अन्त प्रवेश करे।"[70] अर्थात् वह कोरे सवेदनात्मकता की वजह से वास्तवो का चित्रण न करके "ज्ञानात्मक सवेदन" या "सवदेनात्मक ज्ञान" का सहारा ले। किन्तु इन "द्वन्द्वों" तथा "वास्तविकता" का अध्ययन पत जी ने कैसे किया, यह अपने आप मे रोचक है। क्योंकि – "पत जी की वास्तवोन्मुखता की जितनी भी जो भी प्रवृत्ति रही है, वह लालन–पालन परिवार, वर्ग स्वय के जीवनानुभव परिस्थिति आदि–आदि से सीमित तो है ही साथ मनो रचना से भी सीमित है।"[71] यहाँ प्रश्न उठता है कि वह "मनोरचना" कैसी थी? कहते हैं कि – "पत जी अन्तर्मुख कवि नही है – अथवा उनकी अन्तर्मुखता बहुत क्षीण है।"[72] इस "अन्तर्मुखता" को जानना जरूरी है, क्योंकि इसी आधार पर मुक्तिबोध पंत के समानान्तर "प्रसाद" को खडा करते हैं, गर्ज यह है कि "अन्तर्मुखता" ही विवेचन का केन्द्रीय बिन्दु है, लिखते है कि – "समाज के अन्दर अपनी आजीविका के सघर्ष के अतिरिक्त सामाजिक इतिहास के मनोविज्ञान से, सफलता–असफलता की कल्पना के मनोविज्ञान से जूझना पड़ता है। इसका पर्यवसन उसके आस–पास के समाज से न केवल असामञ्जस्य में होता है, वरन् इस कारण विभिन्न व्यक्तित्व चरित्रो से परस्पर आघात–प्रत्याघात द्वारा, उसका स्वयं का मन भी अन्तर्मुख होता जाता है।"[73] यहाँ देखा जा सकता है कि अन्तर्मुखता मन की वह दशा है जो दीर्घकालीन द्वन्द्वों के चलते समाज में अपने को "एडजेस्ट" न कर पाने की स्थिति मे उत्पन्न होती है। यहाँ भी मुक्तिबोध मानते से हैं कि जूझने की प्रक्रिया के दौरान ही मन अन्तर्मुख होता है, और क्योंकि पंत मे यही "अन्तर्मुखता क्षीण" है अत. उनके काव्य मे "जूझाव" कहीं भी सन्निहित नही

कहा जा सकता। रही बात "बौद्विक दृष्टि" की जिसके माध्यम से कवि वास्तविकताओ मे अपनी पैठ बना लेता है तो इस बौद्धिक दृष्टि की छानबीन करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं कि – "पत जी मे विचारात्मकता अधिक है। विश्लेषण प्रधान दृष्टि (जिसे मै बौद्धिकता कहता हूँ) बहुत कम। विचारात्मक भाव दृश्यो के चित्रण के लिए, गहन, गम्भीर, जीवनानुभूति की सक्रिय सूक्ष्म आकलन शक्ति और विश्लेषण प्रधान बौद्धिकता चाहिए। विचार जब तक स्वानुभूति के अगार मे कुन्दनवत न चमके तब तक उनमे वह शक्ति उत्पन्न नही हो सकती, जिसके बिना वे न केवल श्री हीन हो जाते है, वरन् पगु भी।"[74] कहने का साराश यह है कि पत जी मे "विचारात्मकता" भी हवाई किस्म की है, क्योंकि इसके चित्रण के लिए जिस अतिरिक्त "बौद्धिकता" की जरूरत होती है, वह पत जी मे कम है। इस दृष्टि से पत जी का काव्य न केवल "श्रीहीन" है बल्कि "पगु' भी है क्योंकि – "वास्तविक जीवनानुभव की जितनी सम्पन्नता निराला और प्रसाद मे है – (महादेवी मे भी) उतनी उस हद तक उस मात्रा मे पत जी के पल्ले नही पडी।"[75] यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मुक्तिबोध के लिए "स्वानुभूति" वही जीवनानुभव ही है, जो नाना विघ्नों–बाधाओ के संहर्ष–क्रम मे पायी जाय। बिना इस जीवनानुभूति के विचारो में "शक्तिमत्ता" नही आ सकती।

मुक्तिबोध कही गहरे यह मानते हैं कि प्रसाद जी ने "कामायनी" के रूप मे एक "काव्य थीसिस" लिख दिया है क्योंकि उसमे बौद्विक दार्शनिक भावो की कोई कमी नही है जो विघटित होकर सूक्ष्म होते हैं फिर कल्पना के माध्यम से और व्यापकतम रूप को ग्रहण करते है। वे मानते भी है कि – "काव्य रूप मे थीसिस लिखना बहुत बड़ी कला है। सत ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी ऐसा ही एक थीसिस है – विस्तृत निबन्ध है।"[76] और चूँकि – "काव्य मे थीसिस लिखना अथवा थीसिस रूप में काव्य लिखना पंत जी के बस की बात नही है।"[77] अत प्रकारान्तर से पत जी एक बडे कलाकार नही है, क्योंकि कविता मे शोध प्रबन्ध लिखना एक बडी कला है जो कि पंत जी के बूते की बात नही है।

मुक्तिबोध का मानना है कि पत जी की जनवादी रूझान उसी तरह

की है जैसे वे एक "एस्थीट" सिद्ध होते हैं। अब सवाल यह है कि वे (पंत जी) "एस्थीट" कैसे हैं? वे पत जी को "बुनियादी तौर पर एस्थीट" मानते है किन्तु इस विषय मे भी उनकी सशयग्रस्तता बराबर बनी रही। कहते है कि – "यदि यह सच है तो क्या कारण है कि "पत जी" एकान्तिक से प्रतीत होते हैं। यद्यपि उनके काव्य मे प्रगतिशील भावधारा दृष्टिगत होती है और वास्तवोन्मुखता भी प्रकट होती है, किन्तु साथ ही एकान्तिक वातावरण दिखाई देता है, यदि मान लिया जाए कि पत जी मे वास्तवोन्मुख रहने की प्रवृत्ति है तो उनका व्यक्तित्व अधिक सार्वजनिक और सकर्मक होना चाहिए। किन्तु उक्त निष्कर्ष निराधार है।"[76] स्पष्ट रूप से मुक्तिबोधि की सशयग्रस्तता को "यदि" "यद्यपि" "किन्तु" मान लिया जाए, इत्यादि वाक्यो मे देखा जा सकता है जो कि निष्कर्ष तक आते–आते स्वत ही खण्डित हो जाता है। क्या इससे यह अर्थ न लगाया जाय कि पत जी "मार्क्सवाद" के प्रति उसी तरह आकृष्ट हुए जिसको मानने मे अनेकानेक घपलो की पूरी गुजाइश है।

असल मे मुक्तिबोध "जनवाद" के स्वय प्रबल समर्थक थे कि उनको "सतही वैचारिकता" के आधार पर भी जनवाद का समर्थन न केवल काम्य बल्कि उनकी महती आकाक्षा भी थी। इस बात को तब और भी गहरे महसूस किया जा सकता है जब वे प्रसाद जी को पत की अपेक्षा बडा कवि मानते हुए भी खारिज सा करते है क्योंकि – "उनके जमाने मे रूसी क्रान्ति हो चुकी थी, भारतीय साहित्य क्षेत्रो में टालस्टाय का प्रभाव था, प्रेमचन्द मौजूद थे, राष्ट्रीय क्षेत्र मे वामपथी समाजवादी विचारधारा चल चुकी थी। कामगारों के संघर्ष, बृहत्तर हो उठे थे।"[79] जब इतना सब हो गया था तो प्रसाद जी क्यो न इन सबके प्रत्यक्ष प्रभाव मे आए, मुक्तिबोध को असल तल्खी इसी बात की थी। वे कहते भी हैं कि – "प्रसाद जी की सहानुभूति शोषितों के पक्ष में बहुत ही कम थी, यद्यपि उन्हे शोषण को तो बुरा कहना ही पडता था। फिर भी शोषितों के पक्ष मे उनकी सहानुभूति इतनी गहरी न थी कि वे उनके जीवन का भी चित्रण करें।"[80] यहाँ कहा जा सकता है कि पत जी की भी मजलूमों और वचितो के प्रति सहानुभूति न केवल सतही बल्कि तेजहीन भी थी क्योंकि इस सहानुभूति में जिस सक्रिय

तेजस्विता की महती जरूरत होती है वह पत जी मे लगभग सिफर है। यद्यपि – "मार्क्सवाद" का पथ उनके लिए ऋजु था। उन्हे चीजे साफ दिखती थी। मार्क्सवाद के विरोध मे तर्कों के चक्रव्यूह और दृष्टियो के विवरण जो औरो को दिखते थे, उन्हे नही क्योंकि वे वस्तु देख रहे थे। वस्तु स्वत प्रमाणित है। वह है आज की पूँजीवादी सभ्यता जिसका नाश आवश्यक है तभी जनमुक्ति सभव है। पत जी मार्क्सवाद के प्रति बौद्धिक ढग से आकर्षित नही हुए वरन् सवेदनात्मक मार्ग से चलकर अर्थात् भावानुभूति द्वारा आकर्षित हुए।"[81] किन्तु जैसा कि सन् 35 मे छायावाद की परिसमाप्ति को घोषित करते हुए सन् 36 मे पत जी ने कहा था कि – "इस काल की कविता स्वप्नो मे नही पल सकती"[82] तथा सन् 38 तक जिनके सामने देश की आर्थिक और राजनीतिक स्थितियो के कारण – "बहुत बडी सख्या मे नगी और भूखी जनता का प्रश्न सबसे आवश्यक और महत्व का बन गया" था। उन्ही पत के सामने स्वतन्त्रता के बाद की कविताओ में न केवल पुरानी गूजे ही दिखाई पडी बल्कि पुराने भाव, पुराने चित्र, पुरानी शैली, कुछ फेर–फार के साथ लिपटे चले आए। वही हाल है, नयी बोतल मे पुरानी शराब वाली। मुक्तिबोध कहते भी हैं कि – "जहाँ उन्होने पुरानी गूजे दुहराना शुरू किया वहाँ अगार बुझने लगे शिल्प मे झोल पड गया भाषा सुन्दर और जालीदार तो हुई किन्तु बासी भी हो गयी × × × × × × × × × काव्य की घडी टल गयी मूहूर्त निकल गया किन्तु काव्य चलता रहा, यूँही, यूँही।"[83] सक्षेप मे यह कि पत जी की वह सारी "कीमिया" निकल गयी – "जो कि मनुष्य का सम्बन्ध सूर्य के विस्फोट कारी केन्द्र से स्थापित कर देती है।"[84]

क्योंकि मुक्तिबोध लेखक की विकासमान स्थिति" को बहुत महत्व देते हैं जैसा कि उनके विश्लेषण में पत जी हैं। इसी वजह से वे पत जी को सारी वयता के बावजूद "तरूण" मानते हैं, वह यों ही नही बल्कि – "तरूण व्यक्तित्व में कृतित्व का जो माध्यम होता है और अपने को सतत् विकासमान बनाए रखने के लिए जो संवेदनशील जागरूकता रहती है, वह पत जी मे भरपूर है। क्या यहाँ यह नही माना जाना चाहिए कि मुक्तिबोध में भी जो "ज्ञान–पिपासा" है या एक ही खूँट मे बधकर न रह पाने के विशिष्ट शैली है वह बहुत कुछ पत जी

से ही प्रेरित हो। इन्ही के चलते वे मार्क्सवाद से भी अतिक्रमण करते दिखाई देते है।

मुक्तिबोध पत जी की जिस तरूणाई की दाद देते नही अघाते वह इतनी जल्दी वृद्धावस्था या शिशुता की ओर (क्योंकि छायावादी कवि की प्रारम्भिक स्थिति (शिशुता) का द्योतक है) लौटेगी। यह एक रोचक विषय है जिसका प्रमाण पत जी की "स्वर्ण धूलि" और "स्वर्ण किरण" है। यहाँ आकर डॉ0 रामविलास शर्मा का यह कथन युक्तिसगत प्रतीत होता है कि – "स्वप्न लोक छोड़कर यथार्थ की कठोर धरती पर उतरने की घोषणा जो सबसे पहले कर चुके थे, वही उस कठोर धरती को छोडकर स्वप्न लोक की ओर उडे भी सबसे पहले।"[85]

प्रगतिवादी स्थितियाँ

डॉ0 नामवर सिह के अनुसार – "छायावाद यदि इस सदी के सास्कृतिक पुनर्जागरण की उपज था, तो प्रगतिवाद राजनीतिक जागरण की।"[86] इसके आलोक मे छायावादी राजनीतिक स्थितियो से कितना विचलन प्रगतिवाद मे हुआ, देखना प्रासगिक है। एक ओर भारतीय समाज मे उभरता हुआ जन–सकट था, तो दूसरी ओर रूस मे मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर स्थापित साम्यवाद था जो वहाँ के विषम सकट और सघर्ष से गुजरे जन–जीवन को बल दे रहा था। जो सामन्तवाद और पूँजीवाद की विभीषिकाओ को कुचल कर सर्वहारा का आधिनायकत्व स्थापित कर रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी एक ओर अपने समाज मे उत्पन्न अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक विसगतियो और सकटों को देख रहा था, दूसरी ओर उसके सामने रूस का वह समाज था, जिसमे सामान्य जन–जीवन को महत्व और सुख–सुविधा का ख्याल रखा जाता था। इन विषम परिस्थितियों के भीतर देश के युवा वर्ग का स्वाभाविक विद्रोह था।

प्रगतिवादी विचार धारा को भारत मे उभारने के लिए वामपथी आन्दोलन की मुख्य भूमिका कही जा सकती है। किन्तु भारत में वामपंथ के वास्तविक

महत्व को न केवल तोड–मरोड कर पेश किया गया बल्कि अपने मूल रूप मे यह आन्दोलन भी दो रूपो मे फैला। पहला साम्यवाद के रूप मे एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप मे फैला, जिसकी भूमिका सोवियत रूस की ही सर्वोच्च "कम्यूनिस्ट सस्था" "कमिर्न्टन" तय करती थी, दूसरी सस्था "काग्रेस सोशलिस्ट दल" थी, जो कि भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के ऐसे तत्वो की प्रतिनिधि–सभा थी जो लोकतान्त्रिक ढग से समाजवाद मे अपनी आस्था दिखाती थी। इन दोनो आन्दोलनो का मुख्य उद्देश्य साम्राज्यवादी शक्तियो का विरोध था। किन्तु कालान्तर मे "भारत छोडा आन्दोलन" के दौरान "कम्यूनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया" की भूमिका सदेहास्पद रही और राष्ट्रीय आन्दोलन मे उनकी भूमिका हासिये पर आ गयी। मार्क्सवाद को अपना आधार दर्शन बना कर चलने वाले ये दोनो ही दल एक दूसरे पर कीचड उछालने से भी न हिचके। जहाँ कम्युनिस्टो ने राष्ट्रीयता सम्पन्न समाजवादियो को "झूठे साम्यवादी" की "महिमा से मडित" किया, वही पर समाजवादियो ने भी "कम्युनिस्टों" को "सोवियत सघ की उपग्रह" कहा। स्पष्ट रूप से किसी स्वस्थ विचारधारा का प्रादुर्भाव न हो सका। इन विशेष स्थितियो मे से ही "प्रगतिशील लेखक सघ" का प्रादुर्भाव हुआ।

सन् 1936 मे "प्रगतिशील लेखक सघ" की स्थापना के साथ ही हिन्दी मे प्रगतिवादी आन्दोलन की शुरूआत होती है। असल मे यह सघ अन्तर्राष्ट्रीय सस्था "प्रोग्रेसिव रायटर्स एसोसियेशन" का हिन्दी रूपान्तरण है जो सज्जाद जहीर तथा डॉ0 मुल्कराज आनन्द के उद्योग से भारत मे स्थापित हुआ। इसके प्रथम अध्यक्षीय भाषण से मुशी प्रेमचन्द ने आत्वान किया कि – "वह (प्रगतिशील साहित्यकार) अपने साहित्य से दु खों का अन्त कर देना चाहता है।"

× ×

"वह (साहित्यकार) देश भक्ति और रानजीतिक के पीछे चलने वाली सच्चाई की नही, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।"87

× × × × × × × × × × × × × × × × × ×

मुशी प्रेमचन्द ने इसी अभिभाषण मे यह भी कहा कि – "लेखक तो स्वाभाविक रूप से प्रगतिशील होता है, अत "प्रगतिशील लेखक सघ" मे प्रगतिशील शब्द अनावश्यक है।"S8 इस अभिभाषण मे साहित्यकार की पूरी समग्रता झलकती है। क्योंकि जो स्वाभाविक रूप से प्रगतिशील है वह समाज की राजनीति की तथा सस्कृति की सडी–गली प्रवृत्तियो का अवश्य ही नाश चाहता है और यह नाश ही वस्तुत "दु खो का अन्त" है जो कि एक साहित्यकार का गुरूतर दायित्व है।

बाद के लोगो मे इस "प्रगतिशील" शब्द को लेकर विवाद बराबर बना रहा। विवाद का असली मुद्दा था कि "प्रगतिशीलता" और "प्रगतिवाद" का क्या अन्तस्सम्बन्ध हो? कुछ लोगो का विचार है कि "प्रगतिवाद" केवल वह है जो "द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद" को अपना आधार बनाकर चलता है और "प्रगतिशील साहित्य" प्रारम्भ से लेकर आज तक का है। यदि एक क्षण के लिए मार्क्सवाद को प्रगतिवादी दर्शन मान भी लिया जाय तो भी प्रगतिशीलता और प्रगतिवाद मे कोई द्वन्द्व नही रह जाता। क्योंकि हरेक युग का साहित्य अपने युग से जो सवेदनात्मक प्रतिक्रिया करता है उसका आधार तात्कालिक दर्शन ही होता है। यह सवेदनात्मक प्रक्रिया दो रूपो मे हो सकती है या तो वह अपने युग से सामञ्जस्य बैठा लेता है अथवा उससे पूरी तरफ विद्रोह करता है। प्राय एक नवीन धारा का आगाज अपने पूर्वगामी के प्रति विद्रोह से ही होत है।

प्रत्येक युग के साहित्य का अपना निजी दर्शन या आधार होता है जिसके इर्द–गिर्द ही साहित्य घूमा करता है। जैसा कि मुशी जी ने कहा था कि "वह दु खो का अन्त कर देना चाहता है, भक्तिकाल मे तुलसीदास भी इसी "दु खों का अन्त" करते दिखाई देते हैं। "रामचरित मानस" में लिखते हैं कि – "सुरसरि सम सब कर हित होई।" इस भावना का आधार निश्चय ही धर्म है पर मानव–भूमि ही गायब नही है। मानवता के विजय के प्रति यह अप्रतिम आस्था "छायावाद" मे भी है, जब कवि लिखता है कि – "विजयिनी मानवता हो जाय।" यहाँ देखने की बात यह है कि इन समस्त मानवता के पुजारियों के लिए "समन्वय

की भावना" कितना गहरा दायित्व निभाती है। कहा जा सकता है कि बिना "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" के ही दु खो का अन्त करने की एक सार्थकता इसमे है, अत "अत स्वाभाविक प्रगतिशीलता" लेखक की निभी जा रही है। अब यदि प्रगतिवादी साहित्य मे मार्क्सवाद को आधार बनाकर उसी दु खो के अन्त की बात करते है तो उसमे अप्रगतिशीलता का तत्व कैसे समाहित हो गया? सवाल "प्रगतिवाद" और प्रगतिशीलता के द्वन्द्व का नही बल्कि उन सडी–गली विसगतियो के सर्वनाश का है, जिससे उबरकर मानवता एक उन्मुक्त वातावरण का अनुभव कर सके। यहाँ एकदम कहा जा सकता है कि मानव–मुक्ति का जो यक्ष–प्रश्न इस काल के कवियो लेखको तथा विचारको द्वारा उठाया गया है, उसकी पूरी समग्रता "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" मे ही झलकती है।

परतन्त्र भारत मे अनेकानेक समस्याओ का अम्बार लगना उस युग की स्वाभाविक परिणति थी। इस युग मे कुछेक ही सुविधा सम्पन्न लोग थे जिनको इनकी खातिर साम्राज्यवादियो के तलवे चाटने पडते थे। समस्याग्रस्त तो सभी थे पर इनमें भी भीषण यातना के शिकार थे, किसान और मजूर। जो कि तात्कालिक साम्राज्यवादी–सामती–शोषण की दोधारी तलवार पर चलने को विवश थे। इन्ही किसानो और मजूरों को ही मार्क्स ने अपना आधार बनाया तथा समाज की विसगतियो को आर्थिक आधार पर नापने–जोखने का सार्थक प्रयास किया। अत प्रगतिवादी लेखकों ने भी उसी कृषक–मजूर की मुक्ति के माध्यम से उस समस्त पीडित समुदाय की मुक्तकामी इच्छा का प्रतिनिधित्व किया जो कि उनके वर्षों का स्वप्न था। जैस–जेसे आजादी की लड़ाई बढ़ती गई जीवन की जटिलताओं में भी श्रीवृद्धि होती गयी, सभ्यता जैसे–जैसे विकसित होती गयी उसी क्रम मे शोषण के चालाक तरीको मे भी बढ़ोत्तरी होती गयी। शोषण के चुनिदा तरीकों के खिलाफ इस समय का साहित्य सीधी मुठभेड करता है।

हिन्दी साहित्य मे 1936 मे "युगान्त" की घोषणा करने वाले पत को भी उससे पहले ही लगने लगा था कि – "इस युग की कविता स्वप्नों में नही पल सकती।"[89] तथा सन् 1938 तक आते–आते उनके सामने देश की राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण – "नगी और भूखी जनता का प्रश्न सबसे आवश्यक

और महत्व का प्रश्न बन गया।"[90] इसी कारण पत 1939 की "युगवाणी" "ग्राम्या" को घोषित करते है। असल मे पत के सामने जो स्थिति सन् 38 मे साफ हुई, वह आकस्मिक रूप से मुशी प्रेमचन्द तथा सरदार भगत सिह के सामने 30–31 मे ही स्पष्ट हो चुकी थी। मुशी जी ने सन् 30 के अपने उपन्यास "गबन" के माध्यम से "सुराज" के जिस वास्तविक अर्थ की आकाक्षा व्यक्त की है कुछ वैसा ही भगत सिह भी अपनी मौत के कुछ समय पहले महसूस करते है, उन्होने अपने पत्रो मे इस बात का उल्लेख किया है – "भारत मे सघर्ष तब तक चलता रहेगा, जब तक मुट्ठी भर शोषक आम जनता के श्रम का शोषण अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए करते रहेगे। इस बात का कोई महत्व नही है कि वे शोषक विशुद्ध रूप से ब्रिटिश पूँजीपति है या गठबन्धन किए हुए अग्रेज और भारतीय या विशुद्ध भारतीय।"[91] स्पष्ट रूप से भगत सिह के सामने देश की आजादी का ही नही बल्कि "वास्तविक आजादी" का प्रश्न ही ज्वलन्त है। यह अवास्तविक आजादी" सन् 36 मे अपने पूरे उभार के साथ "गोदान" मे देखी जा सकती है जिसमे मुशी जी ने ऐसे चालाक खद्दर धारियो के पाखण्ड को न केवल सूघ लिया वरन् उनपके उस रूप का पर्दाफास भी किया जिसमे वह एक तरफ तो आजादी की महत्वपूर्ण लडाई मे "लीडर" भी है, दूसरी तरफ आम किसानों तथा मजूरो को उनकी पूरी मेहनताना भी नही देना चाहते। "इस काल के साहित्यकार के सामने मार्क्स की अवधारणा "वर्ग सघर्ष" पर आधारित "वर्गहीन समाज" की स्थापना सन् 1917 मे सोवियत सघ के रूप में रूपायित हो चुकी थी। जिससे भारत मे भी उसी तरह की समाज व्यवस्था की, व्यावहारिक अडचनो को दूर करने की सार्थक पहल की जा सकती थी। किन्तु कुछ लोग इसे एक अधूरा दर्शन मानते हुए भारत मे इसकी प्रासगिकता को असिद्ध करने का प्रयास करते हैं। किन्तु इसमें जो देखने की बात है वह यह कि इसमे पूरे वैश्विक स्तर पर केवल दो वर्ग ही माने गये है, एक शोषक वर्ग, दूसरा शोषित वर्ग जो कि प्रत्येक जाति के प्रत्येक समाज में अपने सघर्ष के साथ सनातन से चले आ रहे हैं। अत शोषितों मे केवल मजूर और कृषक ही नही बल्कि समाज द्वारा सतायी हुई वह नारी भी है जो कि सामंती रूढियों द्वारा कही न कही आक्रान्त है। अत

भारत मे इसकी असिद्धता का सवाल ही नही उठता। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रत्येक कालावधि का एक गत्यात्मक और समग्र दर्शन है, जिसकी प्रासगिकता तब तक बनी रहेगी, जब तक इस विश्व मे कही भी शोषक और शोषित के वर्ग–भेद कायम रहेगे। इसी दर्शन के माध्यम से भौतिक ससार से मानव मुक्ति का वह यक्ष प्रश्न जुडा है जिसको किसी भी आध्यात्मिकता से हल नही किया जा सकता। अगर उसे हल करने का किसी को मुगालता हुआ भी तो वह आधार वायवी ही होगा। अत कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद और मार्क्सवाद का वही अन्तस्सम्बन्ध है जो छायावाद मे गाधी, तथा विवेकानन्द के सास्कृतिक दर्शन का था।

कुछ लोगो का विचार है कि "प्रगतिवाद" सर्वथा विदेशी विचारधारा है, क्योंकि वह मार्क्सवादी विचार सरणि पर आधारित है, जिसका जन्म भारत मे नही हुआ था। ऐसे लोगो के लिए गाधी जी का यह वाक्य, जिसमे वे कहते है कि – "मैं चाहता हूँ कि सब देशो की ससकृति मेरे घर के इर्द–गिर्द आजादी से फले–फूले।"[92] स्पष्ट रूप से गाधी जी प्रत्येक देश से आने वाले ज्ञान–विज्ञान को श्रेष्ठतर मानते हुए, अपने सास्कृतिक गवाक्षो को खोलने की बात करते है। वैसे भी ज्ञान–विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में क्या देशी है, और क्या विदेशी, इसकी कोई खास मायने नही है। खास तौर पर तब जब कि इन्ही विदेशीपन से समग्र मानवता का हित सिद्ध होता हो।

इस आन्दोलन का सबसे दिलचस्प पहलू यह कि जिस "निराला" को आधुनिक काव्यधारा का प्रथम पुरूष माना जाता है, उन्ही "निराला" के मन मे इस लेखक सघ के प्रति कैसी सशयग्रस्तता थी। वह रामविलास शर्मा को लिखे गये सन् 36 के उस पत्र मे देखी जा सकती है, जिसमे वे लिखते है कि – "यहाँ एक दल ऐसा है जो उच्च शिक्षित है। शायद सोशलिस्ट भी है। इसके कुछ लोग योरोप भी हो आए हैं। स्त्री और पुरूष हिन्दू और मुसलमान दोनो। इन्होंने प्रोग्रेसिव रायटर्स मीटिंग या एसोसियेशन नाम की सस्था कायम की है। ये उच्च शिक्षित जन कुछ लिखते भी है, इसमें मुझे सशय है, शायद इसीलिए

लिखने का एक न या अविष्कार इन्होने किया है औरवहइनमे जोर पकडता जा रहा है।"[93] इस पत्र की दो–तीन बातो को स्पष्ट कर देना आवश्यक है, क्योंकि यह उसकी प्रारम्भिक स्थितियो से जुडा है। पत्र मे जो नही लिखा गया किन्तु उसकी अनुगूँज इसमे स्पष्टतया हे, वह पहली बात यह है कि, प्रारम्भ के लेखक कुछ भी नही लिखते और कुछ अगर घिसट–पिसट कर लिखते भी है तो वह निश्चित ही छायावादी भाव–बोध से दूर है। अलावा इसके उन्होने जो "लिखने का नया अविष्कार किया है वह इसलिए क्योंकि लेखन की जो खोटाइया है उन पर पर्दा पड जाय। पर यहाँ यह ध्यातत्व है कि इस सशयग्रस्तता के तिरोहित होते ही निराला ने भी उसी लेखन क्रम को अपनाया न केवल विषय के स्तर पर बल्कि भाषा के स्तर पर भी जिनका ज्वलन्त दस्तावेज उनकी कविताए – बालल राग–6, झीगुर डटकर बोला, विधवा, भिक्षुक, किसान की नई बहू तथा कुकुरमुत्ता है।

डॉ0 राम स्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार– "यह नियति का कठोर व्यग्य है कि जिस लेखक सघ की स्थापना के समय ही उसके प्रथम अध्यक्ष ने बडे आत्मविश्वास और नेकनीयती की भावना के साथ उसके सदस्यों तथा अन्यों को आगाह किया था कि लेखन कर्म को राजनीति से आक्रान्त न हो जाना चाहिए। उसी सघ के सदस्यों ने बार–बार साहित्य को राजनीति का पक्षधर और पिछलग्गू घोषित किया।[94] साहित्य को राजनीति का मच न बना दिया जाय यह डर मुशी जी को पहले ही था इसीलिए वह साहित्य और राजनीति के सम्यक सम्बन्धों पर बार–बार वक्त देते हैं। आकस्मिक नही कि आचार्य शुक्ल भी बिना वर्ग संघर्ष तथा मार्क्स का उल्लेख किये अपनी स्पष्ट धारणा मुंशी जी से बहुत कुछ मिलती जुलती ही रखते हैं। वे कहते हैं कि– "उपन्यासकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ा कर आप देखना चाहिए, केवल राजनीतिक दलो की बातो को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति से ऊपर रहना चाहिए। सदा उसके इशारो पर ही न नाचना चाहिए।"[95] यहाँ स्पष्ट रूप से आलोचक और साहित्यकार के अनुभव अद्‌भत रूप से मिल बसे हैं जो

कि साहित्य की भूमिका तय करने मे एक प्रभावी कदम सिद्ध हो सकता है।

किन्तु इस स्थिति का दु खद पहलू यह है कि "निषेध मे आमत्रण होता है" वाली तर्ज पर अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य लाल रूस और लाल चीन, लाल सेना, का गुणगान करता हुआ न केवल प्रचार तक सीमित हो गया बल्कि साहित्य मे ऐसी बहुत सी दुरभिसधियो तथा खेमे बाजियो को भी स्थापित कर गया जिसमे तमाम साहित्यकार कुचल गये।

प्रगतिवादी लेखको ने जिस जनतात्रिक परिस्थितियो मे जनता का मोर्चा सभाला उससे साहित्य और समाज की सवादशीलता का पता चलता है। इसी सवाद की पुनर्विक्षा के लिए उस काल मे जो एक और मौलिक सवाल उठाया गया वह था – "साहित्य किसके लिए? इसके उत्तर मे "साहित्य समाज के लिए" जैसी धारणा का जनम होना स्वाभाविक ही था। तब इसमे "एक सकीर्ण सी भावना" जगह अख्तियार करती है वह था समाज मे केवल कृषको और "मजूरों" को ही शामिल करना। इसकी प्रतिक्रिया मे – "अनेक सतर्क मध्यवर्गीय लेखक भडक उठे। "विशाल भारत में उस समय "अज्ञेय" ने इस मत का विरोध करते हुए कहा कि "किसान–मजूरों की तरह आज निम्न मध्य वर्ग भी पीडित है – यह नही, बल्कि इस समाज व्यवस्था मे छोटे–बडे सभी लोग परेशान हैं, इसलिए साहित्य सबके लिए– सम्पूर्ण मानव जाति के लिए है।"[96] इस तर्क के पीछे जो भाव था वह निश्चय ही – "आदर्शवादी गुब्बारे मे छिपी हुई मध्यमवर्गीय स्वार्थपरता।"[97] ही थी। कारण यह है कि "छोटे–बडे की परेशानियों का सबब अन्याय है, छोटा (निम्न श्रेणी) इसलिए परेशान है कि उसको दो जून की रोटी भी मयस्सर नही है जबकि बडे (बुर्जुवा) की परेशानी यह है कि वह इतने सारे धन–दौलत को कहां छुपा दे। एक को नीद इसलिए नही आती कि उसके पास सलीके का बिस्तर ही नही है, जबकि दूसरे को नीद इसलिए नही आ रही है कि उसकी शैय्या अत्यन्त मसृण है। "मानवता" पर बहस करने वाले ऐसे लोगो को उनकी व्यापक पृष्ठभूमि मे देखना अनिवार्य है, क्योंकि – "ऊनी कोट पहनकर आने वाला विद्यार्थी

और फटा कुर्ता पहनकर विद्याध्ययन करने वाला विद्यार्थी इन दोनो की अलग–अलग श्रेणिया है, जिनके भाव–समुदाय और मनोवैज्ञानिक तत्व अलग–अलग है।"[98] इसीलिए– "मनुष्य सत्य" का जो अर्थ वह लेता है "मानवीयता" का जो अर्थ उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह अर्थ निश्चय ही अन्य उच्च वर्ग द्वारा लिए अर्थ से बहुत कुछ भिन्न होता है।"[99]

प्रगतिवाद और मुक्तिबोध

प्रगतिवादी आन्दोलन और मुक्तिबोध का लेखन काल आकस्मिक रूप से एक ही है। वे कहते हैं कि – "सन् 36 से तो मै भी कविताए लिख रहा हूँ।"[100] प्रगतिवाद का आधारभूत दर्शन "मार्क्स" का "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" है। मुक्तिबोध ने इस दर्शन का अध्ययन बहुत ही गहरे किया था वह इसको एक वैज्ञानिक दर्शन मानते है – "मार्क्सवाद यदि एक विज्ञान है (जैसा कि वह है) तो वैसा स्थिति मे उसके लिए तथ्यानुशीलन – जीवनगत और काव्यगत दोनो एक साथ, प्राथमिक और प्रधान महत्व रखता है।"[101] उन्होने समाज को सर्वोपरि मानते हुए मानव चेतना को उसी से परिचालित होना माना है। उनका मानना है कि समाज की विकास की स्थिति मे उसकी परिवर्तनीयता की वजह से मानव की चेतना मे भी परिवर्तन होता है। अत किसी भी लेखक को जानने के लिए उसके परिवेश की जानकारी निश्चित तौर पर अभीष्ट है, वे कहते हैं कि – "हम लोग परिवार और पारिवारिक जीवन को साहित्य के अध्ययन मे विशेष महत्व नही देते। आज भी व्यक्ति का विकास बाह्य समाज मे तो होता ही है, वह परिवार मे भी होता है। परिवार व्यक्ति के अन्त करण के सस्कार मे प्रवृत्ति विकास में पर्याप्त योग देता है।"[102] स्पष्ट रूप से उनका मानना है कि लेखक के सृजन में जो सफलता या विफलता दिखाई देती है उसके मूल भाव का स्रोत उसकी पारिवारिक हैसियत ही है। परिवार के भीतर ही नए और

पुराने का जबर्दस्त सघर्ष भी होता है, जिसमे उदार और अनुदार दृष्टियो का भेद स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, यदि इन्ही स्थितियों के चलते कोई भी लेखक अन्र्तमुख हो जाता हैतो यह उसकी निजी विशेषता न होकर उस सामाजिक परिदृश्य की देन ही कही जा सकती है। यहा एकदम कहा जा सकता है कि परिस्थितियो की पेचीदगियो से बाहर न निकल सकने के कारण ही मन निबिड रूप से अन्तर्मुख हो जाता है।

मुक्तिबोध एक सचेत विचारक होने के साथ अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को बहुत ही गहरे महसूस भी करते हैं। समाज के एक जिम्मेदार नागरिक की हैसियत से वे उन सभी सामाजिक विसगतियो को भी एक नये आयाम से देखने का उपक्रम करते हैं। वे कविता को या साहित्य को उसके उपयोगितावादी पहलू के तराजू मे तौलते है, तथा प्रकारान्तर से ''कला, कला के लिए'' सिद्धान्त का मखौल भी उडाते हैं। यह आकस्मिक नही कि जिन मुंशी प्रेमचन्द ने ''साहित्य की उपयोगिता को दृष्टि मे रखकर अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि– "मुझे यह कहने मे हिचक नही कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।"[103] वही पर मुक्तिबोध "कविता का मूल प्रश्न जीवन–जगत के ज्ञान के अधूरेपन या पूरे पन विकारग्रस्तता या शुद्धता के प्रश्न के साथ अटूट"[104] रूप से जोडते है।

मुक्तिबोध के लिए "समाज" बालू का ढेर नही है जिसमे प्रत्येक कण पास–पास हुए भी विलग है बल्कि वह एक ऐसा दरख्त है जिसकी प्रत्येक शाखा–प्रशाखा एक दूसरे से गहरे जुडी है। वे कहते हैं कि – "समाज रेत का वह ढेर नही जिसमें का प्रत्येक कण एक दूसरे से घनिष्ठ सम्पर्क रखते हुए भी एक दूसरे से विलग और स्वतन्त्र रहता है। समाज एक वृक्ष की भाति है जिसका प्रत्येक भाग प्रत्येक अंश प्रत्येक कण और प्रत्येक बिन्दु एक दूसरे से और अपने पूर्ण अखण्ड से आवयविक सम्बन्ध रखता है।"[105]

इसी क्रम में वे उस समाज का भी पर्यवेक्षण करते है जिसमे

आज का कवि रह रहा है, वे कहते हैं कि – "समाज के विकट दृश्य दिखाई दे रहे हैं। शोषण और उत्पीडन पहले से बहुत अधिक बढ गया है। नोच–खसोट अवसरवाद, भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। कल के मसीहा आज उत्पीडक हो उठे हैं। अध्यात्मवादी विचार जनता से दूर जा बैठे हैं।"[106] ऐसी सामाजिक स्थिति का स्वाभाविक प्रतिफलन यह है कि – "गरीब वर्ग अधिक–अधिक गरीब होते जा रहे हैं और धनी वर्ग अधिकाधिक श्रीमान्।"[107] ऐसा बेबाक वर्णन ही उनको प्रतिबद्ध मार्क्सवादी बनाता है जो कि जनता की मुक्ति मे ही अपनी मुक्ति ढूढता है। समाज के अन्दर या बाहर किसी भी व्यक्ति की हैसियत वस्तुत उसकी "सफलता" को दृष्टि मे ही रखकर आकी जाती है, यह "सफलता" बहुत कुछ आर्थिक मापदण्डो पर आधृत है इसी को दृष्टि मे रखकर वे कहते हैं कि – "केवल सामन्ती प्रभाव ही, (जिससे जूझने के कारण उसके स्नेह सम्बन्ध तोडे–मरोडे गये है) परिवार के अन्दर बाहर उनकी परिस्थिति खराब होने का एक मात्र यही मूल कारण नही है, वरन् उसके मूल मे और भी एक तथ्य है जिसे धन यानी आर्थिक क्षमता ओर तज्जन्य और तदनुषगी सामाजिक प्रतिष्ठा कहा जाता है। जिसे समाज में "जीवन की सफलता" (घोषित या अघोषित रूप मे) कहा जाता है। परिवार के अन्दर उसी की दृष्टि से और आधार पर ऊँच–नीच की कल्पना, सफलता–असफलता की कल्पना पर किए बैठती है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मुक्तिबोध की आकाक्षा ऐसे समाज की है जो वर्गहीन हो। अत वे समाजवादी विश्वासों के चलते पूंजीवादी पाखण्डों की पोल भी खोलते हैं – "जिसमे प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिए दूसरों को चूल्हे में जाने दो"[108] जैसे गलीज सिद्धान्तों पर आधारित है। दरअसल बात यह है कि आधुनिकता के आदर्शभूत देश यूरोप–अमेरिका माने गये है जो निश्चय ही खेद जनक है। इसका दुष्परिणाम यह है कि बहुत से भारतीय कवि भी उपरोक्त देशों की संस्कृतियों का बीजारोपण करने के प्रयास में लगे रहते है। उनकी निगाह में यदि यूरोप–अमेरिका उदास हैं तो वे यह भरसक कोशिश करते हैं कि इस उदासी और दु खीपन को वैचारिक तौर पर स्मगल करके एक "फैशनेबिल्टी" को जन्म दिया जाए। किन्तु यदि वही दशा (लगभग) हमारे यहाँ भी उत्पन्न

हो जाए तो यदि कवि उसको ग्रहण करके अपनी कविता में उकेरता है तो आलोचको के सामने सबसे बडी कठिनाई यह उत्पन्न हो जाती है कि उसकी समीक्षा किस प्रकार से करे, देशी तरीके से अथवा विदेशी ढग से। आज की स्थिति को देखकर कोई भी कवि यदि अपने युग से सामञ्जस्य न बिठा पाये तो यह उसका दोष नही है बल्कि तद्‌युगीन स्थितियो का ही है। असल मे – "आज सुशिक्षित मध्यवर्ग के लिए भारतीय परिस्थिति अनुकूल नही है। भ्रष्टाचार अनाचार ठगी, कलह, राग द्वेष, दाँव–पेच के दृश्य हमे सर्वत्र दिखाई देते हैं। पैसे की कीमत सर्वत्र बढ गयी है। आदमी की कीमत गिर गयी है। ऐसी स्थिति मे भारतीय कवि की कविता मे जो उदासी वैकल्य, ग्लानि और क्षोभ का चित्रण हुआ है वह स्वाभाविक ही है।"[109] तो जिस प्रगतिशील वैचारिकता की अगतिकता का प्रश्न डॉ0 राम विलास शर्मा ने उठाया है क्या उपरोक्त अश उसका प्रत्याख्यान नही करता है? वे लिखते है कि – "यदि प्रगतिवाद एकागी था तो उसे सर्वांगीण बनाया जा सकता था। उसने केवल राजनीतिक पक्ष उठाया, यह बात सही नही है पर सही मान भी ली जाए तो मुक्तिबोध को प्रगतिवाद की उसी परम्परा से जोडना उचित होता। यदि पुराना प्रगतिवाद कमजोर है तो नए प्रगतिवाद को समर्थ बनाओ।"[110] यहाँ देखने की बात यह है कि मुक्तिबोध ने जिस "राजनैतिक एकागिता" की बात की है, उससे आगे निकलने पर सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ पूरी तरह "चेज" हो चुकी है। अब मनुष्य के सामने विपरीत परिस्थितियो के चलते समस्याओं का रूप बदल चुका है। तद्‌वत कवि की सवेदनात्मक प्रतिक्रिया भी रूपान्तरित होकर भिन्न शिल्प मे भिन्न भाषा मे और भिन्न भाव मे अपने को रूपायित करती है तो बदले हुए परिवेश मे मानव की मुक्ति की बात जो वे करते हे क्या वह प्रगतिशीलता को ही आगे बढाने का उपक्रम नहीं है? वह लिखते भी हैं कि – "नई कविता के क्षेत्र में, असदिग्ध रूप से प्रगतिशील परम्परा की एक लीक चली आयी है। प्रश्न इस परम्परा को आगे बढाने का है।"[111] डॉ0 शर्मा पहले तो उस आक्षेप को स्वीकार ही नही करते जो मुक्तिबोध ने ही नही, बल्कि बहुत से लेखकों ने प्रगतिवादी आन्दोलन पर लगाए हैं, किन्तु उसके कुछ देर

अनमने ढग से उनकी बात को मान लेते हैं। किन्तु जैसा कि डॉ0 शर्मा का खुद ही अभिमत है कि – "तारसप्तक के पहले और बाद की प्रगतिशील कविता का जो विकास हुआ। उसमे अनेक कमजोरिया थी। उन दिनो रूस मे लाल फौज की वीरता से प्राय सभी लेखक प्रभावित थे। अनेक प्रगतिशील कवियो ने लाल फौज पर कविताए लिखी जनमे अक्सर भोडी तुकबन्दी और निरर्थक शब्द जाल के दर्शन होते थे –

व्योम मे सगर्व जा रहा सवर्ग लाल।

× ××××××××××

भूमि पै चला रही सधीर वीर अगना।
किन्तु धैर्य की दिवाल हो रहा भी मगरा।।

× ××××××××××××

यद्यपि अधिकाश प्रगतिशील कवि मध्यम वर्ग के थे, तथापि कविता मे अपने को सर्वहारा कल्पित करके वे मध्यवर्ग को गालिया देते थे और ये गालिया भी ऐसी नही पैनी मजदूर देते हे वरन् निहायत शालीन और नीरस –

लहू नही, गोमूत्र बहता इन जिस्मों में।
इसी से सदा डरते, क्रान्ति मे नवीनता से घबराते।।

ये कवि अपनी कविताओ मे कम्यूनिस्ट पार्टी के राजनीतिक कार्यक्रम को ढालने का प्रयत्न करते थे। कम्यूनिस्ट पार्टी कहती थी, यह आजादी झूठी है। कवि ने लिखा –

इत्ते से पानी से बुझने वाली किसकी यहा तृषा?
पहिले से ही गरजने वाली यह आजादी मृषा–मृषा।

×××××××××××××× सर्वत्र कला के प्रति असावधानी का निदर्शन।"[112]

इन उद्धरणों मे देखने की बात यह है कि प्रगतिशील लेखक सघ के प्रथम अध्यक्षीय भाषण में जिस राजनीतिकरण से कवि को आगाह करते हुए मुंशी जी ने आशका जाहिर की थी वही बातें शर्मा जी के उद्धरणों में भरी हैं। तो यदि

मुक्तिबोध ने प्रगतिवादी राजनीति कविताओ की प्रखर, आलोचना की तो वह डॉ0 शर्मा से आकस्मिक तौर पर एक है।

यहाँ एक यक्ष प्रश्न यह है कि जिन मुक्तिबोध ने कविता मे राजनैतिक हस्तक्षेप की आलोचना की उनकी कविताओ मे या उनके लेखो मे कविता और राजनीति के बीच क्या स्थिति रही है? मुक्तिबोध जेहनी तौर पर सामाजिक प्रतिबद्ध कवि है वे साहित्य और समाज मे तथा सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि मे भी फर्क नही देखते। उनका मानना है कि कोई भी लेखक साहित्य का सृजन आत्म प्रकटीकरण के लिए नही करता और न ही जनता की सेवा करने के लिए ही। दरअसल वे उस दृष्टिकोण को ही दिमागी फितरत समझते हैं, जिसमे सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि मे ही द्वैत समझा जाता है, वे कहते है कि – "कवि कहानी लेखक, उपन्यासकार की सौन्दर्य प्रतीति मे वह सामाजिक दृष्टि सन्निहित रहती है, जिसका उसने उन जीवन–प्रसगो के मार्मिक आकलन के समय उपयोग किया था। इस सामाजिक दृष्टि के बिना वह सौन्दर्य प्रतीति ही असम्भव है।[113] दरअसल इसका सबसे बडा कारण है कि वे व्यक्ति और समाज मे फर्क नही देखते क्योंकि समाज उनके लिए बालू का वह ढेर न होकर, जिसमें प्रत्येक कण पास–पास होते हुए भी उससे दूर होता है बल्कि वह जीवन्त प्रक्रिया है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति, हरेक के साथ आवयविक ढग से गहरे जुडा है वह लिखते हैं कि – " हम जिस समाज संस्कृति, परम्परा, युग और ऐतिहासिक आवर्त मे रह रहे हैं उन सबका प्रभाव हमारे हृदय का सस्कार करता है। हमारी आत्मा मे जो कुछ है वह समाज प्रदत्त है – चाहें वह निष्कलुष अनिन्द्य सौन्दर्य का आदर्श ही क्यो न हों। हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है। आत्मा का सारा सात–तत्व प्राकृत रूप से सामाजिक है। व्यक्ति और समाज का विरोध बौद्धिक विक्षेप है, इस विरोध का कोई अस्तित्व नही। जहाँ व्यक्ति समाज का विरोध करता सा दिखाई देता है, वहाँ वस्तुत समाज के भीतर की ही एक सामाजिक प्रवृत्ति दूसरी सामाजिक प्रवृत्ति से टकराती है। वह समाज का

अन्तर्विरोध है न कि व्यक्ति के विरूद्ध समाज का या समाज के विरूद्ध व्यक्ति का। "व्यक्ति–विरूद्ध–समाज" की इस विचारधारा ने ही हमारे सामने कृत्रिम प्रश्न खडे किए है – "जिसमे एक है सौन्दर्य प्रतीति के विरूद्ध सामाजिक दृष्टि।"[114]

यहाँ आकर वे विशुद्ध मार्क्सवादी हो जाते है क्योंकि उसमे भी आत्मा को "शुद्ध–बुद्ध चैतन्य" न मानकर सामाजिक निधि ही घोषित किया गया है, फिर विजया वैद्य द्वारा लगाया गया वह आरोप भी निराधार साबित होता है जिसमे उन्होने सन् 1965 मे यह घोषित किया था कि – "उनके मित्रो द्वारा अब यह स्पष्ट किया जाने लगा है कि वह अपने अन्तिम दिनो मे मार्क्सवाद से पूरी तरह निराश हो चुके थे।"[115] यहाँ यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध मार्क्सवाद से नही बल्कि "मार्क्सवादियों" से निराश हो चुके थे, जिन्होने उनको चरम अनामता के गर्त मे ढकेल कर प्राय साहित्य–मृत घोषित कर दिया था। दरअसल यही वह बिन्दु है जहाँ से उनकी राजनैतिक व्यक्तित्व की पुनर्समीक्षा हो सकती है। सबस विचित्र बात यह है कि मुक्बिोध ने जिस अवसरवादी तथाकथित (राजनीति) की घोर आलोचना की उसी के पचडे में वे लगातार पडते चले गये जो उनके पत्रो में बडे ही मार्मिक ढग से उभरा है जैसे – "राजनॉद गांव कालेज मे मेरी नियुक्ति हो चुकी है वहाँ के लोग मुझे चाहते हैं। वहाँ एक दल का दल है जो अपने यहाँ अच्छे–अच्छे आदमियो को बुलाना चाहता है।" × × × × ––––––––––– × × × × × × नौ वर्ष की सरकारी नौकरी ने मुझे कुछ नही दिया, तोहमत दी, राजनैतिक और सामाजिक तोहमत × × × × × ––––––––– × × × × × × माया मिली न राम। ऊपर से मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य चौपट हो गया।"[116] दरअसल नई कविता मे मुक्बिोध की जो फजीहत हुई, उसका एक बड़ा कारण वह राजनीति थी जिसमें मानवीय जीवन्त प्रश्नो को बरगला दिया जाता है या तथ्यो को नेपथ्य मे डालकर पूरे प्रश्न को ही इस गोल–मोल ढंग से "हाइलाइट" किया जाता है कि गोया प्रश्न उक्त समस्या का न होकर कुछ दूसरा लगे, इसी सन्दर्भ मे वे उस सांस्कृतिक गोलमाल की भी खबर लेते

है जिसमे राष्ट्रवाद से लगाकर सस्कृति के रेशमी जालो को इस तरह से बिछाया जाता है जिसमे बस मानवीयता फँसकर छटपटाती रहे और देखने पर केवल वही रेशमी जाल की मसृणता और चिकनाई ही दिखाई दे। वैसे तो उनके लेखो को देखकर कुछ पाठको द्वारा एक झटके मे यह राय बनाते देर न लगेगी कि – "मुक्तिबोध ने तो भारतीय सस्कृति का सत्यानाश कर दिया। किन्तु उसके पीछे तथ्य क्या हैं, यह उन्ही कवि श्रेष्ठ के शब्दो मे – "दिनकर" कुरूक्षेत्र की पोथा भले ही लिख ले, और उसमे राष्ट्रवाद के नाम पर बडे शब्दो और ऊँची–ऊँची कल्पनाओ, फडकते हुए वाक्यो और धडकते हुए चित्रणो की रेल–पेल कर दिखाए, यह निश्चित है कि वही जिन्दा रहेगा जो वर्तमान यथार्थ के अभिप्रायो को समझ सके।"[117] स्पष्ट रूप से वे ऐसी ही रचनाओ को श्रेष्ठ मानते है जिसमे यथार्थ की गहरी पकड हो न कि एक "रस्म अदायगी", क्योंकि सामाजिक विकास के अनुक्रम मे शोषण के तौर–तरीके भी चेंज हो चुके है। असल मे जिन तथ्यो का प्रत्यक्ष विरोध किया जाता रहा है उसके पीछे उससे भी गम्भीर किन्तु परोक्ष विषय–तथ्यो का विरोध होता है। इसको डॉ0 शर्मा के ही एक उद्धरण से देखा जा सकता है, जब वे बताते है कि – भारत मे काग्रेस के कुछ नेताओ ने जेल से बाहर आने के बाद जोरदार कम्युनिस्ट विरोधी आन्दोलन शुरू किया। ऊपर से देखने पर यह अभियान केवल सन् 42 मे कम्यूनिस्टों की गलत नीति के विरोध में था। वास्तव मे वह विश्व–व्यापी मार्क्सवाद–विरोधी अभियान का अंग था।"[118] इसमे स्पष्ट रूप से असल और वायवी का बेबाक चित्रण किया गया। ठीक यही स्थितिया तथाकथित "राष्ट्रवाद" और "सस्कृति" का नारा देने वालों की भी हैं, इसीलिए मुक्तिबोध खफा से है वे कहते है कि – "जो व्यक्ति वर्तमान यथार्थ की ओर दृष्टिपात नही करता, उससे अपनी काव्य–प्रेरणा और स्फूर्ति ग्रहण नही करता और उस नारे से प्रभावित होता है जो "भारतीय संस्कृति" का नारा कहलाता है, तो वह व्यक्ति नवीन दृष्टिकोण (मार्डन आउटलुक) जनता का दृष्टिकोण, भी ग्रहण नहीं कर सकता। आज भारतीय सास्कृतिक नारा उन लोगों का है जो जनता के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को रूसी दृष्टिकोण कहकर लोगों का ध्यान, वर्तमान जन–जीवन

के यथार्थ के तकाजो से हटाते हुए, उन पुराने माया लोको मे अटकाना चाहते है जहाँ अध्यात्मक और विलास परस्पर आलिंगन-चुम्बनादि मे व्यस्त है।"[119] अब सवाल उठता है कि फिर "सस्कृति के वास्तविक नारो" का क्या मतलब हुआ, कहते है कि – "जनता के अपने तकाजो और सवालो के आधार पर उसको सुसस्कृत करने से हैं। उनके लिए दरअसल यह सच नही बल्कि झूठ को भी सच करके प्रसारित करने जैसा है, क्योंकि इसी तथाकथित सस्कृति का नारा देकर "गरीब मध्यवर्ग के लेखक को उन लोगो से दूर किया जा रहा है जो अपनी ही बिरादरी के है और जो – "जिन्दगी के तकाजो के आधार पर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक लडाइयाँ लड रहे है जहाँ भूखी जनता को अनुशासन मे रहने की, भारतीय सस्कृति के अनुसरण, की दिन-रात नसीहत दी जाती हो, और दूसरी ओर, बडे मजे मे अपने सगे सम्बन्धियो को शोषण का मजा लेने दिया जाता हो, वहाँ "भारतीय सस्कृति" के नाम पर एक बहुत बड़ा फ्राड चला करता है।"[120] और इसी "फ्राड" का मुक्तिबोध ने अपने पूरे साहित्य मे पर्दाफाश किया है, जो उनके फजीहत का एक बहुत बडा कारण है, क्योंकि – "शत्रुओ के केम्प के बुद्धिजीवियों की सघर्ष आस्था को नष्ट करने के लिए विचारों की जालसाजी से भरे आन्दोलनों के ब्रह्मास्त्र छोडे जाते है।" जाहिर तौर पर भारतीय संस्कृति का नारा उसी का एक अग है।

तो जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है कि मुक्तिबोध उस सस्कृति के खिलाफ थे जिसको ढाल बनाकर मनुष्यता के ज्वलन्त प्रश्नो का असमय ही वध कर दिया है। जाहिरा तौर पर वे भारत की शुभ-सास्कृतिक पक्षो के न केवल पक्षधर हैं बल्कि अपने वैचारिक आधार को उससे पुख्ता बनाते हुए – उसकी प्रशसा भी करते है। उनके इसी पक्ष की ओर श्री नरेश मेहता ने ध्यान दिलाना चाहा है। वे लिखते हैं कि वे – "इस प्रकार की बातो में एक दिन अनायास बोले कि – "पार्टनर! आपने किसी दिन नही पूँछा कि मै आपकी कविताओं के बारे में क्या सोंचता हूँ? मैं नही समझता कि वे कुछ खास हैं" – उन दिनो नया-नया ही "दूसरा सप्तक" निकला था और उसमे "समय देवता" भी था। बोले "अगर आप बुरा न मानें तो मैं आपकी कवितओं के बारे में कुछ कहना

चाहता हूँ – "ठीक है कहे बुरा माना भी होगा तो पूछ लूगा।" मेरी इस बात को अनसुना करते हुए वह आत्मस्थ से बोले – "पार्टनर आपकी "समय देवता" की तारीफ इधर बहुत हो रही है। पता नही आप क्या उसके बारे मे सोचते है पर मुझे वह कविता नही लगती। वास्तव मे राजनीति आपकी काव्य भूमि मे नही है। जिस वैदिक धरातल पर आप खडे होकर लिखना चाहते है, वही वास्तविक आपकी काव्य भूमि है। × × × × × × × × × × × उनकी वे बाते, वह विवेचन आज सोचने पर अविश्वसनीय लगता है कि उन जैसा मार्क्सवादी जातीय अस्मिता और सस्कृति की बाते करे।"[121] यह भी समाज का क्रूर परिहास है कि एक तरफ तो इन्सानियत तबाह हो रही है जबकि दूसरी तरफ उसी की कीमत पर कुछ तबके लखपति बनने की जुगुत भिडा रहे हैं। ऐसे ही लोगो को वे अपनी एक कविता मे पात्र बनाते हुए लिखते है कि –

"सत्ता के परब्रह्म
ईश्वर के आस–पास
सास्कृतिक लहंगो मे
लफंगों का लासरास
खुश होकर तालिया
देते हुए गोलमटोल
बिके हुए मूर्खों के
होठों पर हीन हास"[122]

तो, अब यह स्पष्ट रूप से कहा जा चुका है कि "सांस्कृतिक नारा" देश में कौन लोग अधिक लगाते हैं। जैसे डॉ0 शर्मा ने अपने अनुभव के आधार पर यह बात खम ठोक कर की है कि – "यह बात आजमा कर देखी जा सकती है जो कवि किसानो–मजदूरों से जितना ही दूर होता है उतना ही वह उन्हें जगाने के लिए हुकार और धुवाधार की ध्वनि ज्यादा करता है। दरअसल किसान–मजदूर कबीर के "खुदाय" की तरह बहरे नहीं है कि उन्हे जगाने के लिए इतनी जोर से बाँग देने की जरूरत पड़े।"[123] यही वह प्रगतिशीलता की कसौटी है जिसमे डॉ0 शर्मा प्रगतिवादियों की कथनी करनी के द्वैत को लेकर हमेशा

ही उलझन मे रहे। किन्तु यहाँ एकदम कहा जा सकता है कि जिस प्रकार से "छद्म प्रगतिवादियों" ने प्रगतिवाद का नाश कर दिया वैसे ही – "लफंगे" टाइप लोग "सास्कृतिक लहरो" मे जनता के सामने ऊटक–नाटक करते है। तथाकथित सस्कृति को मुक्तिबोध ने जो बेपर्दा किया है उसके पीछे क्या डॉ0 शर्मा वाला तेवर ही नही है? तो सवाल यह है कि जो प्रश्न प्रगतिवाद की अगतिकता को दूर करने का डॉ0 शर्मा उठाते है क्या उसका शमन "बोध" द्वारा असलियत की मानवीय पहचान से नही होता? फर्क केवल दोनो के सोचने के अदाज मे है। डॉ0 शर्मा ने जिस मार्क्सवादी दृष्टि के ओत–प्रोत यह कहना चाहा है कि किसान मजूरो की बात करना केवल उन्ही लोगो (कवि, लेखको) को शोभा देते है जो जमीनी तौर पर उनसे जुडे है ठीक वही प्रश्न मुक्तिबोध भी करते हैं कि सास्कृतिकता का नारा केवल वैसे ही लोगो को चाहिए जो मानवीय यथार्थ की मार्मिकता से भली–भाँति परिचित हो। इसीलिए डॉ0 शर्मा द्वारा मुक्तिबोध की घोर आलोचना के बद भी उन्हे यह कहने को विवश करता है – "इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी यह मानन होगा कि प्रयोगवाद और नई कविता की आलोचना करते हुए मुक्तिबोध ने जो कुछ कहा है, वह मूल्यवान है। उनकी आलोचना का स्वर अत्यन्त प्रखर है।"[124]

डॉ0 नामवर सिह ने मुक्तिबोध की कविता "अधेरे में" की भाषिक विन्यास की जाच–पड़ताल करते हुए कविता के जिन दो भाषा विषयक रूप बताए है, एक तो "पोयटिकल लैंग्वेज" और दूसरी "पोयटिक लैग्वेज", इसी तरह कहा जा सकता है कि कविता और राजनीति में भी दो प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है, प्रथमत वह जो राजनीति को लेकर सृजित की गयी, दूसरी वह जिसकी आधारभूमि राजनीति है। तो मुक्तिबोध की जो कविता है वह राजनैतिक नहीं है बल्कि उसकी पृष्ठभूमि में राजनीति है, एक ऐसी राजनीति जो अपने स्वार्थो और अवसरवादिता की वजह से चन्द एक लोगो के लिए ही कल्याणकारी है। असल में जो भी कविताए राजनीतिक है वह अपने पूरे रूप मे सपाटबयानी सी लगती हैं क्योंकि उसमे सृजन के अन्य तत्व–संस्कृति और परम्परा की जीवन्तता नही पाई जाती है और जिस कविता में यह सब नही मिलता वह कविता तो नही और

चाहे जो कुछ भी हो। वह दल विशेष, व्यक्ति विशेष और समाज विशेष की चीज हो सकती है, किन्तु जहाँ सम्पूर्ण मानवीयता की बात चलेगी वह घाल मेल कर जायेगी। कविता की जो सृजनात्मकता होती है वह धर्म, दर्शन, विज्ञान को एकागी वैचारिकता मे नही ढालती बल्कि वह इन सबका एक प्रयोग करती है, किन्तु सृजन कभी भी प्रयोग नही बनता और चूँकि राजनीतिक कविता मे सृजनात्मक तत्वो को एकागी बना दिया जाता है इसीलिए वह विशुद्ध कविता का बोध न देकर प्रचार की एक सामग्री सिद्ध होती है। जैसे वैद्यक ग्रन्थो की छन्दोबद्ध रचनाए और धार्मिक भजनो को कविता की श्रेणी मे नही रखा जा सकता, उसी प्रकार राजनीतिक कविताओ को भी कविताए नहीं कहा जा सकता।

मुक्तिबोध ने कभी भी साहित्य को राजनीति से अलग नही समझा बल्कि वे एक दूसरे को अन्योन्याश्रित मानते है वैसे ही जैसे वे कला की स्वायत्ता की बात को नकारते हैं। वे कहते हैं कि – "राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति मे भिन्न हैं। उसका मूल है आज का यथार्थ, यानि जनजीवन का यथार्थ, उसके लक्ष्य उसके अभिप्रेत उसके सघर्ष।"[125] और चूँकि आज का यथार्थ ऐसा रहस्यवादी नही है जिसको समझने के लिए किसी दर्शन या योग की आवश्यकता तो आज का मानवीय यथार्थ वह है जिससे मनुष्य को अपनी जिन्दगी के लिए नाना प्रकार की कठिनाइयो से दो चार होना पडता है। उनके लिए "देश–भक्ति" का मतलब है "जन–भक्ति" इसीलिए वे देश मे सुख और सकून स्थापित करने के लिए इन्सानियत को तबाह करने वाले रावण – दोस्तो का वध जरूरी समझते हैं। वे कहते भी हैं कि – "यदि हमारी काव्य प्रेरणा वस्तुत जनजीवन से उद्‌भूत हुई हो, तो जनजीवन की वर्तमान परिस्थितियाँ और उसके कष्टो का कारण भी हमारे अनुभूति के अंग होंगे, यानि मात्र बौद्धिक स्तर से उतरकर वे हमारे हृदय और आत्मा के समस्त अभिप्रायों में लीन हो जायेंगे। जब वे लीन होंगे तो स्थायी भाव होगा, घृणा, घृणा और भयानक घृणा।"[126] चूँकि साहितय को वे समाज सापेक्ष मानते हैं तथा राजनीति भी एक सामाजिक अनुषंग ही है अतः वे – "जनता की राजनीति और जनोन्मुख साहितय का स्रोत एक" ही मानते है।"[127] यही वजह है कि मुक्तिबोध की

कविताए आद्यन्त राजनीति प्रेरित होने पर राजनीतिक नही लगती उनके लिए राजनीति तो केवल – "भूमि है जो कि युग सापेक्ष्य है जैसे कि भक्तिकाल के कवियो के लिए धर्म, भूमि है, युग सापेक्ष्यता के कारण।"[128]

उनकी कविताओ मे प्राय राजनीतिक स्थितियो और व्यक्तियो का उल्लेख हुआ है। जैसे– "अधेरे में" गाँधी और तिलक का जो वर्णन किया गया है वह अकारण नही है। बावजूद इसके कि – "गाँधीवाद ने भावुक कर्म की प्रवृत्ति पर कुछ इस ढग से जोर दिया है कि सप्रश्न बौद्धिक प्रवृत्ति दबा दी गयी है।"[129] फिर भी वे गाधी को पाकर –

''अधेरे की स्याही मे डूबे हुए देव को सम्मुख पाकर
मैं अतिदीन हो जाता हूँ,

× × × × × × ×× × × × × ×

तथा कवि की जो मानवीय आस्था है उनका भी श्रेय वह गाधी के सुझावो को ही देता है –

''मिट्टी के लोदे मे किरणो के कण–कण
गुण है
जनता के गुणो से ही संभव
भावी का उद्भव"[130]

यहाँ स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि उनकी खीज सम्पूर्ण गाधीज्म के खिलाफ नही थी बल्कि उन बातो से थी जो किसी भी प्रश्न का बौद्धिक हल प्रस्तुत न करके एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता था जो निश्चय ही भारत जैसे धर्म भीरू देश मे एक और समस्या का ही सूत्रपात करता था। इसीलिए जहाँ वे गाँधीवाद और गांधीदर्शन का जोरदार प्रत्याख्यान करते है वहीं पर उनके उन पक्षो से भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाए जो वास्तविक रूप से जनतत्र प्रणाली के आगे बढ़ाने का श्रेय प्राप्त करती है। डॉ0 रामविलास शर्मा के अनुसार उनका यही "अन्तर्विरोध है जो उनके "व्यक्तित्व विभाजन" का सबूत है। किन्तु गांधी से जो असहमति का प्रश्न है उसमे देखने की बात यह है कि – क्या किसी भी व्यक्ति के साथ पूर्णतया

सहमत हुआ जा सकता है? इसीलिए वे ∫मु0∫ कहते भी हैं कि – "जो हमसे भिन्न है, वह केवल अन्य ही नही, वह विरोधी भी है, विपक्षी भी – यह मानकर चलने के लिए मैं तैयार नही।"[131]

उनके साहित्य कर्म की जो अति महत्वपूर्ण चीज है वह परस्पर विरोधी व्यक्तियो और परस्पर विरोधी दर्शनो का सामञ्जस्य। किन्तु इसका यह मतलब नही है कि हम "हिटलर" और "गाधी" तथा "मावो" का एक ही साथ मजा ले सकते हैं। उन्होने केवल ऐसे ही व्यक्तियो की विचार सरणियो का अपने काव्य मे अथवा लेखो मे सम्मिलन किया जो कही न कही छटपटाते हुए मनुष्य की मुक्ति का आयोजन करती है, क्योंकि उनका मानना है कि आधुनिक मानव यद्यपि बौद्धिक और भावनात्मक दोनो पक्ष मे – "शैली, वर्ड्सवर्थ, शापेनहॉवर, नीत्शे, काण्ट, हेगेल, फिश्ते, शैलिंग मार्क्स, क्रोपाटिकन अनातोले, फ्रास रोमया रोला मेरेडिथ हार्डी, कैम्व, स्टीपानयिट्स, टैगोर, गाधी, टॉल्सटॉय, खैय्याम, कालिदास से" अलग अनुभव करता है फिर भी – "हमने इन्ही लोगो से बहुत कुछ स्वीकार किया है।"[132]

सक्षेप मे कहना यह है कि गाधी, जैसे – सपूर्ण मार्क्सवादियो की दु खती रग थे वैसा मुक्तिबोध के लिए भी नही थे क्योंकि उन्होने गाधी को जहाँ भी अपनी आलोचना का केन्द्र बनाया वह निश्चय ही उनकी "मर्मो आलोचना" कही जाएगी, जो – "ऊपर से चाहे कितनी कठोर और खुरदरी हो, अन्तत उसमे एक बडी भारी श्रद्धा होती है।"[133]

यहाँ यह कहना आवश्यक जान पड़ रहा है कि एक ही मुद्दे पर विभिन्न लोगो के विभिन्न दृष्टिकोंण हुआ करते हैं और कभी–कभी ऐसा भी होता है कि एक ही मुद्दे पर एक ही प्रश्न पर दो बहुत ही विपरीत विचारों वालो के भी मत एक होते देखे गए हैं। इसका सबसे महत्वपूर्ण और दिलचस्प उदाहरण मुक्तिबोध और आचार्य शुक्ल के बीच देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्ध "काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था" मे "लियो टॉल्सटॉय" की आलोचना इसलिए किया क्योंकि उनके साहित्य में – केवल प्रेम और भातृभाव के प्रदर्शन

और आचरण मे ही काव्य का उत्कर्ष, मानते थे तथा ऐसे लोगो के प्रति दया, प्रेम और सेवा के उपदेश देते हैं जो – "दीन और असहाय जनता" को निरन्तर पीडा पहुँचाते चले जाने वाले" क्रूर और आततायी है।"[134] इनके प्रति शुक्ल जी कोई भी क्षमाभाव नही दिखाते और जो ऐसे लोगो के प्रति तनिक भी ढीले पडते है, शुक्ल जी उनके खिलाफ भी कमर कसने से नही हिचकते चाहे वह कितना ही बडा साहित्यकार ही क्यो न हो। चाहे वह टॉल्सटॉय ही हो।

"इन्ही "टॉल्सटॉय" को लेकर मुक्तिबोध, कामायनीकार के उस "थोथे श्रद्धावाद" का खण्डन करते हैं जिसमे "क्षमा की फिलॉसफी" इसलिए गडबड है कि उसमे बिना मागे ही क्षमा मिल जाती है एक ऐसे दुष्ट कथा नायक (मनु) को जो "श्रद्धा" का त्याग करता है "इडा" का घर्षण करता है और "सार्स्वत सभ्यता" का नाश करने से भी नही हिचकता। इस क्षमा दान के कारण ही (जो मनु को श्रद्धा देती है) मनु उसकी चाटुकारी सा करता प्रतीत होता है कि –

> तुम देवि! आह कितनी उदार
> वह मातृमूर्ति है निर्विकार,
> हे सर्वमगले, तुम महती,
> सबका दु ख अपने पर सहती,
> कल्याणमयी वाणी कहती,
> तुम क्षमा निलय मे ही रहती।"[135]

यहाँ पर आपत्ति के दो तीन बिन्दु है श्रद्धा की उदारता, उसका "सर्वमगल रूप" तथा "कल्याणमयी" भावना। सवाल यह है कि क्या श्रद्धा इन विशेषणो की वास्तविक हकदार है? उत्तर है नही क्योंकि – "जब श्रद्धा इड़ा से मिलती है तब, वे लोग जो घायल पडे हैं उनकी सेवा–सुश्रुषा नही करती। उस ओर वह प्रवृत्त है यह बतलाया ही नही गया। वह इड़ा से इस सम्बन्ध में चर्चा भी नही करती न मरो के प्रति सहानुभूति ही व्यक्त करती है। प्रजा ने जो विद्रोह किया उसके पक्ष मे, अथवा उस जनता के पक्ष मे, श्रद्धा की सहानुभूति नहीं जागती, इतना अत्याचार देख श्रद्धा के मर्मस्थल पर कोई चोट नही होती।"[136] स्पष्ट

रूप से मुक्तिबोध को "कामायनी कार" का श्रद्धावाद खला जबकि इसके समानान्तर वे "टॉलस्टॉय" के नायको को मानवता की बात करने के लिए इसलिए खुली छूट देते हैं क्योंकि वे – "अपने किसे अपराधो पर पश्चाताप कर जिसके प्रति अपराध किया गया है उसकी कष्ट मुक्ति के लिए – दु खो से उद्धार के लिए– आकाश पाताल एक कर देते हैं। तो, जो बात कहना चाहता हूँ वह यह कि जिन आचार्य शुक्ल ने मानवताक की एक बात पर ही "टॉल्सटॉय" को खारिज कर दिया था, उसी मानवता की दुहाई के लिए मुक्तिबोध "टॉल्सटॉय" के "रिसरेक्सन" नामक उपन्यास को ही चुनते है।

सन् 36 से लेकर 43 तक का समय प्रगतिकाल का उत्कर्ष काल कहा जा सकता है जिसमे छायावादी कल्पना प्रवणता की जगह जीवन और जगत के प्रति यथार्थवादी दृष्टि से विचार किया गया। लेकिन इस "यथार्थ" को "बुर्जुआ यथार्थ" से जोडकर गड्ड–मड्ड नही किया जा सकता। दरअसल यह यथार्थवाद विश्व साहित्य मे सामाजिक–यथार्थवाद के नाम से जाना गया। जो अपने पूरे कलेवर मे बुर्जुवा यथार्थ को विरोधी ही नही विपरीत भी है। "बुर्जुवा यर्थाथवाद" का यथार्थ है उसकी पूँजी और उसकी सत्ता। पूंजीपति होने का तात्पर्य केवल धनी होने से ही नही है वरन् एक ऐसी सामाजिक स्थिति से है जो अपने शिकजे मे सम्पूर्ण मानवीयता को लिए रहती है। जिसमे कवेल वह अपनी ही इच्छा से विश्व को चलायमान रखना चाहती है। संक्षेप मे यह कि इस प्रकार के समाज मे स्वतन्त्रता का पूरी तरह से अपहरण कर लिया जाता है। इसके विपरीत "सामाजिक यथार्थवाद" उस जन की सत्ता पर, जनतत्र पर विश्वास करता है जो उस पूजी का निर्माण करता है अर्थात् मजदूर वर्ग। जिसके पास मार्क्स के शब्दों मे – खोने के लिए केवल अपनी बेड़िया है और पाने के लिए सम्पूर्ण विश्व।"[132]

"प्रगतिवाद" ने निश्चय ही साहित्यिक मूल्यो के बदल डालने की भरसक कोशिश की जिसकी एक कड़ी के रूप में हमारे सामने वह सौन्दर्यशास्त्र है जिसे "श्रम का सौन्दर्य शास्त्र" कहा जा सकता है। आभी तक साहित्य में कोमल कमनीय नायिकाओ को ही सम्मिलित समझा जाता था। तथा ऐसे कबूतर बाज नायकों की भी कोई कमी नही थी जिसमे "कर्म क्षेत्र का सौन्दर्य" कही भी स्फुटित नहीं होता था।

यह तो प्रगतिवादी कवियो लेखको का ही दाय था कि उन्होने साहित्य मे मजदूर–किसान वर्ग की नायक–नायिकाओ को तरजीह देकर साहित्य को 64 "चौसठ कलाओं" मे आने से बचा लिया, तथा यह भी नवीन मूल्य साहित्य मे प्रतिष्ठित किया कि – "काम करता हुआ इन्सान निठल्लो से अधिक शोभायमान होता है। "श्रम मे भी एक सगीत होता है तथा उसके सुर मे बंधे हुए देह यष्टियो मे एक विलक्षण सौन्दर्य भी होता है। निराला ने यो ही नही लिख दिया है – "श्याम तन भर बधा यौवन

नत नयन प्रिय प्रिय कर्म रत मन"

क्या यह शब्द चित्र किसी भी यूनानी कला की खूबसूरत से खूबसूरत मूर्तिकला के समीप नही है?

प्रयोगवादी स्थितियाँ .

हिन्दी साहित्य मे "प्रयोगवाद" की चर्चा सन् 1943 के प्रथम "तारसप्तक" के सम्पादन से शुरू होती है। "तारसप्तक" (अज्ञेय) असगत कवियो की कविताओ का संग्रह है जिसमे किसी विचार सरणि के आधार पर एक्य नही ढूँढा जा सकता है, इन सातो कवियो की अलग–अलग विचारधाराए है फिर भी, यह सा० इतिहास का अद्भुत अन्तर्विरोध है कि समाजवादी और व्यक्तिवादी दोनो ढग के कवि इसमें अपनी पहचान ढूँढने का उपक्रम करते हैं। असल मे प्रगतिवाद और पहले पहल प्रयोगवाद आपस मे मिल–जुलकर ही चले जिसका प्रमाण है साम्यवादी अवधारणा के मानने वाले तथा अपनी व्यक्ति इयत्ता को "समाज" के सापेक्ष अधिक महत्व देने वाले, दोनों ही इसमें शामिल है।

तारसप्तक का सम्पादन तो अज्ञेय करते हैं किन्तु उसमे अधिक बलपूर्वक शामिल होते है अपने का साम्यवादी, समाजवादी घोषित करने वाले कवि। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत में साम्यवादी आन्दोलन की भूमिका को धार दिया था रूस की "बोल्शेविक रिवोल्यूशन" ने, जबकि व्यक्तिवाद की अवधारणा, स्वाधीन पश्चिम की है, जिनकी वैचारिक टकराहट

इस काव्यान्दोलन मे स्पष्ट देखी जा सकती है। यह काव्यान्दोलन अपने पूर्ववर्तियो से इसलिए भी भिन्न है कि इसमे एक नियोजन या सगति का उपक्रम है, हिन्दी साहित्य के इतिहास मे पहली बार इस तरह का योजनाबद्ध काव्यान्दोलन चलाया गया। बावजूद एक सग्रहण के अज्ञेय जी ने कहा है कि– "उनके यहाँ इकट्ठे होने का मतलब यह नही है कि वे एक स्कूल के है-----"[138] इसमे सकलित सात कवियो मे – गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे, राम विलास शर्मा, गिरिजा कुमार माथुर, भारत भूषण अग्रवाल तथा "अज्ञेय" है। स्पष्ट रूप से इन कवियो के अनुभव क्षेत्र, दृष्टिकोण और कथ्य मे एकतानता नही है। कुछ ऐसे है जो विचारो से समाजवादी तथा सस्कारो से व्यक्तिवादी, कुछ सस्कारो और विचारो दोनो से समाजवादी और कुछ सस्कार और विचार के स्तर पर व्यक्तिवादी। इस वैचारिक मतभेद के बावजूद इन कवियो को एक साथ करने वाला मुख्य तत्व उनका "प्रयोग पर आग्रह" है। समाज के हित में जैसे क्रान्ति की सतत प्रक्रिया काम्य है कुछ वैसे ही साहित्य में प्रयोग की।

इस नामकरण के पीछे "तारसप्तक" के वे वक्तव्य है जिनमे "प्रयोग" और "प्रयोगशीलता" को अपनी विशेषता माना गया है। किन्तु इसी अवटक को जब पाठक वर्ग पकड़ कर इस काल की कविताओ को "प्रयोगवादी" तथा काव्यान्दोलन को "प्रयोगवाद" कहने लगा तो इसके संपादक "अज्ञेय" को तब बहुत खीझ उत्पन्न हुई कुछ वैसा ही जैसे कभी अस्तित्ववादी विचारको को अस्तित्ववादी कहने या मानने से हुई थी। "अज्ञेय" को तब यह शब्द "लॉक्षना" जैसा ही लगता था तभी तो इसकी प्रतिक्रिया मे वह तीखा रूख अख्तियार करते हैं वे कहते है कि – "प्रयोग तो सभी काल के कवियों ने किए हैं इसलिए हमे प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना कवितावादी कहना।"[139] स्पष्ट रूप से यह खीझ इसलिए भी थी कि यदि यह भावधारा स्थापित न हुई तो हम नेपथ्य मे चले जाएगे। किन्तु कालान्तर मे जब यह अवंटक ही उनके पहिचान मे सहायक हुआ, तो कहीं न कहीं उन्होंने स्थिति से समझौता कर लिया किन्तु दूसरे सप्तक की

भूमिका मे भी "प्रयोग" शब्द को साधन मानकर हासिये पर ही रखा गया। वे लिखते है कि – "प्रयोग का कोई वाद नही है प्रयोग अपने आपमे इष्ट नही है, वह साधन है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है दूसरे उस प्रेषण की क्रियाओ और उसके साधनो को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अभिव्यक्त करत सकता है।"[140] "प्रयोग" सत्य को जानने का कैसे साधन है? यह इस लेख मे खुलता नही। असल मे "प्रयोग" वही तक साधन का जा सकता है जहाँ तक सत्य की सम्प्रेषणीयता का सवाल है, क्योंकि सम्प्रेषण का सवाल जहाँ उठेगा, वहाँ माध्यम (साधन) का प्रश्न स्वत ही उपस्थित हो जायेगा। अब चूँकि साहित्य के सत्य को प्रेषित करने का अथवा अभिव्यक्त करने का सवाल है अत. "भाषा" पर दृष्टि स्वत ही जाती है। इस दृष्टि से लगता है कि "प्रयोग" का वास्तविक अर्थ कही न कही उसकी प्रेषणीयता को लेकर ही लिया जा सकता है। खासतौर से जब "भाषा" ही अज्ञेय जैसे लोगो के लिए साधन और साध्य दोनो ही हो, लिखते है कि – "मै उन व्यक्तियो मे से हूँ – और ऐसे व्यक्तियो की सख्या शायद दिन प्रतिदिन घटती जा रही है – जो भाषा का सम्मान करते है और अच्छी भाषा को अपने आपमे एक सिद्धि मानते है।"[141] यदि भाषा ही अपने आप में सिद्धि है (जैसा कि अज्ञेय के अनुसार है) और प्रयोग दोहरा साधन है – एक तो सिद्धि को जानने का, दूसरा उसे अभिव्यक्त करने का, तो, नि सन्देह "प्रयोगवाद काव्य की वह धारा" है, जो अन्तिम रूप से शिल्प पर ही आधृत है। किन्तु डॉ0 नामवर सिह इसे केवल "रूपवाद" नही मानते। कारण यह कि "रूपवाद प्रयोगवाद की एक शाखा मात्र है। सभी प्रयोगवादी कवि केवल इस विधान तथा टेकनीक पर ही ध्यान नही देते, ऐसे कवि और ऐसी रूपवादी कविताए थोड़ी हैं।"[142] वे इसको "व्यापक प्रवृत्ति तथा विचारधारा का वाहक" मानते है। किन्तु विचार के स्तर पर "प्रयोगवाद" अपने आपमे ही विरोधी विचारों का सग्रह है, अत "प्रयोग" के स्तर पर वैचारिकता का प्रश्न गौड है। इसका यह मतलब नही कि इस भावधारा की कविताओ की कोई निश्चित जीवन दृष्टि नही है।

जैसा कि तारसप्तक के सम्पादक का स्वय कहना है कि – "प्रयोग का कोई वाद नही है। हम वादी नहीं रहे नही है।" लगता है यह वक्तव्य अपने पूर्ववर्ती काव्यान्दोलन "प्रगतिवाद" की मार्क्सवादी प्रतिबद्धता को या कि उसके केवल गुणगान को लेकर जो एक नया ट्रेन्ड चला था, उसके विरोध मे दिया गया। वैसे भी किसी वाद को आरम्भ मे ही मान लेने पर निश्चित रूप से व्यक्तिगत स्वतन्त्र विचार मे बाधा पडती है, और "वादी" होने का मतलब किसी साचे मे अपने को समो देना, जेसे कि यदि फ्रेम तैयार हो तो फोटो को उसी नाप का ही होना जरूरी है, मढने के लिए, उसी तरह यदि "वाद" के प्रति लेखक की आस्था है तो उसे किसी न किसी रूप मे उस साचे मे अपने को मढने की जरूरत महसूस होती है। एक तरह से देखा जाए तो "प्रयोगवाद" एक दार्शनिक प्राक्रिया की तरह ही घटित हो सकता है। जेसे किसी भी आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए, यदि वह वास्तव मे सत्यान्वेषी है तो पूर्व के दार्शनिक निष्कर्षों के आधार पर वह सत्यानवेषण नही कर सकता, जब तक कि उसमें स्वयं का नव्य मार्ग बनाने की कूबत न हो, यही कारण है मंजिल सबकी एक होने के बावजूद भी राहे सबकी अलग–अलग है, इसलिए " अज्ञेय" की प्रयोगवाद के सन्दर्भ मे दी गयी यह टिप्पणी "वह राहो की अन्वेषी है" युक्तिसगत जान पड़ती है।

प्रयोगवादी प्रवृत्तियों की जाच–पड़ताल करते हुए डॉ0 नामवर सिह इसका तादात्म्य गांधी जी के "माई एक्सपेरिमेन्ट विथ ट्रुथ" से करते हैं। कहते हैं कि – "गाँधी जी और प्रयोग शील कवियों के सत्य में अन्तर हो सकता है किन्तु सैद्धान्तिक रूप से गाधी जी की तरह वे भी "सत्य" को बहुत आन्तरिक मानते थे और इस सत्य की उपलब्धि के लिए उन्हीं की तरह ये कवि भी बुद्धि की अपेक्षा अनुभव को प्रधानता देते थे।"[143]

प्रयोगवादियों मे यह "अनुभव" ही बड़े महत्व का है जिसके कुछ–कुछ लिहाडी लेने के अन्दाज मे डॉ0 नामवर सिह कहते हैं कि – "वैसे नितान्त निजी अनुभव के सहारे सत्य की खोज करना सचमुच ही साहस का कार्य कहा जायेगा और इस प्रक्रिया में × × × × × × × × × जान जोखिम में भी

पड सकती है। वस्तुत प्रयोगकर्ता के साथ एक अनिवार्य शर्त पहली यह है कि किसी सत्य की परीक्षा के लिए स्वय उसे जीना चाहिए और जाहिर है कि सत्य के जीते चलने की प्रक्रिया काफी दु साध्य है।"[144] किन्तु प्रयोगकर्ता के लिए अनुभूति द्वारा स्वय द्वारा भोगी हुई हो, जैसा कि नामवर जी मानते है,

वस्तुत ऐसी कोई शर्त है नही, इसी का निरसन करने के लिए अज्ञेय एक जगह लिखते है कि– "यह कहते हुए खेद होता है– किन्तु बात है सच– कि आजकल का अधिकाश हिन्दी साहित्य और आलोचना एक भ्रान्ति धारणा पर आश्रित है, कि आत्मघटित (आत्मानुभूति नही, क्योंकि अनुभूति बिना घटित के भी हो सकती है) का वर्णन ही सबसे बडी सफलता और सच्चाई है। यह बात हिन्दी के कम लेखक समझते या मानते है कि कल्पना और अनुभूति के सहारे दूसरे केघटित में भी प्रवेश कर और वैसा करते समय आत्मघटित की पूर्ण धारणाओ और सस्कारों को स्थगित कर सकना ही लेखक की शक्ति का प्रमाण है × × × × मै फिर कहता हूँ कि आत्मघटित ही आत्मानुभूति नही होता पर घटित भी आत्मानुभूत हो सकता है, यदि हममे मू सामर्थ्य है कि हम उसके प्रति खुले रह सकें।"[145] यहाँ पर वे निश्चित रूप से टी0 एस0 इलियट के उस उक्ति से प्रभावित है जिससे वे महान कलाकार के 'भोक्ता मन' और 'सृष्टा मन' के बीच की बात चलाते हैं आकस्मिक नही कि अज्ञेय ने अपने उपरोक्त मन्तव्य की पुष्टि के लिए इसी उक्ति को दद्धृत भी किया है। क्योंकि उनको यह लगता है कि जो आत्मघटित नही है वह अनुभूति निश्चय ही "सेकेण्ड हैण्ड" या "परकीय" समझ ली जायेगी और तदवत् उसकी असत्यता और घटिया होने का सबूत भी समझा जा सकता है। यदि "आत्मघटित" ही सच्ची अनुभूति है तो सवाल उठता है कि जनसाधारण उसमे अपना प्रतिनिधित्व क्यों और केसे हेरता है, जबकि उसके लिए कवि की अनुभूति को आत्मघटित होने की शर्त नामंजूर है। यदि अनुभूति को आत्मघटित से विलग नही किया जा सकता है तो ऐसी अनुभूति होती रहे, गयी उसकी बला से। असल मे होता यह है कि समाज की अनुभूति ही कवि की अनुभूति बन जाती है वह इसलिए कि वह (कवि) कोई यंत्रचालित गुड्डा तो नहीं है। वह मानव है और इसी समाज का ही है, इसलिए समाज

मे पाये गये अनुभव को कच्चे माल की तरह इस्तेमाल करते हुए पहले वह उन्हे आत्मसात् करता है तब उसमे सवेदना के सहारे प्रविष्ट करता है। यही पर आकर समाज का वह सार्वजनिक सत्य कवि की निजी सोच से मिलकर उसकी स्वानुभूति बन जाती है और पाया गया सत्य, कवि का सत्य, यहाँ कहा जा सकता है कि साहित्य लाख यथार्थवादिता के बावजूद भी केवल आदर्शवादी होता है और कोरा आदर्शवादी। क्योंकि कवि इसलिए रचना में प्रवृत्ति लेता है जब वह अपने मन माफिक समाज को नही पाता है। यो भी समाज मन–माफिक हो भी नही सकता। समाज मे जो भी विसगतिया है वह प्रत्येक सवेदनशील व्यक्ति को चुभती है और यह विसंगतिया ही समाज का यथार्थ हैं और फिर कवि तो सवेदना का पुंज ही है अत जब वह इनका वर्णन कर चुकता है तो एक ऐसी स्थिति आती है जब कवि अपने स्वविवेक के बसूले उस स्थिति को छील–छाल के चमकदार बनने की कोशिश करता है, यहीं आकर साहित्य आदर्शवादी बन जाता है। संक्षेप मे कविता मन के किसी गहरे चुभन का एकातिक निरसन है, जो अपने लक्ष्य और कथ्य में निश्चित ही आदर्शवादी होती है। कालजयी रचनाएं इसीलिए हरेक युग मे प्रासगिक होती है, क्योक विचारो के बदलाव के क्रम मे समाज" उस सापेक्ष गति से नही बदल पाता। इसको एक उदाहरण से समझा जा सकता है– "मुंशी प्रेमचन्द का साहित्य शोषण के खिलाफ मुक्ति का भी व्यक्तियों की छटपटाहट का सबूत है, अत उसकी प्रासगिकता तब तक बनी रहेगी जब तक ये गलीज विसगतियाँ बनी रहेगी। अगर ये विसगतिया समाप्त हो जाय तो क्या प्रेमचन्द का उस समाज में नाम लेने वाला कोई बचेगा? शायद नही। इसीलिए साहित्य में आदर्शवादी स्थिति वह हो सकती है जो शायद ही किसी समाज को प्राप्त हो और आदर्श इसीलिए है क्योंकि वह शायद कभी पूरा नहीं होता। प्रत्येक रचना चूँकि निचोड़ रूप में लेखक की स्वानुभति और उद्देश्य होती है और उद्देश्य निश्चय ही यथार्थ के विपरीत होता है इसलिए भी प्रत्येक रचना अपने आप में केवल आदर्शवादी होती है।

डॉ0 नामवर सिंह का मानना है कि प्रयोगवादी साहित्य का 15 वर्षों का इतिहास व्यक्तिवाद के दो चरम सीमान्तो के बीच है, कुछ वैसा ही जैसे "त्रिशकु", न तो सशरीर स्वर्ग ही पहुँच पाया और न ही पृथ्वी पर ही रह

पाया। असल मे वे कहना चाहते है कि इस काव्य के कवि आकाक्षा और यथार्थ के बीच झूलता है कवि के रूप मे उसे समाज के तथाकथित सर्वोच्च वर्ग मे कोई ग्रहण नही करना चाहता क्योकि यह बात उनके समाज मे लागू नही होती जैसे इन्द्र के राज्य मे "मानव" की जरूरत नही महसूस की जाती, और समाज में वह स्वय नही रहना चाहता क्योंकि उसकी आकाक्षा, विराट है, कहते है कि– "प्रयोगवाद के पन्द्रह वर्ष का इतिहास व्यक्तिवाद के दो सीमान्तो के बीच फैला हुआ है– इनमे से एक सीमान्त है मध्यवर्गीय परिवेश के प्रति मध्यवर्गीय कवि का वेयक्तिक असन्तोष और दूसरा सीमान्त है जन–जागरण से डरे हुए कवि की आत्मरक्षा की भावना"[146] यहाँ "वैयक्तिक असन्तोष" बाकी बात तो यहाँ तक ठीक है किन्तु जहाँ तक कवि की आत्मरक्षा की भावना" का सवाल है वह भी जनजागरण के डर से यह कुछ अटपटा लगता है क्योंकि "जन–जागरण" और "कवि" के बीच विजित और विजेता जैसा कुछ अन्तस्सम्बन्ध नही है जिससे कवि को खुद की रक्षा की जरूरत महसूस दूसरी बात यह है कि यदि कवि मे "आत्मरक्षा" की भावना है तो भी वह अपने "व्यक्तित्व" की रक्षा की भावना न कि व्यक्तिरक्षा की ओर यह व्यक्तित्व रक्षा तब और गहरे महसूस की जा सकती है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सभ्यता और मूल्यो का जो अपक्षरण हुआ उससे कसी भी सर्जनशील व्यक्ति का उत्तरदायित्व बनता है कि वह किसी तरह वर्षों से चले आते हुए मानवीय पहलुओं को सजोये तो जैसा कि डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी जी का अभिमत है कि–"सबसे बड़ी बात यह है मनुष्य को मनुष्य के खतरे से बचाना है। इन सबका उपाय एक ही है– मनुष्य, प्रकृति और यंत्र के बीच उचित अनुपात विकसित करना। मनुष्य की मनुष्य, प्रकृति और यत्र से सही अनुपात मे सही सम्बन्ध हो यही काव्य है। मनुष्य न तो यत्र से क्षारित हो और न मनुष्य से ही। नए समाज और ससार की यह केन्द्रीय समस्या है।"[147] स्पष्ट रूप से डॉ0 चतुर्वेदी के सामने मानव और विश्व की जो "केन्द्रीय समस्या" है उसका कारण यह है कि सन् 39 मे द्वितीय महायुद्ध की परिसमाप्ति के साथ ही समाज में मूल्यहीनता का दौर चला वह कालान्तर मे स्थायित्व ग्रहण करता गया। वैसे तो मूल्यो के अपरक्षण की बात प्रत्येक युग मे की जाती है पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तो मूल्य जैसे जड़ से ही उखड़ गये, विश्व अर्थव्यवस्था मे भीषण हाहाकार फैल गयी।

"इन सबकी स्थितियो को बखूबी बिगाडने मे विज्ञान का हाथ रहा, क्योंकि इसके बाद विश्व का जो भी विकास हुआ वह केवल स्वरक्षार्थ ही हुआ या युद्धकालीन मन स्थिति के दबाव मे हुआ। प्रत्येक देश न केवल अपने विषय मे नए सिरे से विचार करने के लिए विवश हुआ, बल्कि एक तरह से सैन्य शक्ति को भी नए आयाम में लाना पडा। समकालीन जीवन मे भी क्या वह युद्ध मन स्थिति नहीं है? ओर अगर नही होती तो आज भी कम से कम विश्व को "एटामिक थ्यिरी" को आगे बढाने की जरूरत युद्ध को ध्यान मे रखते हुए न होती। हालाकि इस वैज्ञानिक प्रविधि ने निश्चित तौर पर औद्योगिक विकास मे ऊपरी भूमिका निभाई पर मानव की मानवीयता को भी शायद सोखकर ठठरी कर दिया। इसीलिए डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह अभिमत युक्तिसगत लगता है कि – "आधुनिक साहित्य मे मानवीय व्यक्तित्व और उसकी सर्जनात्मकता की सबसे गहरी और सार्थक चिन्तन अज्ञेय के कृतित्व मे मिलती है।"[148]

डॉ0 नामवर सिंह ने "प्रयोगवादियों" के प्रयोग को जर्मन अस्तित्ववादी विचारक नीत्से के ' वर्सच ' से जोड़ते हुए नि सन्देह "अज्ञेय" को अस्तित्ववादी घोषित करने की उपक्रम वैसा ही है जेसा कि डॉ0 रामविलास शर्मा का किसी भीषण दुराग्रह के चलते मुक्तिबोध को "अस्तित्ववादी" घोषित करने का था। इस "व्याख्या युद्ध" के चलते तप रूप में अज्ञेय और मुक्तिबोध जो वास्तविक हानि उठानी पड़ी है उसकी भरपाई निश्चय रूप से हिन्दी साहित्य को ही करना होगा। एक स्तर पर "अज्ञेय" अस्तित्ववादियो से कुछ प्रेरणा ग्रहण कर जरूर करते हैं। जिसको उनके बहुचर्चित उपन्यास "शेखर एक जीवनी" मे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वे शेखर से घोषणा भी करवाते हैं कि–"मै ईश्वर को ही नही मानता। मैं प्रार्थना भी नहीं मानता। भवानी झूंठी है। ईश्वर झूठा है। ईश्वर नहीं है।"[149] इस पर नि सन्देह नीत्से के उस उक्ति का प्रभाव है कि– ईश्वर मर चुका है और विश्व अपनी स्वतन्त्रता के लिए अभिशप्त है। अथवा इसके भी अस्तित्ववादियों की तरह वह "नैतिकता" का कोई वस्तुगत कारण नहीं मानता, माँ के द्वारा बचपन में सुनाई गई कहानियों में से उसे एक खीझ भी उत्पन्न होती है क्योंकि उसमे नैतिक उद्देश्य का पुछल्ला अवश्य लगा रहता था।" किन्तु साहित्य के पात्र जैसे हो कुछ वैसी ही

जिन्दगी लेखक की थी वह "अज्ञेय" को अभीष्ट नही लगता है। वह कहते भी है कि – "यद्यपि शेखर का जीवन–वर्णन सामान्यतया उसके लेखक का भी जीवन दर्पण है, तथापि उसमे जहाँ–जहाँ शेखर जिन "रेशनलाइजेशन" या "फैलासीज" की शरण लेता है वे शेखर की ही है उसके लेखक की नही। तर्क की ऐसी करूण भूले सभी करते हैं, लेकिन एक कहानी के पात्र मे जो त्रुटि है उसके लेखक मे भी है यह मानना गलती है।"[150] डॉ0 नामवर सिह "प्रयोगवाद" के विश्लेषण मे जिस स्वानुभूत अनुभव" की बात करते है उसका आधार भी "शेखर एक जीवनी" का वह प्रसग है जिसमे शेखर "विवेकानन्द" से लेकर "नीत्से" तथा काम शास्त्र तक की पुस्तको न केवल परायण कर जाता है बल्कि उसको अपने जीवन मे प्रयोग करने का "जोखिम" भी उठाता है और एक जगह मृत्यु मे साक्षात्कार के क्रम मे वह नदी मे डूबकर मरते–मरते बचता भी है। इन सभी दृष्टियो में मालूम होता है कि कोई भी पात्र लेखक की ही जीवन दृष्टि की प्रतीक होता है किन्तु रचना प्रक्रिया के क्रम मे कुछ ऐसे पात्रो का सृजन हो जाता है कि लेखक के बन्धन से वे अपने को छुड़ाकर न केवल स्वतन्त्र इयत्ता को धारण करते है बल्कि कभी–कभी वे लेखक को भी अपनी तरह से परिचालित करने के लिए विवश भी कर देते है, इसी वजह में जीवन्त पात्रो का सृजन होता है जो किसी खास खाचे मे प्लाट लिए हुए दर्शन के आधार पर नहीं बल्कि अपने मे ही विशिष्ट दर्शन है।

******

प्रयोगवाद और मुक्तिबोध

कोई भी साहित्यिक आन्दोलन अपनी विशेष देश काल जन्य परस्थितियो से पैदा होता है जिसे सामाजिक विकास के अनुक्रम का ही एक अग माना जा सकता है। किसी भी प्रवृत्ति का विरोध उसके खेमे वाले भी करते है जिसका आधार व्यक्तिगत न होकर वैचारिक होता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन है जिसमे गाधी जी राजनीति का सप्रश्न देखते हुए एक नवीन वैचारिकता को तरजीह दी गयी और काग्रेस मे भी "सोशलिस्ट काग्रेस" की स्थापना हो सकी। इस सोशलिस्ट वैचारिकता को "हस" के माध्यम से साहित्यिकों मे फैलाने का कार्य मुशी जी ने किया। पारम्परिक साहित्य मूल्य जो बने बनाए हुए चले आ रहे थे उसके प्रति भी लोगो का एक वर्ग जाहिरा तौर पर नाखुश था तथा साहित्य मे मूल्यो के पुनर्निधारण का हामीकार था। इस वामपंथी साहित्यिक वैचारिकता ने दो प्रकार के लेखको को पैदा किया एक तो, ऐसे लेखक जो सीधे-सीधे राजनीतिक विचार-प्रवाह के साहित्यिक रूपान्तर थे, दूसरे वे जो बुनियादी तौर से उस साहित्यिक विचारधारा, जो आदर्शवादी थी, का विरोध कर रहे थे। उनका जो प्रखर विरोध था वह एक जमाने मे छायावादी विरोध के ओत-प्रेत था। इसी को इंगित करते हुए मुक्तिबोध ने एक जगह लिखा है कि – "स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे छायावाद के प्रति जो क्षोभ प्रकट किया, वह एकदम नि सार और अनर्गल है, यह नहीं कहा जा सकता।"[151] तो उस विरोध को देखना आवश्यक है जो आकस्मिक रूप से प्रयोगवादियों और आचार्य शुक्ल के बीच एक अद्वैत की स्थापना करता है। छायावादी प्रभावों की आलोचना करते आचार्य शुक्ल लिखते है कि – "शैली की इन विशेषताओ की दूरारूढ़ साधना मे ही लीन हो जाने के कारण अर्थ भूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य क्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यन्त चित्रमयी नाम में अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गतिविधि प्राय

बध गयी।"[152] कहने का आशय यह है कि इन कविताओ के द्वारा मानव की विस्तृत भाव-भूमि का चित्रण नही हो सका। एक तरह से - "मानव मन के बहुत ही अल्प और अमहत्वपूर्ण विषयो की ओर ध्यान दिया गया।"[153] अन्य जिन दूसरे प्रकार के कवियो का उल्लेख किया गया है वे सन् 39 से ही छायावादी वैचारिक आधार भूमि को त्याग रहे थे उनका भी सबसे महत्वपूर्ण विरोध "छायावादी अर्थ भूमि के सकुचन" से ही है इस कालखण्ड के भीतर जितने भी मानव मनोभावो का चित्रण हुआ वह वास्तविक मनोभावो का न होकर कल्पित मनोभावो का ही है। इसीलिए मुक्तिबोध कहते है कि - "छायावादी मनोदशा वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व नही करती - वह जीवन जो जिया जाता है - उसकी करूणा वास्तविक करूणा नही। छायावादी मनोभावो मे रगिनी इसलिए है कि उसमे जिन्दगी, जैसे कि वह जी जाती है, की असलियत लापता है।[154] इन्ही स्थितियों के मध्य से ही प्रयोगवाद का जन्म हुआ, जिसमे जिन्दगी की ताजगी रूमानियत स्तर पर नही बल्कि जीते-जागते सबूतो पर आधारित है, नई कविता के जन्म का कारण (मुक्तिबोध ने "प्रयोगवाद" की जगह पर नई कविता का नाम अधिक उपयुक्त समझा) - "छायावादी व्यक्तिवाद के विरूद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की ही बगावत थी।"[155] यह बगावत इसीलिए सम्भव थी कि देश की बिगड़ी हुई दशा में मध्यम वर्ग के साधारण व्यक्ति का जीवन असह्य हो उठा था। ऐसा व्यक्ति वह सोंचता था कि तात्कालिक कवि उनके जीवन की यातनामयी स्थितियों का भी चित्रण करे।

मुक्तिबोध "प्रयोगवाद" को एक साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप मे देखना चाहते हैं न कि एक आन्दोलन के रूप में, उनकी निगाह मे यह प्रवृत्ति भी अपने ऐतिहासिक दबावों से ही उद्‌भुत हुई। इसके नामकरण के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि - "छायावाद के सार्वभौम एकच्छत्रता के वातावरण मे नए कवियों में नए केवल नम्रता प्रदर्शित करने के लिए अपनी रचनाओं को प्रयोग कहा वस्तुत वे कविताएं प्रयोग न होकर साक्षात् कविताएं थी।

नई कविता के विरोधियो ने निन्दा के तुच्छ भाव से प्रयोगवाद शब्द चला दिया। अत हमारे पाठक यह जान ले कि नयी कविता, कविता है प्रयोग नही। अगर इसमे आज अधकचरापन दिखाई देता है, तो यह तो नयी कविता की प्रारम्भिक अवस्था का ही लक्षण है जैसा कि यह छायावाद में भी, या अन्य साहित्यिक प्रणालियो की प्रारम्भिक अवस्था मे हो सकता है।"[156]

मुक्तिबोध का मानना था कि छायावादी कवि जीवन के प्रश्नो को भावाकुल कल्पनात्मक आदर्शवादी दृष्टि से देखता है जो जाहिरा तौर पर जीवन की विसगतियो और उसके भीषण यथार्थ से कोसो दूर है। उसने स्त्री–पुरूष सम्बन्धों का आदर्शीकरण किया, किसान–मजदूर–जीवन का रोमैण्टिक वायवीय चित्रण हुआ, दु ख और कल्पना का आदर्शीकरण – गर्ज यह कि हर चीज का कल्पना प्रवण आदर्शीकरण और उदात्तीकरण किया।

इसीलिए वे कामायनी मे वर्णित मनु–श्रद्धा सम्बन्धो को वायवी समझते हैं। उनकी घृणा उस छायावादी दृष्टिकोण के प्रति है जिसमे मनु (पुरूष वर्ग) श्रद्धा इड़ा (नारी वर्ग) पर अत्याचार करने के बावजूद या तो क्षमा कर दिया जाता है अथवा दया की ममत्व भरी छाव में दुलराया जाता है। नारी सम्मान के प्रति छायावादी दृष्टिकोण से वे इसलिए खफ़ा है कि वह नारी मुक्ति का कोई गम्भीर आन्दोलन न खडा करके मामले को या तो रफा–दफा करना चाहता है अथवा महिमा मडित, इसीलिए वे खीझते से हैं लिखते है कि – "आधुनिक हिन्दी छायावाद मे स्त्री अप्सरा हुई, देवी हुई, श्रद्धा हुई। किन्तु उसे साक्षात् मानवी सहचरी, साधारण मनुष्य, जिसका अपना निजत्व तथा व्यक्तित्व होता है, नही समझा गया।"[152] तो वे प्रयोगवाद को जिसे "यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद" की बगावत की सज्ञा देते है उसका मूलाधार केवल छायावादी वैचारिकता को तोडने या उसके फैले प्रभा मण्डल को छिन्न–भिन्न करने से ही है। दरअसल बात यह है कि जिन मानवीय संवेदनात्मक ज्वलन्त प्रश्नो को छायावादी कवि ने या तो टरका दिया अथवा उनका गलत–सलत

समाधान प्रस्तुत किया, उसके खिलाफ प्रयोगवादी कवियो विशेष तौर पर मुक्तिबोध का प्रयास स्पृहणीय है। वे लिखते है कि निश्चय ही छायावाद की फिलॉसफी और कार्य पद्धति ही गडबड है।"153 इस गडबड़ी के ही प्रतिक्रिया स्वरूप नई कविता का जन्म हुआ, जो मानवीय समस्याओ को बौद्धिक दृष्टि से देखन और मिटाने के लिए छटपटाने लगी, उसका शिल्प भी बौद्धिक हो गया। सक्षेप मे, यह बौद्धिकता ही नई कविता का केन्द्रीय सवेदन है – जो सर्जनात्मक भूमिका अदा करता है। चूँकि प्रयोगवाद या नई कविता कल्पना–प्रवण भावुकता पूर्ण, वायवीय व्यक्तिवादी आदर्शवाद के विरूद्ध यथार्थवादी व्यक्तिवाद की बगावत थी इसलिए उसमे बौद्धिकता जन्य यथार्थवादी चेतना और व्यक्तिवादी आत्मकेन्द्रण पाया जाता है। कह देना आवश्यक है कि व्यक्तिवाद और बुद्धिवाद (बौद्धिकता) ही नयी कविता की मूलभूत बाते है। जिनसे अन्य बातो का, विशेषताओ का प्रादुर्भाव होता है। अब सवाल यह है कि "प्रयोगवाद" मे जो कवि है, उनमे बहुतेरे "साम्यवादी" क्यो हो गए? इसका कारण एकदम स्पष्ट है कि जब यथार्थोन्मुख बौद्धिकता व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण प्रश्नों से नही जूझ सकी तो उसमे जिस नवीन वैचारिकता का सयुग्मन हुआ वह साम्यवादी ही थी, इसको "तारसप्तक" के प्रकाशन (सन् 1943) से ही देखा जा सकता है। तारसप्तक के प्रकाशन के समय चार प्रयोगवादी कवि साम्यवादी रूझान के चलते प्रगतिवादी विचारधारा को अपना लिए, जबकि दो कवि बाद मे प्रगतिवाद के निकट आए केवल सच्चिदानन्द वात्स्यायन ही एक मात्र ऐसे कवि थे जो अन्त तक प्रगतिवादी नही हो सके। यहाँ ध्यान देने योग्य जो बात यह है वह यह कि "तारसप्तक" में छपी कविताए सन् 42–43 के नि सन्देह पहले की है इसीलिए उसमे पूजीवादी समाज के प्रति उतना प्रखर "एण्टीसिपेशन" नही पाया जाता जितना सन् 43 के बाद की गई नई कविता में। दरअसल बात यह है कि जिन ज्वलन्त प्रश्नो को "तारसप्तक" में एक दिशा दी गयी वे परिस्थितियां दूसरा सप्तक के आने तक पूरी तरह चेंज हो चुकी थी, इसी वजह से जो प्रश्न "तारसप्तक" में उठाए गये उनका विकास "दूसरा सप्तक" में नहीं हो पाया। अपनी व्यक्तिगत स्थिति अथवा समाजार्थिक परिस्थितियों के चलते "तारसप्तक" में वर्तमान दुरावस्था से प्रसूत, नैराश्यमूलक निवेदन, राजनीतिक विरोध, सामाजिक

व्यग्य, व्यक्ति के भीतर वास्तविक अर्न्विरोध ग्रस्तता, व्यक्तिवादिता का विकेन्द्रीकरण मनुष्य की विजय मे आस्था और विश्वास का भाव दृष्टिगोचर होता है जबकि नई कविता का आधार पुष्ट होता जा रहा था पर इसके विरोधियो ने केवल नैराश्यमूलक भाव प्रधान कविताओ को आलोचना का केन्द्रक मानते हुए इस धारा का कविताओ को सर्वथा असामाजिक और असाहित्यिक घोषित करने का उपक्रम किया। हुआ यह कि मानवीय दुष्चिन्ताओ को "दूसरा सप्तक" मे – "मनोहर प्राकृतिक दृश्याकन, निसर्ग सौन्दर्य का, अनेक रूपको मे चित्रण, वातावरण के सुघर रेखाचित्र और काव्यशिल्प की रमणीयता"[159] की ओर धकेल दिया गया। "दूसरा सप्तक" वालो का टेकनीक सधा हुआ है और उनके कारण विषय भी अपेक्षाकृत सरल हैं। सामाजिक व्यग्य, प्रगतिशील प्रवृत्ति, और राजनैतिक स्तर क्षींण है और वह भी सिर्फ गूजभर है। "तारसप्तक" वालो मे जितने मनोभावो को मनुष्य–दशाओ को मथा है उतना "दूसरा सप्तक" वालो मे नही।"[160]

जैसा कि पहले ही दिखाया जा चुका है कि "प्रयोगवाद" की शुरूआत एक विद्रोह के रूप में हुई थी। इस काल मे कल्पना की हवाई उडान न मिलकर एक वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न कला का समुन्नयन होता है जिसमें कल्पना कोई दूर की कौड़ी लाकर महलो का निर्माण नहीं करती बल्कि अनुभूति को दृश्य को एक मूर्तमान और साकार सत्ता के रूप में सामने लाती है, इसीलिए मुक्तिबोध के लिए कल्पना – "एक वैज्ञानिक अस्त्र है जिसके जरिये अकन किया जाता है।"[161]

ये ही वो स्थितिया थीं जिसमे कांग्रेस के भीतर वामपथी रूझानों का उदय और विकास हुआ। कविगण जितना निजी समस्याओं और देश की समाजार्थिक समस्याओं के प्रति चेतना सम्पन्न थे उतना ही अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय समस्याओं के प्रति भी। इन्हीं समस्याओं के समाधान हेतु एक वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न वैचारिकता की खोज भी हुई तथा उस सैद्धान्तिकता को व्यावहारिक जामा पहनाने के कार्य के प्रति सजगता भी। एक ऐसी वैज्ञानिक विश्व दृष्टि की

खोज आरम्भ हुई – ऐसी दृष्टि जो वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओ के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ तक के वैज्ञानिक उत्तर दे सके। निश्चय ही इस आवश्यकता की पूर्ति "मार्क्सवाद ने किया और ऐसे लोगो के लिए यह तयशुदा बात थी कि वे मूलत बौद्धिक होते। सक्षेप मे, हृदय को दबाकर बुद्धि की ही वकालत की गयी। जीवन के छोटे से प्रश्नो को भी बौद्धिकता से "साल्व" करने का उपक्रम हुआ। किन्तु बावजूद इसके – "इन लोगो का साहित्य वामपक्षी साहित्य न हो पाया।"[162] इसका कारण दरअसल यह था कि इस समय के कवियो ने जीवन की समस्याओ को सवेदनात्मक रूप से अनुभव किया किन्तु उसकी समस्याओ के समाधानो और निराकरणों को नही। होता यह है कि यदि कवि सामाजिक विसगतियो और विद्रूपो को वैज्ञानिक रूप से सिद्ध समाधान को सवेदनात्मक स्तर पर धारण करके न चले तो उसे मजबूरन काल्पनिक और वायवीय आत्मसगति या विश्व सगति अपनाना पड़ता है। चूँकि उस जमाने मे नया वैज्ञानिक बोध इतना गहरा और आत्मीय नही हो पाया था, इसलिए वह हार्दिक आस्था और विश्वास का रूप न ले सका।

विसगतियो को हटाकर वैयक्तिक, सामाजिक और वैश्विक सगति का जो मूल प्रश्न है, वह मामूली नही है। बल्कि इन पर दृष्टिपात करने पर इसके भीतर छिपी विद्रूपताओ का ऐसा पर्दाफाश होता है कि जिसे देखकर घृणा जुगुप्सा और निराशा की वास्तविकता से साक्षात्कार होता है, जिससे स्वय को भी उबारना अत्यन्त कठिन हो जाता है, एक आत्म–घृणा से लेखक स्वयं भर जाता है। इस दृष्टि का महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि उसका समाज से जो सामञ्जस्य चाहिए, वह बिगड जाता है जिसके फलस्वरूप उसमे समाज के प्रति अश्रद्धा अनास्था उत्पन्न हो गयी। इन स्थितियो से या तो वह प्रतिक्रिया करे अथवा समझौता। किन्तु समझौता न कर पाने की स्थिति में एक अजनबीपन का बोध अपना रूप ग्रहण करता है। इसी वजह से इस काल के कवि में एक भयंकर अकेलापन या "आत्मग्रस्तता" प्रारम्भ हुई।

समझौता न करने की जो अक्खड़ता है उससे कवियो का जीवन

भी असत्य स्थितियो की ओर मुखातिब हुआ, इतना ही नहीं एक ऐसी स्थिति आई कि वह व्यावहारिक जगत क्षेत्र मे असफल सिद्ध हुआ, जिसकी परिणति उसकी "अहदीप्तिता" मे हुई। इस "अह–चैतन्यता" और "आत्मग्रस्तता" से प्रयोगवादी रचनाओ की शुरूआत होती है जो – "छायावादी मानदण्ड को अस्वीकार करती है। नए यथार्थ ने नए प्रतीक और नयी उपमाएं प्रदान की। अब चन्द्र "तप क्षीण कापालिक हो गया। आत्मा जिसको "हस" की उपमा दी जाती रही अब चिमगादड़ हो गयी।"[163]

"तारसप्तक" के प्रकाशन से साहित्य जगत मे कोई विशेष हलचल नही हुई। तीन चार भद्र साहित्यिको के अलावा, किसी विशेष बड़े पाठक वर्ग मे इसकी गूज भी नही देखी गई। प्रयोगवाद की ध्यान गया "दूसरा तारसप्तक" के सम्पादन से क्योंकि इस समय तक विश्वविद्यालयो की उच्च कक्षाओ मे इससे सम्बन्धित प्रश्नो को परीक्षा में पूछा जाता रहा। मुक्तिबोध के अनुसार – "कविवर दिनकर प० नन्द दुलारे बाजपेयी तथा डॉ० रामविला शर्मा ने काव्य की इस प्रवृत्ति का डटकर विरोध किया। किन्तु उसका फैलना रूका नही।"[164] पीछे जो कहा गया है कि इन त्रिसप्तकों में से "दूसरा सप्तक" का स्वर पहले की अपेक्षा अधिक सधा किन्तु समाजार्थिक प्रश्नो को टालने वाला सिद्ध हुआ। उसका एक कारण है कि "तारसप्तक" के लेखकों की जो रोमास की आयु अर्थात जवानी वह तो छायावाद मे ही निकल चुकी थी अब उनके सामने मीठे सपने नहीं जीवन की कठोर विद्रूपताओ ने अपना अस्तित्व दिखाना शुरू किया जिसके कारण "तार सप्तक" का कवि अधिकाधिक चैतन्य दिखाई पड़ता है बनिस्बत "दूसरा सप्तक" के, क्योंकिए एक तो वह शिल्प और विचार के स्तर पर एक बने बनाए मार्ग को पा चुका था, जो उनको अनुभूति की जटिलताओं से रोकता था इसीलिए – "उनकी कला अधिक सृजनात्मक और सौन्दर्यमयी हुई। किन्तु उन्होने जीवन के सम्बन्ध में वे प्रश्न नही उठाये जिसे तारसप्तक वालो ने खड़े किये थे।"[165]

प्रयोगवादी कवियो मे "अज्ञेय" और "भारती" को मुक्तिबोध ने

प्रगतिशीलता विरोधी माना जबकि गिरिजा कुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन, नरेश मेहता, भारत–भूषण अग्रवाल को प्रगतिकामी। इसके अलावा उन्होने एक और श्रेणी इस आन्दोलन के कवियो की खडी की जो न तो प्रगतिशील था और न ही उसका विरोधी बल्कि "फिफ्टी–फिफ्टी" था, ऐसे कवियो का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने "भवानी प्रसाद मिश्र" तथा प्रभाकर माचवे का नाम लिया। प्रगतिवादी और प्रगतिविरोधी के भी दो विभाग उन्होने किया, पहला "सौन्दर्यवादी खेमा" और दूसरा "आभ्यतर प्रतीकात्मक चित्रणवादी" जिसमे वे अपने को स्वय अज्ञेय और भारती के साथ रखा। किन्तु इसका यह मतलब नही निकाला जाना चाहिए कि मुक्तिबोध वैचारिकता के स्तर पर "अज्ञेय" और "भारती" से एकमेक है।

नई कविता

हिन्दी साहित्य के इतिहास में "नामकरण की समस्या" पर बराबर विचार किये जाते हुए भी "काल विशेषों" पर बराबर विवाद की स्थिति रही है। यूँ तो आदिकाल रीतिकाल जैसे नामकरण कुछ नानुकुर के पश्चात साहित्य की मान्य परम्परा हो चुके हैं किन्तु खासा विवाद नामकरण के सन्दर्भ में छायावाद से उत्पन्न हुआ। छायावादी विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुसार नामकरण की परिपाटी की जो व्याख्याए सामने आयीं उनसे एक मतिभ्रम की स्थिति उत्पन्न हुई। "प्रगतिवाद" मे प्रगतिशीलता को लेकर विवाद रहा और इसका चरमोत्कर्ष हुआ "प्रयोगवाद" के नामकरण को लेकर। प्रयोगवाद को लेकर "अज्ञेय" की खीझ तो सर्वविदित ही है किन्तु बावजूद इसके यह अवंटक आज साहित्यिक मान्यता प्राप्त है। कुछ ऐसा ही विवाद "नई कविता" नाम को लेकर भी हुआ। हुआ यूँ कि प्रगतिवाद प्रयोगवाद और नई कविता की जो ऐतिहासिकता है वह परस्पर एक दूसरे से जुड़ी होने के बावजूद वैचारिक स्तर पर एक दूसरे को काटती सी है। अतएव इनके नामकरण मे किसी विशेष काल खण्ड का उतना महत्व नहीं है जितना कि

वैचारिकता का। इसका एक बडा कारण यह भी है कि बहुत से कवियों की समयावधि प्राय तीनो "वाद" तक फैली है। जैसा कि डॉ0 नामवर सिंह का कहना है कि – "प्रयोगवादी कविता के जमाने मे ही "नई कविता" नाम का प्रचार किया जाता रहा है। किन्तु "नया" शब्द विशेषण से जिस नवजीवन की ताजगी का बोध होता है। वह इन कविताओ मे नही पायी जाती। इनका नयापन केवल पूर्ववर्ती कविताओ से "भिन्नता" मे ही है और हर युग की कविता अपने पूर्ववर्ती युग से कुछ न कुछ भिन्न अथवा "नई" होती है इसलिए "नयी कविता" नाम मे अतिव्याप्ति दोष है।"[166] विचार करने पर यह कुछ वैसा ही है जैसे प्रत्येक युग का साहित्य स्वभावत प्रगतिशील होता है।

इसके विपरीत मुक्तिबोध का मत है, जो प्रयोगवाद को "नई कविता" कहना ज्यादा बेहतर मानते है और कहते है कि – "नई कविता के विरोधियों ने निन्दा के तुच्छ भाव से प्रयोगवाद शब्द चला दिया।"[167] दरअसल बात यह थी कि जब छायावादी कविताओ से असल जिन्दगी लापता हो गयी और प्रगतिवाद ने भी मनुष्य की एकागी पहलू और उसकी राजनैतिक जागरूकता को ही अपनी कविताओं मे तरजीह दी तो स्वाभाविक रूप से एक ऐसे कवि वर्ग का उदय हुआ जिसमे वास्तविक करूणा और काल्पनिक करूणा को लेकर एक द्वन्द्व था और जो मनुष्य सत्य को उसके खण्डित स्वरूप मे नही बल्कि पूर्णता मे पकड़ने का अध्यवसायी था। इसीलिए मुक्तिबोध नई कविता को – "वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतना व्यक्ति की संवदेनात्मक प्रतिक्रिया"[168] मानते है। यद्यपि "नई कविता" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग "अज्ञेय" ने अपनी एक रेडियो वार्ता मे किया था[169] किन्तु नयी कविता के साथ उनके सम्बन्ध मधुर तो नहीं ही कहे जा सकते जिसका एक बड़ा प्रमाण उनके द्वारा लिखित कविता – "नए कवि के प्रति" है, जो अपने निहितार्थों में कतई ही श्रद्धास्पद नहीं है। यह भी हिन्दी साहित्य की एक जबर्दस्त विडम्बना ही है कि जिन "अज्ञेय" ने "नई कविता" तथा इसके जाज्वल्यमान कवियों को अपने नेतृत्व में एक पहचान दी उन्ही कवियों की ओर से उन्हे कड़ी टक्कर भी मिली।

लेकिन इन तथ्यों के अलावा नयी कविता का एक ऐतिहासिक कालखण्ड भी है, जहा से वह शुरू होती है, और जहाँ उसकी पहिचान बनती है। इसका सक्षिप्त वृत्त इस प्रकार है – "आलोचना त्रैमासिक की एक बैठक जो धर्मवीर भारती के यहाँ हो रही थी, मे निर्णय किया गया कि इलाहाबाद के युवा लेखको के सहकारी प्रकाशन "कविता प्रकाशन" की ओर से "नयी कविता" शीर्षक अर्धवार्षिक पत्रिका का प्रकाशन किया जाये। सपादन का दायित्व जगदीश गुप्त और राम स्वरूप चतुर्वेदी को तथा व्यवस्था एव वितरण का जिम्मा राजकमल प्रकाशन की ओर से होना सुनिश्चित हुआ।"[170]

"नई कविता" पत्रिका का पहला अंक सन् 1954 मे आया किन्तु 1953 (जो कि "द्वितीय सप्तक" के सम्पादन का भी काल है) से ही नए लेखको की संस्था "परिमल" की ओर से नई कविता पर उसके गठन एव विचार को लेकर पर्चे पढ़े गए। इसमे जो सबसे रोचक पहलू है वह यह कि जिन कवियो को अज्ञेय ने अपने "तारसप्तक" और "दूसरा तारसप्तक" मे शामिल नहीं किया उन्होने ही अपने को एक नए मच की अभिलषित तलाश से जोड़ा। ध्यातव्य है कि डॉ0 जगदीश गुप्त – "नयी कविता" पत्रिका तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा– "नयी कविता के प्रतिमान" नामक सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना कर चुके थे किन्तु इनकी "तीसरे सप्तक" (जिसका प्रकाशन सन् 1959 मे हुआ था) मे भी स्थान नही दिया गया।

मुक्तिबोध ने "दूसरा सप्तक" और "तारसप्तक" के बीच वैचारिक द्वैत को लक्षित करते हुए लगभग क्षोभजनक लहजे में कहा है कि – "दूसरा सप्तक" निकलने तक परिस्थिति बदल चुकी थी। नयी कविता का टेकनीक प्रचार पा चुका था। जिन व्यक्तिगत और सामाजिक राजनीतिक स्थिति परिस्थितियों से "तारसप्तक" वालो को जूझना पड़ा, वे परिस्थितियाँ "दूसरा सप्तक" वालों के पास न थी।"[171]

दूसरा सप्तक का प्रकाशन स्वतन्त्र भारत में हुआ था जब कि सन् 43 का समय भारतीय आशा और निराशा के बीच वाला था। राष्ट्रीय

आन्दोलन को एक निर्णायक दिशा यद्यपि दे दी गयी थी किन्तु भारतीय जनमानस के सामने देश की अखण्डता को लेकर भी एक सशय की स्थिति थी, देश स्वतन्त्र होगा, तो कब? क्या अखण्ड भारत की कल्पना की जाए? और देश का भविष्य क्या होगा? जैसे सवाल लोगो को एक उहापोह की स्थिति मे डाले हुए थे। तो जिस रूमानियत और काव्य रमणीयता, मनोहर प्राकृतिक दृश्यांकन" की बात मुक्तिबोध द्वितीय सप्तक के सन्दर्भ मे उठाते है वह दरअसल भारतीय स्वतन्त्रता की सद्य प्रसूत उत्फुल्लता ही थी। किन्तु यह प्रफुल्लता कुछ ही समय के लिए थी। जैसे कठिनाइयो का प्रचण्ड सूरज समय के आकाश मे चढता आता है और हिमकन उसके आतप को न सह सकने के कारण अपना वजूद खो बैठते है, कुछ-कुछ वैसा ही भारतीय जनमानस की आकांक्षाओ का भी हुआ। जो सपने उन्होने बरसो-बरस सजोए थे, वे यो भहरा जायेगे किसी को कल्पना तक न थी। किन्तु भारतीय स्वतन्त्रता के साथ ही साथ देश के लोगो को दो तरह की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और लोगो से अपनी-अपनी वर्गगत स्थितियों के कारण उसको उसी रूप मे सहेजा भी। एक तो गरीब वर्ग जिसको शोषित होने की पूरी स्वतन्त्रता है और दूसरा धनी अभिजात्य वर्ग जिसे समाज का अपने ढंग से नेतृत्व की स्वतन्त्रता है। इस मनमानी स्वतन्त्रता का इस देश मे इससे भीषण मखौल और क्या हो सकता है, जहाँ - "सफलता के लिए सामर्थ्य नही समर्थन लगता है। समर्थन ही सामर्थ्य है। इस मान सत्य को भूल कर जो लोग काम करते हैं वे अन्धी दीवार से टकराते है।"[172] तो जिस देश में इसी तरह के "महान सत्य" हुआ करते हैं उस देश मे युवाओ का भविष्य तथा देश के भविष्य की सहज कल्पना की जा सकती है।

तो, "नई कविता" पत्रिका के प्रथम अक को देखने पर साहित्य जगत मे कुछ वैसा ही माहौल बना जैसे छायावादी काल में "जूही की कली" को देखकर बना था। यहाँ तो स्थिति ओर भी गड़बड़ थी क्योंकि "जूही की कली" का एक सामूहिक रूपान्तर ही सामने आया। कवियों, समीक्षको, पाठकों, विद्वानो के बीच अपने-अपने विवेकानुसार इन पर बहस भी हुए। बकौल मुक्तिबोध - "वह काल "बच्चन" "अंचल" नरेन्द्र, और बाद में शिवमंगल सिह "सुमन" का काल

था। × × × × × × ×× × × नए ढग की कविताए की जाने लगी। जगह–जगह नए लेखक पैदा हुए। इधर "तार सप्तक" के लेखक अपना विकास कर रहे थे, यद्यपि मासिक – पत्रो ने भी प्रकाशन का दरवाजा उनके लिए बन्द कर रखा था।" तथा "कविवर दिनकर" नन्द दुलारे बाजपेयी और डॉ0 रामविलास शर्मा ने इस काव्य–प्रवृत्ति का डटकर विरोध किया। किन्तु उसका फैलना रूका नही।"[173]

"नई कविता" पर प्रगीतात्मकता और रूमानियत का दोषारोपण किया गया। इस चीज से इकार नही किया जा सकता कि उसमे उपरोक्त "दोष" थे किन्तु इसके अलावा भी बहुत कुछ था नयी कविता मे। सामाजिकता के पक्षधरो को सम्भवत आत्मालोचन का वह पक्ष दिखा ही नही जो समाजोन्मुख कही अधिक था बनिस्बत आत्मग्रस्तता के, कारण यह कि – "वैसी कविता (नयी कविता) पर्सनल सिच्युएशन की वैयक्तिक प्रसग प्राप्त और प्रसंग–ग्रस्त मनोदशा की कविता है। लेकिन चूँकि वैसे वैयक्तिक प्रसग अनेको के हो सकते हैं और होते है (भले ही कुछ लोग उन्हे छिपा जाए तो उनको एक सामाजिक अर्थ और महत्व तो प्राप्त हो ही जाता है।"[174]

डॉ0 रामविलास शर्मा का नई कविता को लेकर एक भयानक विद्वेष रहा है और चूँकि नई कविता के तमाम कवियो ने अपना नेता मुक्तिबोध को घोषित या अघोषित रूप से मान लिया तो तद्वत डॉ0 शर्मा का मुक्तिबोध पर पिल पडना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है, क्योंकि पत्तों–पत्तो पर प्रहार करने की अपेक्षा वृक्ष की जड़ में मट्ठा डालना उन्हें ज्यादा बेहतर लगा। अलावा इसके जिस मुक्तिबोध को लेकर "नई कविता" को प्रगतिशील परम्परा से जोड़ा जाने लगा उन्ही की कविताओं पर ढूँढ–ढूँढ कर आधुनिक भावबोध तथा अस्तित्ववादी दर्शन को जिस तरह डॉ0 शर्मा द्वारा आरोपित किया गया वह उनकी सर्वाधिक कमजोर आलोचना पहलू के रूप में मान्य हो चुकी है। यह भी अजीब विसंगति ही है कि "निराला" के काव्यतत्व को निखारने वाला इतना प्रखर आलोचक मुक्तिबोध में आकर चूक जाता है।

जब प्रगतिवादी कविताओ में "वैयक्तिक यथार्थ" तथा आन्तरिक अनुभूतियो को नही छुआ गया, सिर्फ बाह्य पक्ष का ही चित्रण किया जाता रहा, तो, इसी के खिलाफ पीडित मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मसत्ता का चित्रण नयी कविता वालो ने किया जिसमे उसके वास्तविक सुख-दुख और उसके सघर्षो और आदर्शो का अकिन किया गया।

जैसे छायावाद मे करूणा भी अवास्तविक हुआ करती थी उसी तरह नयी कविता मे "तनाव" की स्थिति नही है क्योकि वह विषम जीवन स्थितियो की उपज है। स्वतन्त्रता के पश्चात मुक्तिबोध ने जो रचनाए लिखी उसकी पटभूमि तथा स्वतन्त्रता के पहले की रचनाओ की पट भूमि मे जबर्दस्त अन्तर है। श्रीकान्त वर्मा ने "चाँद का मुँह टेढा है" की प्रस्तावना मे स्पष्ट" किया है कि इसमे सकलित कुछ कविताए (भूल गल्ती) ब्रह्मराक्षस एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन एक अर्न्तकथा चम्बल की घाटी में चकमक की चिन्गारिया, अधेर में) स्वाधीनता के बाद की है।

सन् 42-46 के बीच "निराला" की लिखी कविता- "जल्दी-जल्दी पैर बढ़ावो" मे "समाजवाद" की जो घोषणा है वह आकस्मिक रूप से मुक्तिबोध की स्वतन्त्रता के पश्चात लिखी कविता - "एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन" से कितनी मिलती है। निराला जहा जनता का आह्वान करते हुए कहते हैं कि -

'जल्दी-जल्दी पैर बढ़ावो, आवो, आवो
आज अमीरों की हवेली
धोबी पासी चमार तेली
खोलेंगे अधेरे का ताला,
एक पाठ पढ़ेगे, टाट बिछावो

तो उस "पाठ" का सम्पूर्ण मजमून क्या है? बताते हैं कि -

"सारी सम्पत्ति देश की हो,
सारी आपत्ति देश की बने,
जनता जातीय देश की हो,
बाढ़ से विवाद यह ठने,
काँटा काँटे से कढ़ावो।"[175]

"निराला" आमूल परिवर्तन के लिए "कॉंटा से कॉंटा" निकालने की सलाह देते है, जो सन् 36 मे लिखी उनकी महान कविता "राम की शक्ति पूजा" के आराधना के दृढ आराधन से दो उत्तर" से एक कदम आगे की बात है। मुक्तिबोध भी यही कहना चाहते है कि दरआसल हमारी अपनी दुर्दशा के कारण स्वय मे ही निहित है आज हम "व्यवस्था" के खतरनाक खडहरो के मलबे के नीचे जो दबे है वह इसलिए कि –

– जरूरत से ज्यादा नही, बहुत–बहुत कम
हम बागी थे।।

लेकिन बावजूद इसके, उनमे एक सुखद भविष्य की कल्पना है जिसमें "भगवान इन्द्र" के महलो का नष्ट करके –

"प्राथमिक शाला के
बच्चों के लिए एक
खुला–खुला, धूप भरा साफ–साफ
खेल–कूद–मैदान सपाट अपार -
यो बनाया जायेगा कि
पता भी न चलेगा कि
कभी महल था यहॉं भगवान इन्द्र का।"[176]

दबकर "फासिल" होने के बाद भी एक तेजस्विता बाकी है "विद्रोही" मे –

"आत्म–विस्तार यह
बेकार नही जायेगा
जमीन की गडी हुई, देहो की खाक से
शरीर की मिट्टी से, धूल से
खिलेंगे गुलाबी फूल।"[170]

जो मीनार की "नीव की ईंट" की तरह यद्यपि पहचाने नही जायेगे किन्तु "प्रकृति के रस–कोष" को शायद कोई भी न रोक पाए।

मुक्तिबोध ने कई जगहो पर लिखा है कि आज का समाज भयानक विषमता ग्रस्त है – चारो ओर नैतिक ह्रास के दृश्य दिखाई दे रहे हैं। शोषण और उत्पीड़न पहले से बहुत अधिक बढ गया है। नोच–खसोट अवसरवाद, भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। कल के मसीहा आज उत्पीड़क हो उठे हैं।" इसलिए वे "कविता

मे कहने की आदत" वाले न होते हुए भी कविता मे हीकहते हैं कि –

> वर्तमान समाज चल नही सकता।
> पूँजी से जुडा हुआ हृदय बदल नही सकता,
> स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी
> छल नही सकता मुक्ति के मन को
> जन को।"[178]

लेकिन इसके बावजूद भी "समाज चल रहा है और धडल्ले से चल रहा है, तो इसके पीछे कुछ न कुछ जरूर कारण रहा होगा। वह कारण क्या हो सकता है? बकौल मुक्तिबोध ही – "पुराना गया लेकिन नया नही आया, नए के नाम पर जो कुछ आया वह पुराने का आसन ग्रहण नही कर सका। जीवन का व्यापक अनुशासक सत्य मर गया। × × × × × × × × × × और इस समय तो नए मूल्य केवल बौद्धिक स्तर पर है। वे जीवन का अनुशासन क्या कर सकेगे। × × × × × × × × × उन्हें कोई सामाजिक मान्यता प्राप्त नही है। न उस मान्यता के लिए व्यापक सघर्ष का आयोजन किया गया।" ऐसा इसलिए हुआ – कि हमने अपने साक्षात् जीवन में यानी परिवार और समाज मे, बीतते हुए पुराने के प्रति और आते हुए नए के प्रति एक अवसरवादी दृष्टि अपनाई। × × × × × × × × × × मार्क्सवाद या राजनीति ने सार्वजनिक क्षेत्र सभाला, समाज बदलने की बात की। लेकिन केवल राजनीतिक प्लेटफार्म से ही समाज नही बदल जाता। × × × × × × × × बाहर राजनीति या साहित्य मे "नवीन मूल्य" "नए मानव–मूल्य की बात चलती है, समाजवादी ढग की समाज रचना की बात चलती है, लेकिन जहाँ कार्य की बात आयी– कि बड़े विचारक कन्नी काट गये। मानो घर समाज से बाहर हो।"[179]

नई कविता के प्रति मुक्तिबोध का दृष्टिकोण इसलिए अन्य मान्य आलोचकों से अधिक सधा है क्योंकि उस पर एकांगी दृष्टिकोण से नहीं, सतही विवेचन से नहीं, बल्कि एक समग्र दृष्टि अख्तियार किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से नई कविता आन्दोलन मे भी दो प्रकार के कवियों का उल्लेख किया है। एक तो "प्रगतिकामी" और दूसरे प्रतिक्रियावादी या "प्रगति विरोध"। जिनकी अलग–अलग

वर्गीय प्रतिबद्धताए है और तद्वत उनका साहित्य भी। लिखते है कि – "हिन्दी मे इन दिनो दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे हैं। एक उच्च मध्यवर्गीय जन, दूसरे निम्न मध्यवर्गीय जन। × × × × × × × × × × दोनो के सामने दुनिया दो अलग सवेदनात्मक रूपो मे प्रस्तुत हो रही है।"[180]

उच्च मध्यवर्ग जहाँ भौतिक सुख–सुविधा के पीछे भागने वाला अवसरवादी और श्रेष्ठ मानवीय लक्ष्यो से च्युत है, वही निम्न मध्यम वर्ग न केवल परेशान है बल्कि सघर्षरत भी है। उन्होने निम्न मध्य वर्ग को श्रमिक जनता का सगी भी बताया और उसको क्रान्तिकारी तक कहा। "चाँद का मुँह टेढा है" नामक कविता मे "हडताली पोस्टर" बनाने और उसको गलियों–गलियो मे चिपकाने का काम आखिर कौन करता है? यही निम्न मध्यम वित्त वर्ग। वे स्पष्ट रूप से मानते हैं कि – "नई कविता के क्षेत्र मे असदिग्ध रूप से प्रगतिशील परम्परा की एक लीक चली आयी है।"[181]

किन्तु इसका एक और पहलू है जो सीधे–सीधे लोक–विरोध से जुडा है। कुछ ऐसे भी "राजनीतिक सचेत" कवि इस अन्दोलन में थे जिन्होने जानबूझकर जनवाद के प्रश्न को हासिये पर डालने का प्रयास किया, उनको जहाँ भी ऐसा मालुम हुआ – "अन्य की जीवन – दृष्टि उत्पीडित जनता का पक्ष ले रही है वही नाक–भौं सिकोडे जाने के चिन्ह दिखाई पडे।"[182]

स्वतन्त्रता के बाद आए जिस "अवसरवाद" का पीछे उल्लेख किया जा चुका है उसका प्रभाव "निम्न मध्यवर्ग " पर भी रहा। मुक्तिबोध इगित करते हैं कि "इस वर्ग मे से बहुतेरे ऐसे हैं जो व्यक्तिगत लाभ की लालसा मे औरों की राह मे बाधा बनकर स्वय महत्वपूर्ण हो जाते है या आपेक्षिक ऊँची जगह पर पहुँच जाते हैं, किन्तु उनका स्वय का वर्ग (गरीब श्रेणी) उनका स्वागत नही करता। फलत उच्च वर्गों के प्रति अविश्वास, घृणा, तिरस्कार और क्षोभ, साथ ही अपने वर्ग की दु स्थिति मे पड़े हुए लोगो की सहायता, प्रेम तथा नए आदर्शों का स्वप्न और अपनी दु स्थिति के प्रति उक्त प्रतिक्रिया और विक्षोभ इस गरीब मध्यवर्ग

के स्थायी भावो मे से हैं।"[183]

"आधुनिक भाव बोध" के नाम पर या "व्यक्ति स्वातन्त्र्य" के नारे पर जनता को जो बरगलाने का एक कुचक्र नई कविता" के कुछ कवियो ने चलाया वह निश्चय ही आन्दोलन की प्रतिगामिता का प्रतीक है। मुक्तिबोध एकदम से इसके खिलाफ हैं। "व्यक्ति स्वातन्त्र्य" के नाम पर व्यक्ति और समाज के बीच जो गहरी खाई खोदी गई तथा जनता को एक "भीड" समझ कर उनको यह घुट्टी पिलाई जाने लगी – "व्यक्ति, चेतन व्यक्ति – वह तो आत्मतन्त्रवादी है। इसलिए उसका कर्तव्य है कि वह भीड का हिस्सा न बने। भीड मे व्यक्तित्व का नाश होता है।"[184] तो मुक्तिबोध एकदम से बिफर जाते है, इस गलीज सिद्धात पर, और कहते है कि – "अब कोई इन महोदयो–महाशयो से पूंछे कि क्या भारत की स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्ति गाधी ने दिलाई है।। क्या उसमे अनगिनत लोगो ने अपनी प्रबुद्ध चेतना द्वारा योग नही दिया।। क्या उसका सारा श्रेय नेता को ही है।। और नेता कहा से पैदा होता है।।"[185] जाहिर है कि वह आसमान से तो नही ही टपकता। अत व्यक्ति स्वातन्त्र्य बनाम समाजवाद का जो शीत युद्ध हे वह सीधे–सीधे प्रतिक्रियावादी है। इसका यह मतलब नहीं है कि व्यक्ति की इयत्ता को मुक्तिबोध महत्व ही नही देते। देते है, और खूब देते हैं। उन्होने लिखा है कि – "व्यक्ति स्वातन्त्र्य कला के लिए, दर्शन के लिए विज्ञान के लिए अत्यधिक आवश्यक और मूलभूत है। कोई भी सृजनशील प्रक्रिया उसके बिना गतिमान नही हो सकती। यह एक बुनियादी तथ्य है।"[186]

किन्तु आज के विषमता ग्रस्त समाज मे जिसमे प्राय हर चीज बिकाऊ हो, और जब व्यक्ति को अनुशासित करने वाला तत्व "नैतिकता" का तकाजा इतना क्षीण हो गया हो, तो "व्यक्ति स्वातन्त्र्य" का मतलब केवल स्वहितार्थ मनमाने कामो से ही लिया जा सकता है। जिसमे साहित्यकार को अपने धन बल से प्रकाशक खरीद लेता है और पूँजीपतियों के यहाँ सरस्वती भी पानी भरती नजर आती हैं। मुक्तिबोध के लिए "व्यक्ति स्वातन्त्र्य" का और ही अर्थ है जिसे उन्होंने एक जगह लिखा भी है –

"व्यक्ति–स्वातन्त्र्य का अर्थ है प्रत्येक को मानवोचित जीवन का, आत्म विकास का, सामाजिक रूप से, समाज रचनात्मक रूप से, स्थाई और शाश्वत प्रबन्ध, जिससे कि उसे अपने बाल–बच्चो के जीवनयापन की चिन्ता न रहे, तथा वह अपने को, अपने समय को, किसी व्यक्ति विशेष को और धनिक विशेष की या सरकार को बेंचे नही, वरन् अपने को तन–मन–धन से समाज सेवा के कार्य मे लगा दे, और समाज उसकी पूरी– जीवन व्यवस्था के आर्थिक पहलू के सवाल को अपने हाथ में लेकर उसका हल करे, समुचित प्रबन्ध करे, और व्यक्ति को अपने जीवनयापन के खर्च के सवाल की चिन्ता मे तरह–तरह के समझौते न करना पडे।"[187]

स्पष्ट रूप से अपनी–अपनी वर्ग गत विशेषताओ के कारण "व्यक्ति–स्वातन्त्र्य" के लक्ष्यो में न केवल जबर्दस्त अन्तर है बल्कि विरोध–भाव भी है। व्यवहारिक रूप से आज भी समाज का हमारा ढाचा वैसा का वैसा ही है जिसमे व्यक्ति–स्वातन्त्र्य केवल स्वार्थ का ही दूसरा नाम होकर रह गया है, उपरोक्त उद्धरणो मे जिन "मानव" को मानवोचित गरिमा प्रदान करने की बात वे करते हैं वे कोई "राल्स रॉयल" या "ऑपेल अस्त्र" में बैठ कर तफरीह करने वाले "सज्जन भद्र मानव" नही है बल्कि – "वह साधारण मध्य वर्गीय और निम्न वर्गीय जन है जो अपने बालको को उचित शिक्षा और उचित वस्त्र का भी ठीक ढग से प्रबन्ध भी नही कर सकते।"[188]

शायद यही वजह है कि उनका नायक "रक्तालोक स्नातपुरूष" – फटे हुए वस्त्र पहने हुए, "स्वर्ण–वर्ण मुख" किन्तु मलीन और "भयानक स्थिति" को लेकर जिन्दगी के भयानक अधेरे मे चक्कर काटता रहता है।

मुक्तिबोध ने "नयी कविता" क्षेत्र में आए हुए तीन चार पदो (लघुमानव की अवधारणा, सौन्दर्य बोध, व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा आधुनिकता बोध) की न केवल जम कर आलोचना की बल्कि यह भी दिखाया है कि इनका कुल उद्देश्य – "लेखक को हर तरह से उन वात्याचक्रो से दूर रखा जाए, ज

शहरो की गलियो और सडको मे राजनैतिक और सामाजिक विक्षोभ बनकर प्रकट होती है।"[189]

नयी कविता मे मनुष्य और उसके समग्र अनुभवो को पकडने का यत्न हुआ। यो तो प्रत्येक ही युग मे मनुष्य को उसकी पूर्णता मे ही देखने का दावा किया गया, पर पुर्नजागरण काल मे इस दावे पर कुछ अधिक ही जोर दिया गया, क्योंकि यही वह काल था जब मनुष्य को जाति, धर्म, वर्ण, सस्कृति और समाज से चाल कर खाटी मनुष्य के रूप मे ही प्रस्तुत किया गया। इस सन्दर्भ मे "लघुमानव" की अवधारणा जो मनुष्य की बुनियादी – अखण्डता में एक रोड़े की भाँति था, कहा गया कि – "हम सब "लघुमानव" है, जनसाधारण नही। क्यो, इसलिए कि आदर्शों ने हमको दगा दिया है, छला है, प्रवचना की है।"[190] निश्चित ही यह सिद्धान्त "जनता" अथवा "जन" से "व्यक्ति" विभाजन का एक कुचक्र था।

जहाँ तक "आधुनिकता बोध" का मतलब है वह यों तो काल–सापेक्ष है किन्तु आधुनिक सन्दर्भों मे आधुनिकता बोध का सम्बन्ध "यथार्थ बोध" से है और यथार्थ बोध यथार्थ की विसगतियो से अधिक जुड़ा है, जाहिर सा है कि "विसगति बोध" में मुक्ति की एक दबी छटपटाहट होती है। यही वजह है कि मुक्तिबोध के लिए आधुनिकता बोध का मतलब – "अन्याय के खिलाफ आवाज बुलन्द" करने से है तथा यह भी कि– "मानवता के भविष्य निर्माण के संघर्ष मे हम और भी अधिक दत्तचित्त हों तथा हम वर्तमान परिस्थिति को सुधारे, नैतिक ह्रास को थामे – उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाय योजना करें।"[191]

xxxxxxxx xxxxxxxx

सन्दर्भ

1 आधुनिक भारत – विपिन चन्द्र, पृ0 – 104

2 " पृ0 – 104

3 " पृ0 – 227

4 " पृ0 – 213

5 " पृ0 – 226

6 " पृ0 – 226

7 " पृ0 – 227

8 " पृ0 – 236

9 " पृ0 – 236

10 " पृ0 – 230

11 " पृ0 – 241

12 गजानन माधव मुक्तिबोध प्रतिनिधि कविताए स0 अशोक बाजपेयी, पृ0 – 129

13 वही, वही, पृ0 – 141

14 नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध, पृ0 – 136

15 चन्द्रगुप्त नाटक – प्रसाद पृ0 – 55

16 आधुनिक भारतीय इतिहास एक नवीन मूल्याकन – बी0एल0 ग्रोवर पृ0 – 243

17 आधुनिक भारत – विपिन चन्द्र पृ0 – 89

18 वही, " पृ0 – 88

19 आधुनिक भारतीय इतिहास एक नवीन मूल्यांकन – बी0एल0 ग्रोवर, पृ0 – 253

20 वही, " पृ0 – 254

21 मुक्तिबोध रचनावली 6 – स0 नेमिचन्द्र जैन, पृ0 – 183

22 आधुनिक भारत – विपिन चन्द्र, पृ0 – 148

23 वही, पृ0 – 148

24 आधुनिक भारत – विपिन चन्द्र, पृ0 – 150

25 वही, " पृ0 – 130

26 "कामायनी" एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध, पृ0 – 57

27 वही " पृ0 – 45

28 "आधुनिक भारत" – विपिनचन्द्र, पृ0 – 185

29 "भारत का सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक इतिहास" – पुरी, चोपडा दास, पृ0 – 41

30 "अद्‌भुत भारत", ए0एल0 बाशम, पृ0 – 119

31 "कामायनी" एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध, पृ0 – 62

32 वही, " पृ0 – 61

33 वही, " पृ0 – 62

34 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र – भारत दुर्दशा

35 उप0 उप0

36 डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी–हिन्दी साहित्य एव सवेदना का विकास–पृ0–108

37 बिपिन चन्द्र – आधुनिक भारत– पृ0 स0–190

38 डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य एव सवेदना का विकास–पृ0–103

39 डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी–हिन्दी आलोचना– पृ0 स0–29

40 बाबू गुलाबराय सिद्धान्त और अध्ययन–पृ0–47

41 डॉ0 नगेन्द्र – द्विवेदी युग(हिन्दी साहित्य का इतिहास) – पृ0 स0 –507

42 डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी–हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास–पृ0–115

43 उप0 उप0–पृ0–

44 सं0 डॉ0 नगेन्द्र–हिन्दी साहित्य का इतिहास–पृ0–539

45 डॉ0 नामवर सिह–आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ–

46 उपरिवत् उपरिवत्

47 डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी–हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास–पृ0–135

48 मुक्तिबोध–नई कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध–पृ0–8

49 डॉ0 नामवर सिह–कविता के नए प्रतिमान–पृ0–175

50 डॉ राम विलाश शर्मा–नई कविता और अस्तित्ववाद–पृ0–52

51 डा्0 वी0 एल0 ग्रोवर–आधुनिक भारतीय साहित्य एक नवीन मूल्यांकन–पृ0–424

52 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनावली–6 पृ0–572

53 डा्0 नामवर सिह – कविता के नए प्रतिमान–पृ0–175

54 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–चिन्तामणि–भाग–1–पृ0–149

55 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–270

56 उप0 उप0 पृ0–269

57 आचाग्र रामचन्द्र शुक्ल–हिन्दी साहित्य का इतिहास–पृ0–362

58 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनावली एक–पृ0 – 35

59 डॉ0 मोतीराम वर्मा–लक्षित मुक्तिबोध–पृ0–83

60 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–हिन्दी साहित्य का इतिहास–386

61 अज्ञेय–शेखर एक जीवनी ।। पृ0–229

62 स0 डॉ0 नगेन्द्र–हिन्दी साहित्य का इतिहास–पृ0–561

63 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनावली–1 पृ0–48

64 उप0 उप0 पृ0–44

65 उप0 उप0 पृ0–37

66 उप0 उप0 पृ0–78

67 डॉ नामवर सिह–छायावाद पृ0–51

68 मुक्तिबोध–नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध–पृ0–78

69 उप0 उप0 पृ0–73

70 उप0 उप0 पृ0–2

71 उप0 उप0 पृ0–77

72 उप0 उप0 पृ0–73

73 उप0 उप0 पृ0–48

74 उप0 उप0 पृ0–83

75 उप0 उप0 पृ0–78

76 मुक्तिबोध–नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध–पृ0–83

77 उप0 उप0 पृ0–82

78 उप0 उप0 पृ0–77

79 उप0 उप0 पृ0–81

80 उप0 उप0 पृ0–81

81 उप0 उप0 पृ0–80

82 डॉ0 रामविलाश शर्मा नई कविता और अस्तित्ववाद पृ0–30

83 मुक्तिबोध–नई कविता का आत्मसघर्ष तथा निबध पृ0–84

84 उप0 उप0 पृ0–72

85 डॉ0 रामविलाश शर्मा–नई कविता और अस्तित्ववाद पृ0–30

86 डॉ0 नामवर सिह–आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉं–पृ0–77

87 डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास–पृ0–224

88 डॉ0 नामवर सिह –आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉं–पृ0–72

89 डॉ0 रामविलाश शर्मा–नई कविता और अस्तित्ववाद–पृ0–30

90 उप0 उप0 पृ0–30

91 बिपिन चन्द्र–आधुनिक भारत–पृ0–227

92 उप0 उप0 पृ0–215

93 डॉ0 रामविलाश शर्मा–निराला की साहित्य साधना–।।।–पृ0–280

94 डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी–हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास–पृ0–224

95 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास–पृ0–293

96 डॉ0 नामवर सिह–आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉं–पृ0–78

97 उप0 उप0 पृ0–78

98 मुक्तिबोध–नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबधन–पृ0–48

99 उप0 उप0 पृ0–49

100 उप0 उप0 पृ0– 16

101 उप0 उप0 पृ0–132

102 उप0 उप0 पृ0–125

103 डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी–हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास–पृ0–273

104 मुक्तिबोध–नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध–पृ0–14

105 उप0 कामायनी एक पुनर्विचार–पृ0–8

106 उप0 –नई कविता का आत्मसघर्ष तथ अन्य निबघ–पृ0 –14

107 उप0 उप0 पृ0–47

108 उप0 उप0 पृ0–

109 उप0 – मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–313

110 डॉ0 रामविलाश शर्मा–नई कविता और अस्तित्ववाद–पृ0–174

111 मुक्तिबोध–नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध–पृ0–13

112 डॉ0 रामविलाश शर्मा–नई कविता और अस्तित्ववाद–पृ0–22–23

113 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनावली–5–पृ0–185

114 उप0 उप0 पृ0–185

115 विजया वैघ–राष्ट्रवाणी (1965) पृ0–271

116 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध–रचनावलर–6 पृ0–328

117 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध–रचनावली–5 पृ0–285

118 डॉ0 रामविलाश शर्मा–नई कविता और अस्तित्ववाद पृ0–170

119 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनाचली–5 पृ0–284

120 मुक्तिबोध– उप0 पृ0–284

121 श्री नरेश मेहता–मुक्तिबोध एक अवधूत कविता–पृ0–45

122 स0 अशोक बाजपेयी–मुक्तिबोध प्रतिनिधि रचनाएं–पृ0–29

123 डॉ0 रामविलाश शर्मा–अस्तित्ववाद और नई कविता–पृ0–33

124 उप0 उप0 पृ0–175

125 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–175

126 उप0 उप0 पृ0–285

127 उप0 उप0 पृ0–185

128 श्री नरेश मेहता मुक्तिबोध/एक अवधूत कविता–पृ0–46

129 मुक्तिबोध–एक साहित्यिक की डायरी–पृ0–9

130 उप0 –चाँद का मुँह टेढा है–पृ0–277–278

131 उप0 –नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध–पृ0–111

132 उप0–मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–281

133 डॉ0 नामवर सिह – कविता के नए प्रतिमान – पृ0–236

134. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–चितामणि–भाग–1 पृ0–178

135 मुक्तिबोध–कामायनी.एक पुनर्विचार –पृ0–104

136 उप0 उप0–पृ0–104

137 डॉ0 शिवभानु सिह – सामाजिक दर्शन

138 अज्ञेय–तारसप्तक

139 उप0 उप0

140 उप0 – दूसरा सप्तक

141 उप0 – आत्मनेपद – पृ0–240

142 डॉ0 नामवर सिह–आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ–पृ0–111

143 उप0 उप0 पृ0–119

144 उप0 उप0 पृ0–114

145 अज्ञेय – शेखर एक जीवनी पृ0–9–10

146 डॉ0 नामवर सिह–आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – पृ0–117

147 डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी–हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास – पृ0–230

148 उप0 उप0 पृ0–231

149 अज्ञेय–शेखर एक जीवनी –पृ0–91

150 उप0 उप0 पृ0–9

151 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–319

152 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–हिन्दी साहित्य का इतिहास –पृ0–353

153 मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–319

154 उप0 उप0 पृ0–318

155 उप0 उप0 पृ0–318

156 उप0 उप0 पृ0–320

157 उप0 कामायनी एक पुनर्विचार पृ0–17

158 उप0 मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–318

159 उप0 मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–318

160 उप0 उप0 पृ0–319

161 उप0 उप0 पृ0–322

162 उप0 उप0 पृ0–323

163 उप0 उप0 पृ0–324

164 उप0 उप0 पृ0–324

165 उप0 उप0 पृ0–325

166 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ –नामवर सिह पृ0–111

167 ग मा मुक्तिबोध–मुक्तिबोध रचनावली पृ0–320

168 उप0 –नयी कविता का आत्मसघर्ष और अन्य निबन्ध–पृ0–12

169 रामस्वरूप चतुर्वेदी–हिन्दी साहित्य एव सवेदना का विकास–प10–278

170 वही वही पृ0–276

171 सं0 नैमिचन्द्र जैन–मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–319

172 ग मा मुक्तिबोध–एक साहित्यिक की डायरी (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) पृ0–88

173 स0 नेमिचन्द्र जैन–मुक्तिबोध रचनावली–5 पृ0–324

174 ग मा मुक्तिबोध–एक साहित्यिक की डायरी–पृ0–89

175 राग–विराग–पृ0–137

176 स0 श्रीकान्त वर्मा–चॉद का मुँह टेढ़ा है–पृ0–83
(भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन)

177 वही वही पृ0–85–86

178 वही वही–पृ0–290

179	ग मा	मुक्तिबोध–एक साहित्यिक डायरी–पृ0–74–75–76	
180	वही	–नई कविता का आत्मसघर्ष–पृ0–28	
181	वही–	नई कविता का आत्मसघर्ष–पृ0–13	
182	वही	वही	पृ0–15
183	वही	वही	पृ0–47
184	वही	वही	पृ0–184
185	वही	वही	पृ0–184
186	वही	वही	पृ0–179
187	वही	वही	पृ0–180
188	वही	वही	पृ0–181
189	वही	वही	पृ0–184
190	वही	वही	पृ0–184
191	वही	वही	पृ0–16

तृतीय अध्याय

साहित्य एवं जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण

तृतीय अध्याय

साहित्य और जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण

साहित्य की अवधारणा और स्वरूप ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

साहित्य शब्द का प्रयोग समकालीन स्थिति मे दो ढग से किया जाता है। पहला वह अर्थ जो अपनी विशालता मे अनेकानेक वाड् मय को समेटता है जबकि दूसरा सकीण अर्थो मे केवल कवि निर्मित कृतियो के लिए ही किया जाता है। सक्षेप मे काव्य नाटक इतिहास दर्शन और विज्ञानादि समग्र ग्रन्थो का नाम है "साहित्य"। इसको अग्रेजी भाषा के "लिटरेचर" शब्द के समकक्ष" रखा जा सकता है जिसका हिन्दी रूपान्तरण "वाड् मय" होगा। जहाँ तक इस शब्द की ऐतिहासिकता का सवाल है, वह बहुत पुराना नही है, क्योंकि पहले जो भी रचनाए की गयी उनकी विधा "गीतात्मक" थी, अत "काव्य" शब्द साहित्य से प्राचीन है जबकि "साहित्य" शब्द "मध्य युग" का है। आज जबकि "साहित्य" मे "काव्य" को अन्तर्मुक्त करके समानार्थी बना दिया गया, किन्तु ये दोनो ही शब्द न केवल अपनी स्वतन्त्र इयत्ता रखते हैं बल्कि इनसे विभिन्न अभिप्रायो का बोध भी होता है। "काव्य का अर्थ है कवे कर्म, – कवि का कर्म"[1] काव्य को करने वाला "कवि" है। "कवि" शब्द "कु वर्ण" अथवा "कुड0 शब्दे" धातु से "इ" प्रत्यय लगाने से बनता है, राजशेखर की सम्मति से कवि शब्द की निष्पत्ति "कवृ वर्णे" धातु से हुई है। इसलिए वे कवि का अर्थ वर्णन कर्ता मानते हैं।"[2] आचार्य मम्मट ने भी कवि को वर्णन कर्ता के रूप मे ही माना है किन्तु यह वर्णन देखे गए या अनुभूत किए गये का जस का वर्णन नही है बल्कि "लोकोत्तर वर्णना – निपुण कवि कर्म[3] को ही वे काव्य की श्रेणी मे रखते है। जाहिर है कि इस लोकोत्तर वर्णन में यथार्थ से कुछ बढकर ही प्रस्तुतीकरण किया जाता है।

कवि न केवल वर्तमान या इतिहास का प्रस्तोता है बल्कि वह भविष्य की बातो को भी अपनी रचना के माध्यम से प्रस्तुत करता है, इसीलिए कवि को "क्रान्तदर्शी" कहा गया है – "काव्य क्रान्तिदर्शिन "[4] वह वस्तु का सतही तौर पर वर्णन न करके उसके बाह्य चाम को न केवल चीर कर उसका अन्तस्तल देख लेता है, बल्कि उसमें कुछ नयी पालिश भी करता है। अब सवाल यह उठता

है कि कवि के पास ऐसा कौन सा यत्र है जिसके सहारे वह "आब्जेक्ट" मे प्रवेश करता है? वह यत्र है "विजन" या "दृष्टि" जिसको दर्शन भी कहा जाता है। बिना किसी "दर्शन" के कवि केवल सतही बनकर रह जाता है। वह चिन्तन उसमे नही उभर पाता जिसकी कि समाज को अपेक्षा हे, और जो कवि के लिए मूल वस्तु भी है, क्योंकि इसी के माध्यम से वह अपने इच्छित विश्वासो को नवीन कलेवर देता है। अत किसी भी वस्तु का तब तक वर्णन नही किया जा सकता जबकि उसमे "दृष्टा भाव" न हो, और यह "दृष्टि" वेदना की देन है जिसे आधार बनाकर "अज्ञेय" ने लिखा है कि – "वेदना मे एक शक्ति है, जो दृष्टि देती है। जो यातना मे है वह दृष्टा हो सकता है।"[5] किन्तु दृष्टा होने पर भी क्या कोई व्यक्ति कवि बन सकता है? उत्तर है नी, क्योंकि – "सामान्य जन मे, बहुधा उचित शब्द सम्पदा नही होती कि जिससे वह अपने सूक्ष्म भावो और आवेशों को ठीक–ठीक प्रस्तुत कर सके।"[6] इससे सिद्ध होता है कि कवि एक असाधारण व्यक्तित्व सम्पन्न प्राणी है।

आचार्य अभिनव गुप्त के गुरू भट्टतौत कवि को स्वरूप वर्णन के अन्तर्गत "मन्त्रदृष्टा" मानते हैं। चूँकि वैदिक साहित्य मे "ऋषियों" को मन्त्रदृष्टा माना गया है – "ऋषयो मन्त्रदृष्टार ।"[7] अत कवि जो कि मन्त्रदृष्टा है – "अनृषि" नही ही है। लेकिन "ऋषि" और "कवि" के मत्र मे फर्क है, जहाँ ऋषि, परमसत्ता के दिग्दर्शन के लिए मत्रो का प्रयोग करता है। वही पर कवि वस्तु मे अन्तर्निहित सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो का उद्‌घाटन करता है, अत कवि के लिए "दर्शन" का अभिप्राय है किसी भी वस्तु (आब्जेक्ट) को तात्विक रूप से जानना। चूँकि कवि द्वारा वस्तु के अन्तर्निहित भावो को पहचानना ही न केवल इष्ट है बल्कि उसकी अभिव्यक्तिकरण भी जरूरी है, अत- कवि ऐसे व्यक्ति को कहा जा सकता है जो "वर्णन" और "दर्शन" दोनों मे समान पैठ रखता हो।

किसी भी कवि द्वारा वस्तु का "दर्शन" और "वर्णन" जिस तत्व द्वारा किया जाता है उसे "प्रतिभा" कहते हैं। वह इसी के सहाने सृजन करता है किन्तु वह सृष्टि सृजन ब्रहमा की सृष्टि से इस अर्थ मे विलग हे कि जहा ब्रह्मा अपनी ही स्वी कृति में एकातिक स्वतन्त्रता का अनुभव नही करता

बल्कि वह प्रत्येक कृति को उसके कर्म फल के अनुसार ही सृजित करता है वही कवि अपनी रचना मे पूर्णतया स्वतन्त्र है उसकी जैसी रूचि होगी, उसके जो विश्व के सपने है इच्छित विश्व है, किसी भी समस्या का समाधान है, इन सबकी अभिव्यक्ति के लिए उसके व्यक्तित्व और परिवेश की समयोग होता है इसीलिए कवि को ब्रह्मा से भी ऊँची हैसियत वाला माना गया है –

"अपारे काव्य संसारे कविरेक प्रजापति ।
यथास्मै रोचते विश्वम् तथेद परिवर्तते।"[8]

आचार्य मम्मट ने अपने "काव्य प्रकाश" के मगला चरण मे ही "कविसृष्टि" और "ब्रह्मासृष्टि" मे अद्भुत अन्तर बताया है "मम्मट" का मानना है कि प्रजापिता के द्वारा निर्मित सृष्टि मे जहा एक किस्म का नियतिवाद है वही पर वह सत् रज तम् आदि गुणो से सम्पन्न होने के कारण वह सुख, दु.ख और मोह पैदा करती है। कवि–सृजित सत्य न केवल नियतिवाद से सर्वथा युक्त है वरन् वह आनन्दोत्पादक भी हैं। साहित्य इसी कारण ट्रेजिक होने के बावजूद भी आनन्द को उद्भूत करता है। मम्मट ने इसी को श्लोकबद्ध करते हुए लिखा है किं – नियति–कृत नियम रहिता – माहलादैकमयी मनन्य परतन्त्राम्। नवरस रूचिरो निर्मत मादधती, भारती कवेर्जयति।"[9]

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि साहित्य शब्द की अवधारणा अपने सामयिक अर्थ की अपेक्षा प्राचीन है। प्राचीन शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम राजशेखर ने काव्यमीमांसा ने किया है। उन्होंने लिखा है कि – पचमी साहित्य विद्या इति यायावरीय । सा हि चतसृणामपि विद्याना निष्पन्द ।[10]

आचार्य राजशेखर ने साहित्य की अर्थ मीमासा करते हुए लिखा है – "शब्दार्थयो यथावत् सहभावेन विद्या, साहित्य विद्या।"[11] आचार्य राजशेखर यहाँ पर अपने पूर्ववर्ती भामह से प्रभावित हैं, जिन्होंने पहले ही लिख दिया था – "शब्दार्थो सहितौ काव्यम्।"[12] स्पष्ट रूप से साहित्य और काव्य एक ही है। कहने की आवश्यकता नही कि साहितय मे जहाँ काव्य अन्तर्निहित है वही पर काव्य भी साहित्य का पर्याय है। अतः अब इस बात की कोई गुजाइश

रह ही नही जाती कि साहित्य की अवधारणा, कविता की अवधारणा से कुछ भी भिन्न है। दरअसल भामह के काव्य लक्षण मे आया "संहितों" शब्द बडे मार्के का है क्योंकि "इसी मे भाववाचक व्यञ्जक प्रत्यय करने पर साहित्य शब्द बनता है — "सहितयो भाव साहित्यम्।"[13] आचार्य भोज ने भी साहित्य की यही परिभाषा दी है वे "शृगार प्रकाश" मे प्रश्न उठाते हैं कि — "किं साहित्यम्? शब्दार्थयो य सम्बन्ध।"[14] आचार्य कुन्तक ने भी "वक्रोक्ति जीवितम्" मे शब्द और अर्थ की सम्पृक्ति को ही साहित्य माना है, वे लिखते हैं कि — "शब्दार्थो सहितो वक्रकवि व्यापार शालिनो। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।"[15] चूँकि उन्होने "वक्रोक्ति" को ही काव्य का प्राण माना है अत उसमे शब्द और अर्थ के साथ वाग्वदिग्धता का पुट भी देते है।

महाकवि कालिदास ने भी "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के मगलाचरण मे "पार्वती परमेश्वरौ" की आराधना "वागर्थाइव सम्पृक्तौ" कहकर ही की है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी "वर्णनाम् अर्थ सघानाम् रसानां छन्दसामपि। मंगलानाम् च कर्तारो बन्दे वाणी विनायको।"[16] कहके संकेत किया है। कहने का कुल मतलब यह है कि शब्द और अर्थ की सम्यकता से कविता या साहित्य का सृजन होता है।

प्राचीन आचार्यों की भाँति हिन्दी के नव्याचार्यों ने भी साहित्य की अवधारणा को नवीन आयाम देने की कोशिश की है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का "काव्य और कविता" नामक निबन्ध मशहूर है उनकी दृष्टि में — "कविता सरल प्रत्यक्षमूलक और रागात्मक होनी चाहिए।"[17] यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि आचार्य प्रवर पाश्चात्य विचारक "जान मिल्टन" से अत्यधिक प्रभावित है तथा उसके द्वारा काव्य के जो तीन गुण, "सादगी असलियत और जोश" बताए गए है, न केवल वे उसक कायल है बल्कि इन्हीं तीनो गुणों की अन्विति को ही काव्य मानते हैं। लिखते हैं कि — "सादगी असलियत और जोश" यदि ये तीनों गुण कविता में हो तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता मे भी इनमें से एकाध गुण की कमी पाई जाती है। कभी—कभी देखा जाता है कि कविता मे केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नही। कभी—कभी

सादगी और जोश पाये जाते हैं असलियत नही। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए" यहाँ पर देखने की बात यह है कि द्विवेदी जी जिस "असलियत" की बात करते हैं उससे उनका क्या तात्पर्य था? वैसे ही देखा जाए तो "असलियत" का अर्थ होगा "जस का तस" अर्थात् यथार्थ का आग्रह, किन्तु कविता केवल इतिवृत्ति ही नही होती बल्कि उसमे कवि के व्यक्तित्व का अभिनव सन्निवेश पाया जाता है अत "असलियत" का यह सकीर्ण अर्थ नही लिया जा सकता। हालाकि खुद आचार्य प्रवर की टिप्पणी है कि – "कविता मे झूठ का अश कुछ न कुछ अवश्य होता है। असभ्य अथवा अर्द्ध सभ्य लोगो को यह अश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगो को बहुत ससार मे जो बात जैसी देख पडे कवि को उसको वैसी ही वर्णन करना चाहिए।"[18]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार – "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं।"[19] आचार्य शुक्ल साहित्य का सम्बन्ध "जगत" से जोड़ते है यह जगत "रूपात्मक" है वे लिखते है कि – "अनन्त रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत। जब तक कोई अपनी पृथक सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के नाना रूपो और व्यापारों से को अपने योग क्षेम, हानि–लाभ, सुख, दु ख आदि से सम्बन्ध करके देखता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपो और व्यापारो के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त हृदय हो जाता है।"[20]

साहित्य की अवधारणा का स्वरूप प्रसाद जी की नजरो में "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" है। उनका इस सम्बन्ध में "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" शीर्षक निबन्ध संग्रह बहुत ही मार्के का है जिसमें वे साहित्य की एक सुचिन्तित विचार सरणि को सामने लाते हैं। लिखते हैं कि – "काव्य आत्मा की

सकल्पात्मक अनुभूते है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नही है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है।"[21] प्रसाद जी ने "श्रेय" के माध्यम से सत्य और सौन्दर्य के समन्वय का प्रयास किया है।

डॉ0 जगदीश गुप्त जो कि कविता मे "सृजनात्मकता" (क्रियेटिविटी) की बात करते हैं वह आकस्मिक रूप से प्रसाद की "रचनात्मकता" मे सान्निहित है, यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि डॉ0 नामवर सिह ने छायावादी कविता की अनुभूते – अनुभूति की शब्दावली से लगभग खीझकर डॉ0 गुप्त पर जो आक्षेप करते है और जिस नए तत्व "सृजनात्मकता" को नयी कविता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व घोषत करता हैं वह अद्‌भुत रूप से छायावादी कवि प्रसाद ने पहले ही कह दिया। डॉ0 जगदीश गुप्त के अनुसार "कविता सहज आन्तरिक अनुशासन से युक्त अनुभूति जन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ है, जिसमें सह–अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट खमता निहित रहती है।"[22] इस परिभाषा मे डॉ0 नामवर सिह को जो तल्खी है वह यह कि – "इसमें छायावाद का अवशिष्ट तो रह गया पर नई कविता जड न जमा पाई।"[23] यहाँ देखने योग्य बात यह है कि जो परिभाषा डॉ0 गुप्त द्वारा दी गयी है वह डॉ0 सिह को "परम्परा से जोडने की धृष्टता" लगती है और जिसमे डॉ0 गुप्त कविता क्या नही है? जैसा प्रश्न उठाते हैं तो डॉ0 सिह उसे सहमत होते हैं डॉ0 जगदीश गुप्त लिखते हैं कि – "जो कथन सृजनात्मक (क्रियेटिविटी) और संवेदनीयता (इमोटिविटी) से रहित है, उसे किसी भी स्तर पर कविता नहीं कहा जा सकता।"[24] इससे भी स्पष्ट होता है कि कविता मे डॉ0 गुप्त संवेदनीयता के साथ–साथ "क्रियेटिविटी" को भी बहुत महत्व देते हैं।

<u>साहित्य की अवधारणा : मुक्तिबोध</u>

मुक्तिबोध साहित्य को भावों का अजस्र प्रवाह मानते हुए भी वस्तु पक्ष पर अधिक जोर देते हैं, क्योंकि वह केवल "अनायास प्रवाहित होने वाले स्वच्छन्द भावों का ही प्रवाह नहीं है बल्कि "सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनों के तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया" का फल है। वे भाव और ज्ञान, वस्तु और

अनुभूति. दोनो की सहकारिता को मानते हैं। उनका मानना है कि यदि वस्तु के अन्तर्तत्व का ज्ञान है भी तो, वह संवेदना से हटकर काव्योपयोगी नहीं रह पायेगा।

उन्होंने अपने साहित्यिक मानदण्डो को विकसित करने मे जिन तीन तत्वो का सर्वाधिक महत्व दिया वे हैं - 1 द्वन्द्व, 2 वास्तविकता मे बौद्धिक दृष्टि से अन्त प्रवेश, 3 विश्वदृष्टि का निर्माण। वे काव्य में "भाव पक्ष के साथ विभाव पक्ष" के चित्रण पर बल देते हैं क्योंकि बिना इसके सम्यक परिपालन से कवि हृदय की अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनाओं को मूर्तिमान नही किया जा सकता और न ही जीवन-जगत की प्रत्येक स्पन्दन को वह अनतस्थ ही कर सकता है।

मुक्तिबोध वैचारिकता के स्तर पर पूर्ण मार्क्सवादी थे किन्तु ऐसे मार्क्सवादी नही जिनकी लेखनी और कथनी मे भेद हो, असल मे उनका साहित्य ही उनके पूरे व्यक्तित्व का सुन्दरतम निदर्शन है। उनका काव्य-सत्य कठिन वैचारिक और भावात्मक सघर्ष का नमूना है। वे अनुभव और विचार दोनों ही स्तरो पर समस्या के सरलीकरण के सर्वथा विरूद्ध थे। इसीलिए प्रसाद की कामायनी में वर्णित जो मनु समस्या है उसके प्रसादीय समाधान से झुँझलाते हैं। वे लिखते है कि - "इस दर्शन के जरिये प्रसाद जी ने मनु समस्या के सम्बन्ध में दुनिया को कोई नया सन्देश नही दिया है और उस रूप में जो कुछ प्रस्तुत किया है वे न सन्देश हैं न मनु समस्या का हल।" इस सन्दर्भ मे वे प्रसाद जी तथा "टॉलस्टाय" के "मानवतावाद" की तुलनात्मक विवेचना करते हुए टॉलस्टाय के कमजोर चरित्र (रिसेक्सन उपन्यास का नायक) को प्रसाद के "मनु" से उत्तम ठहराते हैं। उनका मानना है कि - "कमजोर चरित्रो का प्रस्तुतीकरण गुनाह नही है। गुनाह है उनका वायवीय × उच्चतर रूपान्तरण जो कलाकार कमजोर चरित्रों की वास्तविक भीतरी समस्या खड़ी कर उसका समाधान, उसका निराकरण, व्यक्तित्व के वायवी रूपान्तरण द्वारा उपस्थित करता है। निश्चय ही वह लेखक मानव जीवन की उन्नतिपरक शक्तियों की वास्तविकता के प्रति अश्रद्धा ही प्रकट

करता है। यदि मनुष्य अपनी कमजोरियो पर विजय प्राप्त कर सकता है तो वह इस सामाजिक विश्व मे रहकर ही। इसको हटाकर जो तथाकथित हल खडा किया जाता है वह मनुष्य का अपना हक नही है।"[25] जिस प्रकार से मार्क्स ने समस्त सम्बन्धो और विश्व के परिचालन का आधार आत्मा को न मानकर जगत को मानते हुए कहा है कि – "क्या यह जानने के लिए गहन अन्त अनुभूतियो की आवश्यकता है कि अपने सामयिक सम्बन्धो मे तथा सामाजिक जीवन में मानव के विचार, दृष्टिकोंण और परम्पराएं या सक्षेप मे मानवीय चेतना भौतिक परिस्थितियो मे होने वाले परिवर्तनो के साथ ही परिवर्तित होती है।"[26] (पेज–147. विभानु सिह समाज दर्शन का परिचय) मुक्तिबोध वैसे ही आन्तरिक जीवन को वास्तविक जीवन जगत तथा परिस्थितियो से विकसित होना मानते है उनकी इसीलिए कला के सम्बन्ध में या साहित्य के सम्बन्ध मे अवधारणा है कि – "कला अभ्यान्तर के बाह्यीकरणका एक रूप है।"[27] (पेज–8 आत्मसघर्ष) किन्तु यहाँ यह समझना भूल होगी कि साहित्य के लिए केवल आभ्यतर को ही महत्व देते हैं। असल में व्यक्ति, कवि या कलाकार को जो आभ्यंतर है वह बाह्य से क्रिया प्रतिक्रिया स्वरूप ही सम्पन्न हुआ है। लिखते हैं कि – "हमारे जन्म काल से ही शुरू होने वाला हमारा जो जीवन है वह बाह्य जीवन जगत के आभ्यन्तरीकरण द्वारा ही सम्पन्न और विकसित होता है। यदि वह आभ्यन्तरीकरण न हो तो हम कृमि – पानी का जीव हायड्रा बन जायेगे भाव सम्पदा, ज्ञान सम्पदा, अनुभव समृद्धि उस अर्न्ततत्व व्यवस्था ही का अभिन्न अग है कि जो अन्तर्तत्व व्यवस्था हमने बाह्य जीवन जगत के आभ्यन्तरीकरण से प्राप्त की है। हम मरते दम तक जीवन जगत का आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं। किन्तु साथ ही बातचीत बहस, लेखन, भाषा, साहित्य और काव्य द्वारा हम निरन्तर स्वय का बाह्यीकरण करते जाते है। बाह्य का आभ्यन्तीकरण और आभ्यन्तर का बाह्यीकरण एक निरन्तर चक्र है। यह आभ्यन्तीकरण और बाह्यीकरण मात्र मनन जन्य नही वरन् कर्मजन्य भी है।"[28]

मुक्तिबोध के समकालीन कवि विचारक पंत कविता को "परिपूर्ण क्षणों की वाणी" मानते हैं किन्तु वे परिपूर्ण क्षण क्या हैं उनकी "भूमिका" में खुलता नही है। इन्ही पत जी के साहित्यिक विकासमान रूप, को देखकर मुक्तिबोध

बहुत खुश होते है तथा इनको समस्त छायावादी कवियो मे से जनता के अधिक नजदीक पाते हैं, किन्तु वैचारिक स्तर पर पत जिसे काव्य मानते हैं वह मुक्तिबोध को कभी मजूर नही था। उनके लिए कविता कोई मुकम्मल या रीतिबद्ध शैली मात्र नही है और उन्हे ऐसी गैरमुकम्मल रचना के लिए कोई क्षोभ भी नही है वे तो साफ-साफ कहते हैं कि -

जिन्दगी की, मन की
तसवीरे फिलहाल नही बना पायेगे
अलबत्ता पोस्टर हम लगा जायेगे
हम धधकाएगे
मानो या मत मानो
इस नाजुक घड़ी में
चद्र है सविता/पोस्टर ही कविता है।।[29]

जैसा कि हमारे प्राचीन मनीषियो ने कवि के लिए "दर्शन" और "सर्जन" इन दोनों का सम्यक निर्वहण, आवश्यक तत्व माना था, और इस "दर्शन" की रूपरेखा दिखाते हुए माना कि किसी भी तत्व का सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण "दर्शन" है। यह "दर्शन" तत्व कवि के विचारो से कही न कही बहुत गहरे जुडा है। यदि विचार को साहित्य का केन्द्रीय तत्व कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। यदि किसी कवि की विचार सरणि को समस्त रूप से न आका गया तो उसकी भाव-धारा को समझने मे बडी अड़चन खड़ी हो सकती है। क्योंकि विचार और भाव एक दूसरे से इस तरह गुथे हैं कि उनको परस्पर विच्छिन्न करके मूल्याकित नहीं किया जा सकता। विचारो और भावों की इस अन्त सूत्रता की मुक्तिबोध "ज्ञानात्मक सवेदन" और "सवेदनात्मक ज्ञान" कहकर प्रकट करते हैं उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द "सत-चित-वेदना" भी इसी अन्त.सूत्रता की प्रकारान्तर से पहचान है क्योंकि समकालीन परिस्थितियों में सत और चित से "आनन्द" की उत्पत्ति हो ही नही सकती क्योंकि सामाजिक यथार्थ (सत) ओर उसका बोध (चित) इतना हृदय विदारक है कि उसका परिणाम केवल दुख और करूणा ही हो सकता है। यहाँ आकर मुक्तिबोध आचार्य शुक्ल के एकदम नजदीक

मालुम होते हैं। क्योंकि वे भी "भावना" को ज्ञान की सहचरी" मानते हैं इसी आधार पर वे कामायनी मे "बुद्धिवाद" का विरोध स्वीकार न करके श्रद्धा के ऊपर पैरोडी भी करते है "रस पगी रही पाई न बुद्धि"। मुक्तिबोध ने जिसे "बाह्य का आभ्यन्तीकरण और अभ्यातर का बाह्यीकरण कहकर काव्य की परिकल्पना को नवीन आयाम दिया वह बहुत कुछ आचार्य शुक्ल के ही रूबरू है, आचार्य शुक्ल के ही रूबरू है, आचार्य शुक्ल भी जगत और मन के अन्तःसम्बन्धो की पडताल करते हुए मानते है कि – "यही बाहर हँसता खेलता रोता गाता, खिलता–मुरझाता जगत भीतर भी है। जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी।"[30]

"विचार" को चिन्तन का औरस पुत्र कह सकते है किसी भी गहन छानबीन के पश्चात हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वही वस्तुत हमारा विचार है। किन्तु मुक्तिबोध के लिए विचार किसी चिन्तन का ही परिणाम नहीं है, बल्कि कर्म क्षेत्र से उद्‌भूत बाते हैं, वे लिखते हैं कि –

विचार आते है – लिखते समय नही,
बोझ ढोते वक्त पीठ पर
सिर पर उठाते समय भार
परिश्रम करते समय[31]

मुक्तिबोध का सृजन जिस समय हुआ वह वस्तुत एक कठिन समय था। वे लिखते हैं कि "आज का कवि असाधारण असामान्य युग मे जी रहा है वह एक ऐसे युग मे है, जहाँ मानव सभ्यता सम्बन्धी प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठे हैं। समाज भयानक विषमताग्रस्त हो गया है। चारो ओर नैतिक ह्रास के दृश्य दिखाई दे रहे हैं। शोषण और उत्पीडन पहले से बहुत अधिक बढ गया है।"[32] इसीलिए अशोक बाजपेई उनको "एक कठिन समय के कठिन कवि" मानते है। इन स्थितियों में और किस साहित्य की अवधारणा की जा सकती है सिवाय इसके कि –

"मेरी ए कविताए
भयानक हिडिंबा है
वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएं
विकृताकृति–बिम्बा है।"[33]

किन्तु इनकी कविताए केवल "विकृताकृति बिम्बा" ही नहीं है बल्कि –

> "पूर्ण अवस्था वह
> निज सभावनाओ, निहित प्रभावो, प्रतिभाओ की
> मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव
> हृदय मे रिस रहे ज्ञान का तनाव वह,
> आत्मा की प्रतिमा"[34] – भी है,

जिसमे–

> सकल्प धर्मा चेतना का
> रक्त प्लावित स्वर– भी शामिल है।[35]

तथा जो – "हृदय के गुप्त स्वर्णाक्षर" से लिखी गयी है।

कलाकार जितना अधिक अपनी कला मे अन्त प्रवेश करता है उतना ही वह अपने युग और जाति की चेतना मे अन्त प्रवेश करता है, जबकि एक सामान्य कलाकार भले ही उसकी रचना समान रूप से प्रामाणिक सामाजिक दस्तावेज हो, प्रभावहीन होने के साथ–साथ अपने युग का प्रतिनिधित्व भी नही करती। केवल सही अर्थों में महान कलाकार ही अपने समय की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है और "एक समग्र राष्ट्र और समग्र युग के अस्तित्व के स्वरूप को प्रकट करने के लिए एक लेखक एक सम्पूर्ण युग और सम्पूर्ण राष्ट्र की सहानुभूति को अपने चारो ओर जुटा लेता है।

कला इस प्रकार समाज की सामूहिक अभिव्यक्ति है। महान साहित्य युग की चेतना को लगभग वैस ही मूर्तिमान करता है जैसे कि वह युग होता है। इसीलिए हेगल के साहित्य की अवधारणा थी कि वह – मध्य वर्ग का महाकाव्य होता है।" मुक्तिबोध ने भी अपने काव्य का आधार इसी मध्यवर्ग को ही बनाया है। उनकी क्लासिक रचना "अंधेर में' इसी मध्यवर्गीय जन को ही आधार बनाकर चलती है। यद्यपि वह इसमे इसी वर्ग की कटु आलोचना भी करते हैं।

> "उदरभरि बन अनात्म बन गये,
> भूतो की शादी में कनात से तन गये
> किसी व्यभिचारी के बन गये बिस्तर,

× × × × × × ×   × × × × × × ×

बहुत–बहुत ज्यादा लिया, दिया बहुत–बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रहे गये तुम।।[36]

किन्तु बावजूद इस आत्मभर्त्सना के उनको इसी वर्ग मे सभावना के बीज भी दिखाई देते हैं। "मुक्तिबोध के कवि व्यक्तित्व का यही वह पहलू है, जो उन्हे खूखार सिनिक, सशयवाद होने से बचा लेता है।"[37]

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक कालजयी रचना अपने युग की सार्थक और पायेदार पहचान हुआ करती है, और इसमे वस्तुत उसका युग उसका परिवेश मुखरित होता है। क्या आज की इन स्थितियो से कोई भी समझदार व्यक्ति गुरेज कर सकता है जिसमे इस युग की समग्रता झलक मारती है –

"विचित्र प्रोशेसन
गभीर क्विक मार्च

× × × × × × × × × × × ×

कर्नल, बिग्रेडियर जनरल मार्शल
कई और सेनापति, सेनाध्यक्ष,
चेहरे वे मेरे जाने–बूझे से लगते हैं।[38]

जिनको देखकर काव्य नायक हैरान होता है कि –

"बड़े–बडे नाम कैसे शामिल हो गये इन बैंड दलो में'

जिनकी कविताओ लेखो तथा आलोचनाओं को काव्य नायक कई एक पत्र–पत्रिकाओं मे पढ चुका है। किन्तु वे लेख और आज की उनकी करतूत में कितना फर्क है। इस "मृत दल की शोभा यात्रा में' वे शहर के कुख्यात हत्यारे "डोमाजी उस्ताद" के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलते हुए अपना गौरव समझते है। क्या यह आज का समाजिक सच नही है? जिसमे बडे–बड़े खद्दरधारी तोदीले नेता आगे बढकर जनता से फूल–माला ग्रहण करते हैं किन्तु उनके पीछे का घिनौना व्यक्तित्व वह क्रूर, हत्यारा, डोमाजी उस्ताद ही है। जो शहर मे गाहे–बगाहे

दगा और मार–काट करवाता है। इस सन्दर्भ मे डॉ0 नामवर सिह का यह काव्य युक्तिसगत प्रतीत होता है कि – "ए दु स्वप्न उन्ही लोगो को अवास्तविक लग सकते है जो बडी से बडी दुर्घटना के अभ्यस्त हो चुके है और जिनकी खाल मोटी हो चुकी है।"[39]

मुक्तिबोध के काव्य की दुनिया समकालीन भारत की नगी तस्वीर है जिसकी 2/3 जनसख्या भूख और गरीबी से सत्रस्त है। क्या यह भी पूछने की बात जो सकती है कि भारत मे – "रेफ्रीजरेटरो, विटैमिनो, रेडियोग्रैमो के बाहर की गतियों की दुनिया मे मेरी वह भूखी बच्ची मुनिया है शून्यो मे, पेटो की आतो मे न्यूनो की पीडा है। छाती के कोषो मे रहितो की व्रीडा है।"[40] इसका उत्तर है – हॉं ऐसा ही है, जिनमे लोगो का यथार्थ यही है कि –

"शून्यो मे घिरी हुई पीडा ही सत्य है
शेष सब अववास्तव अयथार्थ मिथ्या है भ्रम है।
सत्य केवल एक जो कि
दु खो का क्रम है।"[41]

इन दुखो की क्रमिकता से तभी निजात मिल सकती है जब समस्याओ का सरलीकरण न करके उनका झूठा संतुलन या समन्वय का ढोग न किया जाय, वह लिखते है कि –

"मुझसे भागते क्यों हो
सुकोमल काल्पनिक तल पर
नहीं है द्वन्द्व का उत्तर
तुम्हारी स्वप्न वीथी कर सकेगी क्या
बिना सहार के, सर्जन असभव हे
समन्वय झूठ है।
सब सूर्य फूटेंगे
व उनके केन्द्र टूटेंगे
उड़ेगे खण्ड
बिखरेगे गहन ब्रह्मांड मे सर्वत्र
उनके नाम मे तुम योग दो।"[42]

यही कारण है कि वे नई कविता को "पुराने काव्य युगो से कही अधिक बहुत अधिक अपने परिवेश के साथ "द्वन्द्व स्थिति" से प्रसूत मानते हैं। क्योंकि इसी द्वन्द्व की ही देन "तनाव" है – "जो बाह्य पक्ष और आत्मपक्ष के द्वन्द्व से उपजता है। इसीलिए वे साहित्य के विषय मे अपनी मंशा जाहिर करते हुए लिखते है कि साहित्य या काव्य – "वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस् व्यक्ति की सवेदनात्मक प्रतिक्रिया है।"[43] चूँकि आज का वैविध्यमय जीवन विषम और उसकी सभ्यता ह्रास ग्रस्त है, अत उसको मूर्तिमान करने वाला साहित्य स्वाभाविक रूप से "तनावजनित" हो होगा।

अपने साहित्यिक परिधि के भीतर भी कवि को यही दुश्चिन्ता है कि –

"क्या उत्पीडको के वर्ग से होगी
न मेरी मुक्ति"[44]

और इस उत्पीड़न के खिलाफ वे निम्न मध्यवर्ग को लामबन्द करते है। उनका मानना है कि व्यक्ति की मुक्ति तभी सभव है जब वह अपने को समष्टि में समाहित कर ले। वे लिखते हैं कि – "मेरा अपना ख्याल है (बहुत से लोग इसे नही मानेगे) प्रत्येक आत्मचेतस् व्यक्ति को अपनी मुक्ति की खोज होती है और वह किसी व्यापकतर सत्ता में विलीन होने में ही अपनी सार्थकता समझता है किन्तु आज की दुनिया में यह व्यापकतर सत्ता विश्व मानवता तथा तत्सम्बन्धी मूर्तिमान समस्याए और प्रश्न ही हो सकते हैं। अतएव प्रत्येक लेखक एक विशेष अर्थ में, इसी उच्चतर सत्ता मे केवल विलीन ही नही होता वरन् वह विलीन होकर क्रियाशील हो उठता है। . ... सक्षेप मे मुक्ति व्यापक व्यापकतर क्रियाशीलता का दूसरा नाम है।"[45]

इसीलिए उनकी कविताओं मे "नए–नए सहचरों की तलाश है –

"सवाल है मै क्या करता था अब तक
भागता फिरता था सब ओर
फजूल है इस वक्त कोसना खुद को।
एकदम जरूरी दोस्ता को खोजू

पाऊ मैं नये-नये सहचर
सकर्मक सत्-चित् वेदना-भास्वर।।[46]

कवि को लगता भी है कि -

अनजाने हाथ मित्रता के
मेरे हाथो मे पहुँच उष्मा भरते है
मै अपनो से घिर उठता हूँ
मैं विचरण करता सा हूँ एक फैंटेसी मे
यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी।"[47]

यही पुढ विश्वास ही कवि की अदम्य जिजीविषा है जिसे ढाल बनाकर वह नाना सन्तापो को सहन कर गया।

साहित्य जीवन की शुरूआत मे मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं मे किसी ऐसे समग्र दर्शन की अवधारणा से इंकार किया है जो कविता को एक तथा-कथित वैचारिक ग्राउन्ड प्रदान करती है। वह दर्शन की उपेक्षा इसलिए करते है कि वह एक ऐसी - "बौद्धिक ज्ञान व्यवस्था है जो - "दिमाग के दरवाजे बन्द बन्द करके, दिमाग की सन्दूकची मे दिल को दबा देती है।"[48] फिर भी वे उन बातो को अपने काव्य मे बराबर तरजीह देते रहे जो कि किसी भी दर्शन की बुनियादी बातें हो सकती है। वे उन बुनियादी बातो का जिक्र करते हुए लिखते हैं कि . "जिन्हें जनसाधारण, अपने हृदय मे अनुभव करते हैं। जैसे - अन्याय का प्रतिकार, मानव साम्य की स्थापना का प्रयत्न, विकृत स्वार्थवाद और भ्रष्टाचार का विरोध, सामाजिक सम्बन्धों में प्रेम और त्याग की भावना, अहकार की उग्रता का विरोध, अपने घर में सोफासेट रखने के लिए बुद्धि को बेच देने तथा धन द्वारा बुद्धि के खरीदे जाने का विरोध। "समझौता परस्ती के खिलाफ लड़ाई और साधारण भारतीय जनमत के प्रति भक्ति और अनुराग।। क्या ये बाते किसी व्यापक जीवन दर्शन मे नही आ सकती।। क्या जीवन दर्शन के लिए हमे पश्चिमी सूक्ष्मताओं की पच्चीकारियो तक जाना होगा।"[49]

यहाँ निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यही "व्यापक दर्शन" कवि की समग्र रचनाओं में यत्र-तत्र-सर्वत्र फैला पड़ा है। वजह यही है कि जिस कवि के लिए (और शायद प्रत्येक सर्जक के लिए) "परम अभिव्यक्ति" ही

साहित्य की वास्तविक अवधारणा है, वह निश्चित ही किसी एक नाप जोख या किसी रूढ दर्शन विशेष से सम्पादित नही की जा सकती, वह तो –

> "लगातार घूमती है जग मे
> पता नही जाने कहाँ, जाने कहाँ
> वह है।"[50]

इसीलिए मुक्तिबोध की कविताओ मे एक तलाश, सामाजिक मुहिम के रूप मे विद्यमान है। यह खोज हो भी क्यों न, क्योंकि कवि को तो "चरित्र" और "वास्तविक चरित्र" मे फर्क करना है। बावजूद इसके भी उसकी आस्था और प्रतिबद्धता मानव और केवल मानव मे है। वह लिखता है कि –

> "मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर मे
> चमकता हीरा है,
> हर एक छाती मे आत्मा अधीरा है
> प्रत्येक सुस्मित मे विमल सदानीरा है,
> मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी मे
> महाकाव्य पीडा है।"[51]

काश! ऐसा ही हो पाता तो शायद कवि की वह आश पूरी होती जिसमें – "घर मे परिवार मे, समाज मे मनुष्य को मानवोचित जीवन प्राप्त हो। आर्थिक तुला के आधार पर घर मे, परिवार मे, समाज मे मनुष्य के मोल को न आँका जाए। आर्थिक उत्पीडन और शोषण मूलक यह जो भयानक समाज व्यवस्था है, वह हमेशा के लिए समाप्त हो और उत्पादन तथा श्रम के समस्त माध्यमो तथा साधनो पर पूरे समाज का अधिकार हो। किसी को किसी का व्यक्ति स्वातन्त्र्य खरीदने का अधिकार नही हो, न बेचने का।"[52]

****

(ख) <u>साहित्य की प्रयोजनीयता</u> – इस ससार मे मनुष्य जो भी कार्य करता है, उसका कोई न कोई प्रयोजन होता है। निष्प्रयोजन कार्य मे वह प्रवृत्त हो ही नही सकता। क्योंकि साहित्यकार भी एक सामाजिक प्राणी है। अत उसका सृजन भी किसी न किसी उद्देश्य या प्रयोजनीयता के कारण ही होगा। अब यह अवान्तर प्रसग है कि सर्जक अपने उक्त उद्देश्य मे सफल हुआ या नही, उसकी इस सफलता या विफलता की माप आलोचक करता है। लेखक के सामने किसी न किसी रूप मे जीवन की वैविध्य समस्याए होती है जिनको कभी सपाट और कभी श्लिष्टार्थ मे अपनी रचना में तरजीह देता है। उपरोक्त समस्याओ का हल ही साहित्यकार का प्रयोजन है।

किसी भी रचना में उद्देश्य को इसलिए भी अर्न्तमहत्व प्राप्त है कि वही ऐसा तत्व है जो समस्त रचना की सार्थकता को प्रोद्भासित करता है। यहाँ यह कहना अप्रासगिक नहीं है कि प्रत्येक रचना का जो भी उद्देश्य है और जैसा भी है उस रचना को सप्राण सक्रिय और जीवित रखने का साधन है। अत किसी भी रचना में उद्देश्य की उपस्थिति, रचना की मूल्यवत्ता सिद्ध करती है।

प्राचीन काव्य शास्त्रीय चिन्तन में साहित्यिक प्रयोजनो के विषय में विभिन्न विद्वानो ने अपने-अपने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। जिसमें सबसे प्रथम स्थान आचार्य भरत मुनि को है, जिन्होने तब की प्रचलित नाट्य विधा (जो प्रथम साहित्यिक विधा थी) को आधार बना कर नाट्य का प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि –

"दु खातीनां श्रमातीनां शोकर्त्ताना तपस्विनाम्।
विश्राम जनत लोके नाट्यमेतद भविष्यति।।"[53]

स्पष्ट रूप से भरतमुनि का काव्य प्रयोजन दु ख, श्रम तथा शोक से संत्रस्त मानव को सुख प्रदान करना है। इससे उनकी लोकोन्मुखता का परिचय भी मिलता है। जिसमें उन्होंने तात्कालिक महान मानव लक्ष्य "मोक्ष" को अपने साहित्य-प्रयोजन में स्थान न देकर सीधे "लौकिक सुख" को ही

महत्व दिया है।

भरत के पश्चात आचार्य भामह का मत है जो साहित्य के प्रयोजन को कवि और पाठक दोनो को ध्यान मे रखकर विवेचित किया है। उनका काव्य प्रयोजन कीर्ति तथा आनन्द होने के साथ–साथ "पुरूषार्थ चतुष्थ्य" की प्राप्ति भी है। वे काव्यालकार मे लिखते हैं कि –

धर्मार्थ काम मोक्षेसु वैचक्षण्य कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणम्।।"[54]

काव्य प्रयोजनो की मीमासा करते हुए आचार्य "मम्मट" ने अपने "काव्य–प्रकाश" में छ प्रकार के प्रयोजनो को स्थान दिया है। लिखते है कि –

"काव्य यशसेऽथेकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतए।
सद्य परनिर्वत्तये कान्ता–सम्मितयोपदेश युजे।।"[55]

अर्थात् उनके द्वारा काव्य के निम्न प्रयोजन हो सकते है – यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, शिवेतर से रक्षा अर्थात् मगल विधान, परमानन्द की सद्य अनुभूति, तथा कान्ता के सम्यक उपदेशदान। इसी का पद्यानुवाद भिखारी दास ने किया है, कहते हैं कि –

"एक लहै तप पुंजनि के फल।
ज्यो तुलसी और सूर गुसाईं।
एक कहै बहु सम्पति केशव,
भूपन जो वर वीर बडाई।।
एकनि को जस हि सो प्रयोजन,
हैं रसखानि रहीम की नाईं।
दास कवित्तानि की चरचा
बुद्धिवतनि को सुख दै सब ठाईं।।"[56]

इतना ही नही काव्य से तो अत्यन्त सरलता पूर्वक पुरूषार्थ चतुष्य्य की प्राप्ति ही मानती है जो कि नाना ज्ञान–विज्ञानो के सम्यक निसेवन से शायद न प्राप्त हो, इसी सन्दर्भ में आचार्य विश्वनाथ का प्रसिद्ध मत है –

चतुर्वर्ग फल–प्राप्ति सुखादल्पधियामपि।
कालादेव यतस्तेन तत्स्वरूप निरूप्यते।।[57]

चूँकि अल्प बुद्धि वालो को "दयेत तत्व" का वह ज्ञान नही सकता, अगर होगा तो वह अत्यन्त श्रम–साध्य ही होगा, किन्तु काव्य तो एक ऐसी विधा है जिसमे अल्प बुद्धि भी कुछ समय मे सरलता पूर्वक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं।

इस तरह से स्पष्ट रूप से प्राक्मनीषियो के काव्य का मुख्य प्रयोजन अन्तिम रूप से आनन्द और पुरूषार्थ चतुष्थ्य की सिद्धि ही है। साहित्य मे जो तासीर होती है उससे बच कर कोई भी सहृदय नही जा सकता। उसका प्रभाव पाठक के जेहन मे अवश्यभावी है, इसी को आधार बना कर हिन्दी के आद्यान्वेषक महावीर प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि – "कविता यदि यथार्थ मे कविता है तो सभव नही कि उसे सुनकर कुछ अगर न हो। कविता से दुनिया मे आज तक बडे–बड़े काम हुए है।"[58]

द्विवेदी जी के यही "बड़े–बडे काम" लेनिन के लिए "क्राति" है। जो किसी भी सफल रचनाकार के सृजन में किसी न किसी ढंग से आऽष्यूत रहते है। वे रूसी क्राति के सन्दर्भ मे टॉल्सटॉय के साहित्य का विवेचन करते "टालस्टाय ने क्रांति को नही पहचाना था फिर भी उनके साहित्य का अध्ययन रूपी के सन्दर्भ में किया जा सकता है। अगर हमारे सामने वस्तुत. महान कलाकार है तो निश्चय ही उसकी रचनाओ में के महत्वपूर्ण पक्षो, पहलुओ का प्रतिनिधित्व मिलेगा।"[59]

इससे स्पष्ट है कि रचनाकार कभी–कभी जाने–अनजाने ही अपने युग में प्रतिक्रिया करते वह सब कुछ कह जाता है जो कि उद्‌देश्य नही होता है। आत्म–चिन्तन के विविध विश्लेषण मे रीतिकालीन कवि या लक्षपकार पूरी तरह से सस्कृत आचार्यों पर ही निर्भर हैं। उनका इस सन्दर्भ में कोई मौलिक चिन्तन नही है। किन्तु हिन्दी के आधुनिक विचारकों तथा कवियों ने न तो सस्कृताचार्यों तथा

न ही रीतिकालीन लक्षणकारो का अन्धानुकरण किया है। उन्होने युग की बदलती हुई स्थितियो मे अपने साहित्य–प्रयोजनो को निरूपण किया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी काव्य मे नैतिकता के अति आग्रही व्यक्ति थे। इसका कारण यह था कि रीतिकालीन भाव–बोध वाली रचनाए समाज मे काफी कामाचार फैला चुकी थी वे इसीलिए खीझते हुए कहते हैं कि– "इन पुस्तकों कि बिना साहित्य को कोई हानि न पहुँचेगी, उल्टा लाभ होना इसके न होने से समाज का कल्याण है। इनके न होने से नव–वयस्क युवा जनो का कल्याण है।"[60] जाहिर है वे साहित्य की एक प्रयोजन 'नैतिकता' भी मानते है, जिसके समाज मे भीषण अनाचार व दुराचार की संभावना प्रबल होती है। इसीलिए वे काव्य के विषय के लिए "आदर्श चरित्र" को महत्व देते हैं। जो कि अपने प्रभाव से समाज मे फैले प्रचड अनाचार को शमित कर सके।

द्विवेदी युगीन महान राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जो कि आपाद महावीर प्रसाद द्विवेदी से प्रभावित थे। इसी नैतिकता को अपने काव्य–प्रयोजन में "आनन्द" से ऊपर महत्व देते हैं वे लिखते हैं कि –

> "केवल मनोरञ्जन न कवि का कर्म होना चाहिए।
> उसमे उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।"[61]

हिन्दी साहित्याकाश के तेजस्वी नक्षत्र आचार्य शुक्ल का साहित्य के विषय में सचिन्तित विचार है कि जो कि उनके गहन अध्ययन और मनन का फल है। वे कविता का उद्‌देश्य "मनुष्य के हृदय को स्वार्थ–सम्बन्धों के सकुचित मंडल से ऊपर उठा कर लोक सामान्य भाव भूमि पर"[62] पहुँचा देना है मानते है। उनकी यह अवधारणा निश्चित रूप से साहित्य की जनतान्त्रिक परम्परा को सुदृढ करती है। वे लोक की भूमि पर अपने कदम मजबूती से जमाकर जीवन और साहित्य की परस्पर अन्त.सूक्ष्मता की पहिचान करते हैं जो रूढ़िवादी, धार्मिकता, पारलौकिकता, और रहस्यवादिता, वैज्ञानिकता तथा लौकिकता का निश्चय ही विरोध करती है। अत शुक्ल जी ने इन विरोधी तत्वों की जम कर खिचाई की है वह वैज्ञानिक तथा तर्कसगत साहित्यिक विचार सरणि के लिए अपरिहार्य ही था। वे समाज मे "व्यक्ति धर्म"

की अपेक्षा लोकधर्मा को महत्वपूर्ण घोषित करते है तथा साहित्य मे जीवन को और जीवन मे साहित्य की प्रतिष्ठापित करते हैं। आचार्य शुक्ल समाज मे कविता की शाश्वत स्थिति की बात करते है उनका मानना है कि चाहे समाज से विज्ञान, इतिहास, दर्शन इत्यादि समाप्त ही हो जाए पर समाज मे कविता का वर्चस्व नही समाप्त हो सकता। क्योंकि मानव अपने स्वार्थ सम्बन्धो के आगे विवश है जिससे कि शेष सृष्टि मे उनके रागात्मक तत्व का विलगाव ही रहता है। और यही विलगाव ही मानव से मानवत्व का-हरण कर लेता है और यदि मानवता ही खत्म हो गयी तो मनुष्य को पशु बनते कितना समय लगेगा? इसका सहज अनुमान किया जा सकता है। इसीलिए वे कविता का प्रयोजन "मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने"[63] का मानते है। इसीलिए वे कविता का अन्तिम लक्ष्य मनोरञ्जन नही मानते हैं, तथा योरोपीय चिन्तकों द्वारा विश्लेषित काव्य के प्रयोजन "आनन्द" को हिकारत भरी नजरो से देखते है। वे लिखते हैं कि "इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व हो बहुत कम कर दिया है - उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।"[64]

शुक्ल जी मानते हैं कि यदि मन को आनन्द प्रदान करना ही कविता का अतिम लक्ष्य है तो वह - "केवल विलास की एक सामग्री है। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि बाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे "भक्त" ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जाएगा? क्या इससे उनका कोई उद्देश्य नही था।"[65] जाहिर है कि इससे इतर भी कोई उद्देश्य था इन मनीषियों का। आचार्य शुक्ल का इस सम्बन्ध मे दृढ़ मत है कि - "कविता पढते समय मनोरञ्जन अवश्य होता है पर इसके उपरान्त कुछ और भी होता है और वही और सब कुछ है।"[66] वे मानते है कि जो व्यक्ति कविता का उद्देश्य मनोरञ्जन जैसी हल्की बात को मानता है और मनोरञ्जन को ही ध्यान में धर कर कविता का पठन-पाठन करता है तो वह रात्रि मे रह जाने वाले पथिक के समान है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि किसी भी रचना मे उद्देश्य की उपस्थिति उस रचना की सार्थकता को सिद्ध या धूमिल करती है, चूँकि कविता कोरा उपदेश नही होती। वह तो अपने युग के साथ – "आत्मचेतस व्यक्ति की सवदेनात्मक प्रतिक्रिया है।" अत उसका प्रयोजन भी संवेदनात्मक ही होगा जो अपनी तामीर मे न केवल प्रभावी होगा बल्कि युग की धारा को मोडने मे भी सक्षम होगा। मुक्तिबोध अपने साहित्यिक अवधारणा मे उद्देश्य को बहुत महत्व देते हैं तथा कहते हैं कि – "सवेदनात्मक उद्देश्यो की तीव्रता के अभाव में सर्जक अपनी रचना को बहत आगे नही बढ़ा सकता और वह खडित नही हो सकती है।"[67] उनका मानना है कि जैसे–जैसे युग परिवर्तित होता है वैसे–वैसे काव्य विषयो तथा काव्य शैलियो मे भी परिवर्तन होता चलता है। इस युगपरिवर्तन के साथ ही विभिन्न स्वभाव के कवि सामने आते है जिनके न केवल – "विषय भिन्न होते है बल्कि काव्य शिल्प भी भिन्न–भिन्न होता है।"[68] इन भिन्न विषयो तथा भिन्न शिल्पो के तद्वत उनका उद्देश्य भी अलग होता है। आधुनिक परिस्थितियो को देखते हुए किसी भी कवि का मानवतावाद की ओर उन्मुख होना आसाधारण बात नहीं है, किन्तु मुक्तिबोध ऐसे बहुत से मानवतावादी कवियों की खबर लेते हे जिनकी "मानवता की कल्पना अमूर्त और वायवीय है।"[69]

वे उन कवियों को श्रेष्ठ ठहराते है जो "व्यक्तिगत भावना के धरातल पर समाज के शोषकों और उत्पीडकों के विरूद्ध हैं, विषम समाज के भीतर मध्यवर्गीय जनता से जिनका लगाव है।"[70] यहाँ वे आचार्य शुक्ल की उस धारणा के निकटतम हैं जिसमें वे "अन्यायी रावण" के खिलाफ राम के दावाग्नि सदृश्य क्रोध को उस पर की गई दया से श्रेष्ठ मानते हैं। आधुनिक कविता में यदि देखा जाए तो "रावण" उस शोषक वर्ग का व्यापक प्रतीक है जो अपने छलो–छद्मों के माध्यम से गरीब जनता का खून चूसते हैं। आखिर रावण ने भी तो ऋषियों का "लहू" "कर" के रूप में लिया था। इसी कर उगाही को मुक्तिबोध शोषण सत्ता के प्रतीक "पठान"

में देखते हुए लिखते हैं कि –

"तडके ही, रोज
कोई मौत का पठान
माँगता है जिन्दगी जीने का ब्याज",
अनजाना कर्ज
माँगता है चुकारे मे, प्राणो का माँस।"[71]

चुकारे मे प्राणो का माँस", जिन्दगी के एवज मे माँगने वाले "पठानों" के खिलाफ मुक्तिबोध का साहित्य सीधे भिड़ता है। उनका साहित्य आदि से अन्त तक शोषण के विरूद्ध जनमानस की ललकार लगता है। इसीलिए अशोक बाजपेयी कहते है कि – "कई बार ऐसा लग सकता है कि मुक्तिबोध कविता से बहुत सारे काम एक साथ लेना चाहते थे।"[72] वे सारे काम हैं जिए और भोगे गए जीवन को सवेदनात्मक उद्‌देश्यो के माध्यम मे जनता के बीच ले जाना . मुक्तिबोध अपने फैटेसी के विस्तृत विवेचन मे इसी संवेदनात्मक या भावात्मक उद्‌देश्य को ही केन्द्रीय तत्व मानते हैं। उनका मानना है – "फैटेसी एक झीना परदा है जिससे जीवन तथ्य झाँक–झाँक उठते है।"[73] इसमे दो बातें साफ है कि व्यावहारिक जीवन मे चिलमन का उद्‌देश्य किसी की गोपनीयता को बरकरार रखना है जब कि यही "फैंटेसी" के चिलमन के रूप मे न तो उन तथ्यो को उजागर कर रहा है और न ही छुपा पा रहा है। गर्ज यह कि सब कुछ दिखाई दे रहा है किन्तु अस्पष्ट और धुँधला, क्योंकि अतत "फैटेसी" एक परदा तो है ही, भले ही झीना–झीना सा ही क्यो न हो। मुक्तिबोध कहना चाहते है कि किसी भी रचना में जो वास्तविक उद्‌देश्य होता है वह "प्रतीकात्मक रूप से ही झलकता है।"[74] अत इस उद्‌देश्य को जानने के लिए "सवेदनात्मक अनुमान ही से" काम चलाया जा सकता है। इन्ही अर्थों मे वे कामायनी को "एक विशाल फैटेसी" मानते हैं। जिसमे लेखक का लेखकीय प्रयोजन देव–लोक की सभ्यता का गुणगान न करके अथवा उसके इतिहास का इतिवृत्त न खड़ा करके – "लेखक आत्म जीवन को और उस आत्म जीवन में प्रतिबिम्बित जीवन जगत के बिम्बो को और तत्सम्बन्ध मे अपने चिन्तन को अपने जीवन निष्कर्षों को प्रकट कर रहा है।"[75]

आचार्य शुक्ल ने अपने साहित्यिक चिन्तन क्रम मे साहित्य का उद्देश्य बताते हुए "मनुष्यता" को समय-समय जगाने का माध्यम माना है उसी प्रकार मुक्तिबोध भी काव्य या साहित्य का प्रयोजन दो अर्थों मे मानते है। लिखते है कि – "साधारणतया साहित्य के दो पहलू रहे है। एक तो वह जिससे मनोरञ्जन हो, और दूसरा वह जिससे हम अधिक मानवीय होते चलें। एक केवल मनोरञ्जन ही मनोरञ्जन है, उसके आगे कुछ नही। और दूसरा किसी आदर्श को लेकर चलता है।"[76]

इस विवेचन की अग्रिम कड़ी को वह प्राचीन रसवादी अवधारणा से जोडते है तथा काव्य की वास्तविक आत्मा "रस" को स्वीकार करते हुए चमत्कारवाद का विरोध करते हैं। यहाँ वे चमत्कारवाद को मनोरञ्जन से तथा रसोद्रेक का उद्देश्य मानवीयता को जगाने से जोडते हैं। वे आचार्य शुक्ल की ही तरह कलावाद के भी घोर विरोधी है तथा इसकी प्राणहीनता को दृष्टि मे रखकर "कला-कला के लिए" सिद्धान्त को मनोरञ्जन से जोडा।

रचना-प्रकिया मे रचना के प्रयोजन के "सवेदनात्मकता" से जोडकर उसकी आत्मपरक व्याख्या मुक्तिबोध ने की है। लिखते है कि – "संवेदनात्मक उद्देश्य हृदय मे संचित प्रतिक्रियाओ उद्भव अविद्यामय अनुरोध अतृप्त स्वप्न राथियो से निर्मित होता है।"[77] कहना न होगा कि यही "अतृप्त-स्वप्न-राशियाँ" ही किसी रचना में आदर्शवाद को पोषित करती है। होता यह है कि जब कलाकार अपने इच्छित विश्व को नही पाता, तब वह कल्पना के सहारे एक नए क्षेत्र का सृजन करना है जो कि निश्चय ही इसके द्वारा दिये गए – "विश्व के शुचितर सपने है। इन्ही शुचितर स्वप्नो की सिद्धि के लिए वह "अग्नि के अधिष्ठान" को खोजता फिरता है। असल,ही, मे यह "अधिष्ठान" पहले कभी हरा-भरा वृक्ष था जो –

"आधुनिक सभ्यता के वन मे

व्यक्तित्व वृक्ष सुविधावादी।
कोमल-कोमल टहनियाँ मर गई अनुभव मर्मो की
यह निरूपयोग के फलस्वरूप हो गया।"[78]

किन्तु कवि की आत्मा उसमे भी अन्तर्जीवन के ऐसे मूल्यवान सवेदनाओ की खोज करती है जिनका पहले विवेक सम्मत प्रयोग नही हो सकता। इस इस पूँजीवादी सभ्यता के युग मे करुणा जो निश्चय ही प्राणिमात्र का कल्याण करती है उसने मुँह मोड लिया गया तथा उनको कचरे के भाँति फेक दिया गया। फिर भी कवि की आस्था ऐसी मानवीयता को तिरस्कृत नही कर सकती जिसका मोल सुविधावादी लोग नही लगा सकते। उसको आज भी विश्वास है कि यद्यपि "ए जन" (डठल) सूख गए है फिर भी इनमे आग की एक भयानक भभक है जो पूँजीवादी सुविधापरस्त जंगलो को जलाकर खाक कर देगी, वह (आत्मा) कहती भी है कि मै इन अग्नि अधिष्ठानो को, –

"घर के बाहर आँगन मे मै सुलगाऊँगी
दुनिया भर को उनका प्रकाश दिखलाऊँगी।"[79]

आचार्य शुक्ल का विचार था कि कविता का उद्देश्य अतिम रूप से "लोक–सामान्य भावभूमि" पर हृदय को प्रतिष्ठित कर देना है। जिसका आशय है कि कविता मनुष्य को जीवन और जगत मे विरत नही करती, बल्कि उसके रागात्मक–सम्बन्धो को प्रकृति के नाना रूपात्मक तत्वो से मिला–जुला देती है। अत कविता यदि हमें सुख के प्रति आकृष्ट करती है तो निकृष्ट या गलीज के प्रति हमारे मन मे जुगुप्सा का भी संचार करती है। "काव्य पाठ या श्रवण से मनुष्य को यह लगने लगता है कि उसका – "जीवन कई गुना बढ कर सारे ससार मे व्याप्त हो गया है।"[80] अर्थात् कविता हमें जीवन और जगत से दूर न ले जाके उसके और करीब ला देती है। इसीलिए कविता जीवन मे पलायन नही है बल्कि वह जीवन के साथ कही गहरे जुडाव का नाम है। ठीक इसी प्रकार से मुक्तिबोध काव्य नायक भी अपने हाँथ मे क्रान्ति का मजमून लेकर अपने को सम्पूर्ण विश्व के साथ तदाकार करता है –

"पर्ची पढ़ते हुए,
उड़ता हूँ हवा मे
चक्रवात गलियों में घूमता
हूँ नमन्भर,
जमीन पर एक साथ
सर्वत्र सचेत उपस्थित

प्रत्येक स्थान पर लगा हूँ
मै काम मे
प्रत्येक चौराहे, दुराहे व
राहो के मोड पर
सडक पर खडा हूँ।।"[81]

ेसल मे शुक्ल जी ने श्रेष्ठ काव्य के लिए जिस "करुण-भाव" को सर्वोपरि मानते हुए राम के लका पर चढाई का केन्द्रीय तत्व घोषित किया था, वही करूणा तो मुक्तिबोध के काव्य-नायक मे भी है, जो भयानक सघर्षों के बाद इस स्थिति तक पहुँच सकने मे समर्थ हो सका। जैसे "राम की शक्ति पूजा" मे राम को नाना विधि सकटो का सामना करते हुए अत मे जय प्राप्त होती है वैसी विजय अधेरे मे के काव्य नायक को तो प्राप्त नही होती, बल्कि उस जय की एक झीनी झलक भर मिल जाती है, -

"आत्मा के चक्के पर चढाया जा रहा
सकल्प-शक्ति के लोहे का मजबूत ज्वलत टायर।।
अब युग बदला है वाकई"[82]

मुक्तिबोध के लिए साहित्य आत्मचेतस व्यक्ति की अपने युग से प्रतिक्रिया तो है वह एक सास्कृतिक प्रक्रिया भी है। जिसका उद्देश्य बताते हुए कहते है कि - "साहित्य का उद्देश्य सास्कृतिक परिष्कार है, मानसिक परिष्कार है।"[83]

अब सवाल यह उठता है कि किसका सास्कृतिक परिष्कार? उत्तर है - "जनता का सास्कृतिक और मानसिक परिष्करण। उनका मानना है कि जनता यद्यपि कम पढ़ी-लिखी है किन्तु कम पढ़े-लिखे लोगो के लिए क्या नौटकी और किस्सा तोता-मैना। कुछ परिष्कार कर पाएगे? शायद नही। इसीलिए वे जनता के लिए साहित्य का प्रश्न उठाते हुए उसकी शिक्षा-दीक्षा पर भी ध्यान देते हैं। उनका मानना है कि - जनता की समझ मे आ सके या वह इसके मर्म को समझ सके वह इसे सस्ता और घटिया साहित्य मानते हैं। उनके लिए जनता के साहित्य का अर्थ है - "ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन-मूल्यो को, जनता के जीवन दर्शनो को प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने पथ पर

अग्रसर करता हो।"[84]

कितु इस प्रकार के साहित्य को जनता मे तभी स्थान प्राप्त हो सकता है, जब वह सुशिक्षित और सुसस्कृत हो, इसीलिए वे कहते है कि – "जनता फिलहाल अन्धकार मे है। जनता को अज्ञान से उठाने के लिए हमे पहले उसको शिक्षा देनी होगी। शिक्षित करने के लिए वैसे ग्रन्थ निकाले जाएगे और निकाले जाने चाहिए।" वस्तुत जतना के लिए ही कवि द्वारा किया गया अनेकश प्रयास ही किसी भी साहित्यकार का साहित्यिक प्रयोजन हो सकता है जिसमे तमाम अड़चने आ सकती है, क्योंकि आधुनिक सभ्यता के भँवर जाल मे "जन" फँस कर रह गया है। कवि के सामने उसकी मुक्ति का यक्ष प्रश्न है। उद्‌देश्य की सिद्धि के लिए ही वे केवल स्वय से नहीं बल्कि प्रत्येक स्वत्ववान सर्जक की ओर से मुखातिब है कि –

"अब अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे
उठाने ही होगे।
तोडने होंगे ही मठ और गढ़ सब
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ो के उस पार।"[85]

किसी भी समाज में साहित्य का उपयोग तब तक नही हो सकता (चाहे उसका उद्‌देश्य रजन ही क्यों न हो) जब तक शोषण के खिलाफ सघर्ष तदन्तर शोषण से छुटकारा और फिर कर मे दैनिक जीवन के उदर निर्वाह सम्बन्धी व्यवसाय में कम से कम समय खर्च करने की स्थिति न होगी। क्योंकि जब तक जनता "नोन–तेल–लकड़ी" मे फँसी रहेगी तो उसका, सास्कृतिक, मानसिक, परिष्कार क्या खाक होगा।

मुक्तिबोध का मानना है कि हमारे साहित्य का उद्‌देश्य तब तक अपूर्ण है जब तक उसमे – "उत्पीडित और शोषित गुणों के बिम्ब दिखाई नही देते, उनके हृदयो का आलोक नही दिखाई देता।"[86] इस व्यापक उद्‌देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब – "हम व्यक्तिवाद के गहन दण्ड कारण्य से बाहर निकल

पडे, जिन–जिन स्थानो पर मनुष्य अपनी अस्तित्व रक्षा मे लीन है। वहाँ–वहाँ हमारे हित लगे हुए है। हमारे काव्य का चरित नायक आज स्वय मूर्तिमान यथार्थ ही हो कल को अपने औजार उठा लेना चाहिए। शायद बारूद भी जख्मी है जिससे कि चट्टाने तोडी जा सके और युग के उन स्पन्दन भाव–निर्झरो को मुक्त किया जा सके, कि जो उन चट्टानो के नीचे दबे हुए है। मनुष्य की मनुष्य के साथ बातचीत शुरू करनी होगी, मनुष्य का समाज के साथ वार्तालाप आरम्भ करना होगा × × × × × × × × × × × यदि विशुद्ध काव्य हमे जीवन ही से पूर्णत पृथक करता है तो उस काव्य को विशुद्ध रखने की आवश्यकता ही क्या है। हम लोक चहारदीवारी को तोडकर निकल जाए और कूद कर खाइयाँ लाँघ ले। हम स्वगत भाषण और
से हटकर वार्तालाप की ओर जाए, नि सगता से हटकर सघर्ष में योग दे। × × × × × × × × × × × × लोगो की आँखो के सामने हम उन्ही की गरीबी और दरिद्रता की स्थिति स्पष्ट करे और यदि हो सके तो हम उनकी मुक्ति के और सात्वना के शब्द खोज निकाले।"[87]

****

सप्रेषण सम्बन्धी मान्यताए – अपने को दूसरो के सामने व्यक्त करने की कला का नाम ही "सम्प्रेषण" (Communication) है, जो कि मानव की स्वाभाविक वृत्ति है। जो कही न कही उनकी सामाजिकता से गहरे जुडी है। वह अपने हृदय के उछ्वास को आनन्दको मिल–बॉट कर भोगना चाहता है। कहना न होगा कि मनुष्य के लिए अभिव्यक्ति उतनी ही आवश्यक है जितना कि पुष्प के लिए विकसित" होना, इसीलिए सृजन की अदम्य आवश्यकता (Creative Necessity) काव्य की मूल प्रेरणाओ मे से एक मानी गयी है। "गूँगे के गुड" की भॉति मन ही मन आनन्द लेने वाले मध्यकालीन संत कवि भी सम्प्रेषण" से अपने को बचा नही सके। मन के उल्लास को या अपने पाए सत्य को उदभव को, यदि वह सीधी–सपाट भाषा मे लोगो तक नही पहुँच सका हो तो इन महात्माओ ने तमाम रूपको उपमाओ तथा प्रतीको का भी सहारा किया जिससे इनकी बातो को स्पष्ट रूप से जनता समझा सके और उस आनन्द की भी भागीदार हो जो कि कवि प्रसूत है।

भाव प्रेषण की समस्या सर्वप्रथम भरतमुनि के "नाट्यशास्त्र" मे वर्णित "रस" की व्याख्या से उठती है। इस विषय मे उनका प्रसिद्ध सूत्र है –

"विभावानुभाव – व्यभिचारि – सयोगाद् रसनिष्पत्ति ।"

इसकी व्याख्या विभिन्न तरीके से की गयी। इसमे व्याख्या के मुख्य बिन्दु केवल दो है – (1) संयोगाद् (2) निष्पत्ति सवाल यह उठता है कि "रस" का असली भोक्ता कौन है, कवि, दर्शक अथवा अभिनेता? इसके जवाब मे सर्वप्रथम "भट्टकोल्लट" की "उत्पत्तिवाद" सिद्धान्त सामने आता है जिसमे "रस" का भोक्ता "अभिनेता" को माना गया है, किन्तु जो "रस" का वास्तविक भोक्ता है वह "मूल पात्र" है – अभिनेता जो कुछ क्षणो के लिए ही अपनी अनुकरण क्षमता के बल पर उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस सिद्धान्त को सर्वाधिक आलोचना इसलिए झेलनी पडी कि इसमें "दर्शक" या "पाठक" का कोई भी स्थान नियत न किया गया। जबकि कोई भी कलाकृति "स्वान्त. सुखाय" होते हुए भी सुजनो के सुख के लिए ही होती है।

इस सिद्धान्त मे एक और पेचीदगी थी वह यह कि, इस दुनिया मे मूल पात्रो (चाहे वह राम, दुष्यन्त या कोई भी क्यो न हो) को गए हुए सदिया गुजर गए तो नाट्य मचन मे अथवा काव्य पाठ मे "रस" की निष्पत्ति मूल पात्रो मे क्यो कर सम्भव मानी गई? यही इस सिद्धान्त की सीमा है।

इस सिद्धान्त की कुछ परिहार प्रसिद्ध नैयायिक भट्ट शकुक ने अनुमितिवाद के माध्यम से किया, उन्होने "रस निष्पत्ति" की व्याख्या, अनुमान पद्धति से किया, उन्होने इसके लिए "चित्र तुरगन्याय" का सहारा लिया। कहा कि जिस प्रकार चित्र मे अकित घोडा वास्तविक न होते हुए भी घोडा ही माना जाता है उसी प्रकार अभिनेता अपनी अभिनयकुशलता के बल पर मूल पात्र ही माना जाता है? अत जो "रस" मूल पात्र मे है वह सक्रमित होकर अनुमान पद्धति मे अभिनेता मे आ जाता है।

किसी भी कला सपादन के लिए जो दो बुनियादी सवाल उठते है वे थे कि, कला की रचना क्यों? दूसरा सवाल, कला किसके लिए? इसी दूसरे सवाले मे ही सम्प्रेषण की समस्या जुड़ी हुई है। भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो मे भट्ट नायक ऐसे पहले आचार्य है जो कला के साथ सामाजिक या पाठक या दर्शक की भूमिका नितान्त आवश्यक मानते है। भट्ट नायक ने अपने सिद्धान्त मे तीन व्यापारों को तरज़ीह दिया है – "पहला अभिधा जिसके द्वारा शब्दार्थ का ज्ञान होता है दूसरा भावकत्व – व्यापार जिसके द्वारा विभावदि तथा रत्यादि स्थाई भाव साधारण कृत होकर मेरे व पराए, शत्रु के या मित्र के ऐसे बन्धनो से मुक्त होकर, "उपभोग योग्य बन जाते है।"[88]

स्पष्ट रूप से "भावकत्व व्यापार" को ही "साधारणी–करण कहा गया है। जिसके द्वारा "मूल पात्र" अपनी ऐतिहासिकता और व्यक्तिसत्ता का त्याग कर के सामान्य प्राणी के रूप में ग्रहण किया जाता है और भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक "रस" का "भोग" करता है। किन्तु इस सिद्धान्त में जहाँ "साधारीणकरण" की मनोवैज्ञानिकता सन्निहित है। वही पर "भोजकत्व" व्यापार जैसा काल्पनिक विचार भी है जिसका यथार्थ धरातल समझ में

नही आता है। इसी दोष की सम्यम आलोचना "अभिनवगुप्त" ने अपने "व्यक्तिवाद" या "अभिव्यक्तिवाद" नामक सिद्धान्त मे किया है, उन्होने रसोन्मीलन के सिद्धान्त मे "वासना" और "साधारणीकरण" को विशेष महत्व दिया। "वासना" का अर्थ है ऐसे भाव जो प्रत्येक व्यक्ति मे सुप्त अवस्था मे रहते है तथा उपयुक्त जमीन पाकर उद्वेलित हो उठते है। वासना का अन्तर्मन अब और भी समझा जा सकता, जब कोई करूण-हृदय व्यक्ति अव्यक्त कारूणिक स्थितियो को देखकर या पढकर भी द्रवित नही होता। इसीलिए "रस" के संपूर्ण भोग के लिए मानव मे वासना का होना उपस्थित है अन्यथा वह "रस" का समग्र उद्‌भव नही कर सकता। साधारणीकरण की स्थिति मे तो वह (सहृदय) -

"परस्य न परस्येति ममेति न ममेचित्।
तदास्वादे विभावादे परिच्छेदो न विद्यते।।"[89]

भाव के ओत-प्रोत मानता है कि रस का केवल वही भोक्ता नही है बल्कि समान और भी लोग उसका आन्नद उठा रहे हैं। इस विवेचन का का उद्‌देश्य यह स्पष्ट करना रहा है कि प्रेक्षागृह मे जो रोल दर्शक का नाट्‌य के सन्दर्भ मे है वही कविता के लिए पाठक वर्ग का है।

सम्प्रेषण से सम्बन्धित जो एक और बुनियादी सवाल है वह यह कि क्या कवि अपने दु:खात्मक अनुभूतियो को ज्यो का त्यो सम्प्रेषित कर देता है अथवा उसमें कुछ फेर-फार भी करता है? वैसे देखा जाए तो यह एक कठिन कार्य है कि कोई व्यक्ति अपने भावों को दूसरो तक ज्यो का त्यो सक्रमित कर दे। इस समस्या को पाश्चात्य काव्य-शास्त्री आई ए रिचर्डस् ने अपने पुस्तक "प्रिसिपल्स ऑव क्रिटिसज्म" मे उठाया है। वे सम्प्रेषण को कला से बाह्य न मानकर उसे कला का तात्विक धर्म समझते है। उनका मानना है कि - "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी हे उसने सामाजिक मन का विकास किया है, जो कुछ वह करता है (चेतन रूप से या अचेतन रूप से) सब दूसरो से निवेदित करता है। एस्थेटिक क्रिया भी दूसरो के प्रति निवेदित होती है। एस्थेटिक उद्‌भव भी सप्रेषित होना चाहिए, वह केवल मन की आन्तरिक क्रियामात्र न रह जाता।"[90]

यहाँ आकर रिचर्डस क्रोचे के सिद्धान्तो के ठीक विपरीत पडता है, क्योंकि क्रोचे सप्रेक्षण को कला का तात्विक धर्म न मानकर व्यावहारिक तथ्य मानता है जो कि कवि के उद्‌भव और विचारको को सुरक्षित रखने का तरीका मात्र है। कहता है कि – "The work of Art is always internal and what is called external is no longer a work of Art."[91]

मुक्तिबोध अपने काव्य सिद्धान्तो मे आई ए रिचर्ड्स के जितने नजदीक है उतने क्रोचे के नही इसी लिए वे "वैविध्यपूर्ण, स्पन्दन आस – पास फैले हुए मानव जगत के मार्मिक पक्षो के वेदनात्मक चित्रण के लिए अभिव्यक्ति सम्पदा।"[92] की बात करते है। उनका मानना है कि "अभिव्यक्ति सम्पदा" की वृद्धि के लिए किसी भी कवि को अपने "आस–पास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष" को जानना बहुत जरूरी है जो केवल भावपक्ष के चित्रण मे नही बल्कि "विभाव पक्ष" को लेते हुए ही जाना जा सकता है। मुक्तिबोध ने "अभिव्यक्ति" की सप्रेषणीयता की विसद् व्याख्या "कला के तीन क्षण" नामक निबन्ध में किया है, क्रोचे यहाँ पर – चित्र, मूर्ति, कविता आदि को "Aids to memory"93 मानता है वही पर मुक्तिबोध का मानना है कि – "हमारे वेदनात्मक हेतु और सवेदनात्मक अभिप्राय किसी व्यापक मार्मिक जीवन महत्व से न्यस्त हो जाते है और हमारे लिए वह आत्म तत्व इतना अधिक महत्व मय मालूम होता है कि हम उसकी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते है। इस छटपटाहट को जब हम भव्य रंग और स्वर मे अभिव्यक्त करने लगते है तब काव्य का तीसरा क्षण शुरू हो जाता है।"[94]

कहना न होगा कि इस "छटपटाहट" को अपने आन्तरिक उद्‌भव सूत्रो को कवि जिस माध्यम से सप्रेषित करता है वह "भाषा" कही जाती है, भाषा – "सामाजिक सम्पदा"[95] होने के कारण उसके शब्द संयोग, भाव परम्परा और ज्ञान परम्परा स्वत पूर्ण होते है। अतएव कवि को अपने "हृदयगत तत्वो को उसके मौलिक रूप, रंग और भार में स्थापित और प्रकट

करने के लिए नए शब्द सयोग बनाने या लाने पडते हैं।"[96] मुक्तिबोध ने कला के तीसरे क्षण को दोनो से दीर्घ माना है क्योंकि यह वह क्षण है जिसमे भीषण सघर्ष के बावजूद कृति का सृजन होता है वे बनाते है कि – "उस सघर्ष मे अभिव्यक्ति के स्तर पर आते–आते हमारे मनोमय तत्व रूप बदलने लगते है। होता यह है कि उस सघर्श के दौरान मे भाषा के भीतर उपस्थित ज्ञान, परम्परा और भाव परम्परा के कारण, जो पहले से ही शब्द "सयोग" से बने हुए हैं। उन शब्द सयोगो के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े हुए जो अर्थानुषगो है, उन अर्थानुषगो (के प्रभाव मे आकर – "मनोमय रूप तत्व समीक्षक समस्या अर्थनुषगो) को आत्मसात कर अपने को और पुष्ट करते है, फलत वे इस हद तक बदल भी जाते है। जब वे अपनी खास साइज और अपनी खास काट की अभिव्यक्ति पा लेते है तब उसके तत्व और रूप पहले से बहुत कुछ बदले हुए होते हैं।"[97]

इससे यह स्पष्ट होता है कि कोई भी कवि अपने लौकिक अनुवो को जस का तस ही सप्रेषित नहीं कर देता, बल्कि उससे कुछ छील–छाल करता है उसको अपने उद्देश्यो से परिपूर्ण करता है। जिससे वह जो भी कहना चाहता है वही सप्रेषित हो। जब कवि अपने लौकिक अनुभवो को सीधा सप्रेषित नही करता तो जाहिर है कि उसमे कल्पना का मधु मिल हो जाता है तथा कवि के द्वारा लिए गए यथार्थ जो कि वेदनात्मक है, का सप्रेषण पाठक वर्ग में चिन्त्य अनुभूति उत्पन्न करता है।

आई ए रिचर्ड्स ने सप्रेषण के साधनों मे कलाओं को सर्वोदृष्ट स्थान दिया। कहते है कि –"Arts are the suprime from of the Communicative activity"[98]

यहां कलाकार को समर्पक या सप्रेषक (Communicative) विशद्ध रूप से मानना कल्याणकारी है किन्तु स्वय कलाकार भी ऐसा सोचता है, यह सत्य नही है क्यो कि रिचर्ड्स के अनुसार – "जिस समय रचना करने लगता है उस समय वह सम्प्रेषण के सजग और सायास प्रयत्न मे प्रवृत्त नही होता। अन्य लोग उस वृत्ति को पढेगे और उससे अनुभूति प्राप्त करेगे यह तथ्य उसे गौड़ प्रतीत होता है।"[99]

किंतु सवाल उठता है कि यदि कवि सप्रेषण का सायास प्रयत्न नही करता तो जो उसके उद्देश्य है अथवा जो वह समाज को देना चाहता है उसका क्या मतलब है। दरअसल कवि अपने जीवनानुभवो के बीच से जो अत सत्य प्राप्त कर सका वही उसका सवेदनात्मक उद्देश्य है जो कविता की रचना प्रक्रिया से गहरे जुडा है अथवा दूसरे यदि कवि यह सोच ले कि सृजन का मतलब केवल स्व की पीडा से मुक्ति ही है तो रचना क्या बेमतलब नही हो जाएगी? अवश्य हो जाएगी। इसी को मुक्तिबोध "अन्तरात्मा और पक्षधरता" नामक निबन्ध मे इस तरह से उठाते है कहते है कि – "चूँकि मेरी अन्तरात्मा की हलचल और बेचैनी आपकी अन्तरात्मा की हलचल और बेचैनी से मिलती–जुलती है, इसीलिए जहाँ तक अन्तरात्मा का प्रश्न है मै आपका भी पक्षधर हूँ और आप मेरे भी पक्षधर है। और, चूँकि हम– आप जैसे अन्तरात्मा वाले बहुत से लोग इस ससार मे हे, इसलिए हम बस उन सबके और वे सब हम सबके पक्षधर हैं, चाहें वे हिन्दी क्षेत्र के हो या अन्य भाषा क्षेत्र के, भारत-भूमि के हो या उसके बाहर के। ×
और हम, बिना इस पक्षधरता के अपने आपको अपूर्ण मूल्यहीन और निरर्थक पाते है।"[100]

कहना न होगा कि मुक्तिबोध में सृजन की एक सायसता विद्यमान है जो कि एक खास जीवन दर्शन को लेकर है, तथा उसकी सप्रेषणीयता भी एक ऐसे वर्ग के लिए है जो कि उन जैसी आत्मा वाले हो। किन्तु बावजूद इसके भी इस सृजन सायासता मे भी कही चूक हो ही जाती है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि कवि अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर नहीं चल पाता, सृजन नही कर पाता, इसीलिए उसकी अन्तरात्मा उसे धिक्कारती भी है – "बेवकूफ, तुम यहाँ चूक गए"[101]

अपने इसी आग्रहो (दूसरों की निगाह में दुराग्रहों) के चलते ही मुक्तिबोध की कविता पर कई प्रकार के तोहमत लगाए जा चुके है जिसका सार उन्होंने खुद ही अपनी एक कविता मे इस प्रकार से किया है –

"कहते है लोग–बाग बेकार है मेहनत तुम्हारी सब
कविताए रद्दी है।
भाषा है लचर उसमें लोच तो है ही नही
बेजौड है उपमाए विचित्र है कल्पना की तस्वीरे
उपयोग मुहावरो का शब्दो का अजीब है
सुरो की लकीरो की रफ्तार टूटती रहती है।
शब्दो की खड–खड मे ख्यालो की भड–भड
अजीब समाँ बाधे हैं।।"[102]

सवाल उठता है कि यदि ए सारे के सारे आरोप सही और तार्किक है तो मुक्तिबोध मे वह कौन सी सर्जनात्मक चुम्बकीय ताकत है जो किसी पाठक को सटाक से अपनी ओर खीचती है? पहले आरोप को ही ले लिया जाए कि – "भाषा है लचर उसमे लोच तो है ही नहीं" – कहा जा सकता है कि – प्रत्येक सार्थक कवि का अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व होता है जो उसके सृजन का नियमन करता है, चूँकि रचना मे भाषा ही कवि का प्रतिनिधित्व करती है अत सर्जक व्यक्तित्व की पहिचान तथा उसकी रचना मे पसद रचना ससार के गुण, विस्तार कैनवस तथा प्रकृति की पहिचान भी उसकी सृजनात्मक भाषा के माध्यम से ही की जाती है। मुक्तिबोध ने कला की तीन क्षणों मे रचना प्रक्रिया की जो विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है उसका मतलब है कि "भाषा" तत्व जो कि कला का अतिम क्षण है। कवि व्यक्तित्व का निचोड़ कहा जा सकता है, क्योंकि भाव से प्रथम मिलन तदुपरान्त उन भावो का आभ्यन्तरीकरण और छील–छाल के बाद ही अपने सवेदनात्मक उद्देश्य के अनुसार भावो को असली जामा पहनाया जा सकता है। स्पष्ट रूप से भाषा तक पहुँचने में भावो को अनेकानेक प्रयोगो, प्रक्रियाओं की खराद से गुजरना पडता है, तभी भाषा भी रचना के स्वत्व का वहन कर पाती हैं।

बड़ी रचना, लेकिन छोटी भाषा या छोटी रचना लेकिन बडी भाषा के अनमेलपन या द्वैतता से लिखना, भले ही सम्भव हो किन्तु सृजन नही कहा जा सकता क्योंकि भावों और भाषा का अद्वैत न केवल जरूरी है वरन् सृजन की अदम्य माँग भी है। इसीलिए पाश्चात्य काव्यशास्त्री टी एम इलियट ने अपने

"वस्तुगत सहसम्बन्ध" नामक सिद्धान्त मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि – "The only way of expressing emotion in the from of art is by findings an objective corelative, in other words a set of objects, a situations a chain of eveats which shall be the formuale of the particular emotion, so that when the external facts--------- are given the emotion is immidiately evoked."[103]

चूँकि कविता एक वाचिक सरचना है जिसमें वे भाव समाहित है जिनका प्रेषण जगत को अभिप्रेत है। कवि के भाव सवेदन, विचार सब कुछ अमूर्त है। अमूर्त तब प्रत्यक्ष नही हो सकता अत भाव का (पाठक) को इसकी अनुभूति भी नही हो सकती इसीलिए कला मे भाव सप्रेषण का एक ही मार्ग है और वह यह है कि उसके लिए "वस्तुनिष्ठ समीकरण" (Objective Corelative) को प्रस्तुत किया गया। दूसरे शब्दो मे ऐसी वस्तु स्थिति, घटना शृखला प्रस्तुत की जाए जो उन नाटकीय भाव का सूत्र हो ताकि ज्यो कि ये बाह्य वस्तुए जिनका पर्यवमान मूर्त मानस–उद्भव में हो, प्रस्तुत की जाएं त्यों ही भाव उद्बुद्ध हो जाए। अब जो कुछ कहना चाहता है उसे वह वस्तुओ की किसी सघटना किसी स्थिति विशेष या घटनाशृखला के माध्यम से ही प्रस्तुत करता है। इसी "वस्तुगत सहसम्बन्ध" के भारतीय काव्यशास्त्र मे विभावन व्यापार कहा जाता है। मुक्तिबोध भी कहते है कि अभिव्यक्ति की व्यापक सप्रेषणीयता के लिए "भाव पक्ष के साथ–साथ विभाव पक्ष का चित्रण भी करना होगा"[104]

इसी विभाव पक्ष से ही जीवित रखने के लिए कविवर अपनी कविताओ में नाटकीयता, गाथा, रोमाच या कि अनेकानेक कवितेतर सामग्रियो की एक चेन सी प्रस्तुत करते हैं। अभिव्यक्ति को और अधिक सक्षम बनाने के लिए ही अथवा सवेगात्मक उद्देश्य को समग्रता से पूरा करने के चक्कर मे ही कविताए बनती चलीं जाती है न तो कथ्य समाप्त होता है और न कविता ही पूरी होती है।

ऐसे अद्वितीय व्यक्तित्व पर यदि कोई आरोप लगाता है तो यह उनका न समझ पाने का ही परिणाम है और इस प्रकार की कविता मे किसी परम्परा को ढूँढना तो और भी बडी मूर्खता है, क्योकि वे खुद ब खुद अपना जीवन्त दस्तावेज है, इसीलिए शमशेर बहादुर सिह कहते हैं कि – "इनमे लय, सुर और ताल की बारीकिया न ढूँढो। ये कवियो की भावुकता नही इनमे विचार गुनगुनाते है। इनमे तस्वीर बहुत से जागे हुए होश की है। इनकी अर्थ प्रेम का अकिंचन नही, पैमानो के इशारे नही भीगती रातें, करवटे लेती सुबहो की अगडाइयॉं और कसमकसाते नही। यहॉं देश–विदेश के इमेजों के उलझाव नही। "फरार" नही "इन्किलाब" नही। इनका रोमान दर्दनाक है और आज का है बिल्कुल आज का है और बहुत पुराना भी है।"[105] इस हिदायत के बावजूद भी यदि कोई पारम्परिक अदाज मे इनकी कविताओं की छानबीन करता है तो उसके हॉंथ बटेर ही लगेगी।

दरअसल मुक्तिबोध का जो रचना ससार है, उसका सत्रास है, भयावहता और आतक है, वह स्वय कवि सृजित, नही है। तो, सवाल यह उठता है कि कविता मे जो एक अविश्वसनीय क्रूरता और भयावहता है, उसकी निर्मिति कैसे हुई? क्या वह समाज की देन है? जिसके विकास के साथ–साथ जटिलताओ मे भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। इसी लिए कविताओं में प्रयुक्त "उनकी फंतासियों का यह संसार भयावह और आदिम जैसा है।"[106]

दरअसल आज की अमानवीय भयानकता और अमानवीय वैषम्य का प्रस्तुतीकरण इन्ही आदिम और उलझे हुए बिम्बो से ही सभव हो सकता था। इसके अलावा इनकी प्रस्तुति और किसी भी ढग से संभव ही नही थी।

मुक्तिबोध की कविताएं उस गांइड की भॉंति है जो हमे त्रास के वियावान जगलो मे हमे एकॉंकी घुसने न देकर केवल अगुली के इशारे से ही हिंस्र पशुओं का दर्शन कराते है तथा उनके भयानक और पैने नाखूनों से हमे सर्तक भी रखते हैं। इसका यह मतलब नही कि उनकी कविताओ मे केवल भयानकता ही है, मय ही है संत्रास ही है बल्कि वीराने जगलों की हरीतिमा

जिसमे द्युतिमान कलियाँ भी चटख रही है, भौरे भी गुजाएमान है दूर क्षितिज मे तारे, जो राहगीरो को अपनी शोखी से घेरते से है, भी है।

श्री नरेश मेहता ने मुक्तिबोध के काव्य की बुनावट का केन्द्रीय तत्व "भय"[107] स्वीकार किया है किन्तु केवल यही तत्व ही, उनकी कविता को क्लासिक नही बनाता, मानवीयता के प्रति एक गहरी निष्ठा और करुणा जब वे पाठक को अपने खदबदाते ससार मे प्रवेश कराते है तो ऐसा नही है कि कि उसमे एकदम से उसे झोक देते है बल्कि मानवीय करुणा के रास्ते आहिस्ते-आहिस्ते उस खौलते ससार की ओर कराते है। पाठक को जो बेचैनी होती है वह तो दरअसल उस खदबदाहट से उत्पन्न क्रूर भाप का परिणाम है जिसका हल्का स्पर्श भी मन मे एक वेदना (खीझ) पैदा करती है। आई० ए० रिचर्डस ने 'कल्पनातत्व' की व्याख्या करते हुए कल्पना की जो सर्वोत्कृष्ट गुण माना है वह है – "विभिन्न और विपरीत मनोवेगो और भ्रमणो मे व्यवस्था तथा संतुलन उत्पन्न करना।"[108]

इसीलिए वह करूण नाटक को सर्वोत्कृष्ट काव्य मानता है, क्योंकि इसमे एक साथ ही "करूणा" और "भय" जैसे दो विसवादी भावो का सगम होता है। कहने की जरूरत नही है कि मुक्तिबोधन ने भी परस्पर विरोधी भावो का सयोग करके कविता में एक नई रचनात्मकता का दर्शाया है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि मुक्तिबोध की कविताएं एक अतहीन यात्रा हे जो न तो कही शुरू होती है और न कही खत्म। यही उनकी सबसे बडी कठिनाई है कि रचना रच दिए जाने के बावजूद भी उनके लिए कभी समाप्त नही होती। एक व्यक्ति के रूप मे जिसकी अपने सृजन के कुछ आत्मतोष हो, की तरह मुक्बिोध अपने रचना ससार से कभी बाहर नही निकल पाते – "उनके सृजनात्मक स्वत्व पर उस रचना संसार के जल का भीगापन वैसे ही दूर तक चला आता है जैसा कि जलाशय से नहा कर निकल आने के बाद गीलापन आपके साथ तट तक चला जाता है। इसलिए प्राय उनकी कविताए उलट कर उन्हे ही रचने लगती है। चूँकि यह सिलसिला प्राय बना ही रहता है इसलिए मुक्तिबोध निरतर

भय अथवा असुरक्षा या सामाजिक दबाव मे जीते है। लिखते हैं, फिर लिखते है, फिर जीते हे। वस्तुत मुक्तिबोध और उनके रचनाधर्म का यह ऐसा दुहरा दुष्चक्र है जिससे दोनो एक–दूसरे से मुक्त नही हो पाते। सृजनात्मकता का ऐसा ज्ञातव्य है जो न केवल रचना पर खतम होता है, न रचना कार पर ही।"[109]

प्रो0 राम स्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार – "मुक्तिबोध की रचना हर क्षण बेचैनी और ऐंठन मे से निकलती है। × × × × × × × × × × × × मुक्तिबोध का ठाठ किसी से मिलता है तो सिर्फ कबीर से। वैसी ही बेचैनी और कभी–कभी वैसी ही कोमलता।"[110]

इसमे चतुर्वेदी जी ने मुक्तिबोध की जो तुलना कबीर से की है, वह आकस्मिक नही है, बल्कि बडे ही पते की बात है। जैसे कबीर ने अपनी चरम उपेक्षा को सहते हुए भी सामाजिक विषमता पर कुठाराघात किया था और तत्कालीन स्थितियो मे विद्रोही व्यक्तित्व के प्रतीक हो गए थे, कुछ वैसा ही "बोध" के साथ भी हुआ, अपने सिद्धान्तों की बलि की कीमत पर उन्होने कभी समझौता नही किया, चाहें उसके लिए उन्हें जीवन–पर्यन्त भीषण अनामता ही क्यो न झेलनी पड़ी उनके अबोले और मासूम बच्चो को – "चटाइयों पर पुरानी बरारी साड़ियों के बने बिस्तरों पर कुछ तो भी ओढ़कर लेटना पड़ा। × परन्तु अपनी सुविधाओं के लिए समाज और व्यवस्था के साथ चूल बैठालने की कोशिश मे वह किसी दिन अपना सुदामात्व न लाँघ सके।"[111]

ऐसे विकट आदर्शवादी व्यक्ति (कवि व्यक्तित्व) को समझने के लिए अथवा उसके भाव सवेदन को ग्रहण करने के लिए जिस पात्रता और ग्रहणशीलता की सर्वोपरि जरूर है, वह शायद अधिकाश में नही है। यहाँ एकदम कहा जा सकता है, कि सप्रेषणीयता ही किसी भी कवि या कलाकार

का साहित्य जगत मे मुकाम मुकम्मल करती है और कलाकार की कसौटी भी यही है कि वह जो कुछ कहना चाहता है उसे दूसरो तक पहुँचा सका या नहीं? निश्चय ही सम्प्रेषण द्वारा कवि और पाठक के बीच द्वैत समाप्त होता है, और वे दोनो ही एक ही धरातल पर स्वय को उपस्थित पाते हैं। किन्तु इसमे एक बड़े शर्त की भी गुजाइस है, वह शर्त है, पाठक की पात्रता या ग्रहणशीलता की। दरअसल सम्प्रेषण की विफलता का प्रश्न भी पाठक की अनुभूति और कवि की अनुभूति के द्वैत से ही जुडा है। तो यदि सामयिक स्थिति मे मुक्तिबोध की कविताओ को "क्लिष्ट" या "असम्प्रेषणीय" या "पल्ले न पड़ने वाली" जेसी तारीफो से नवाजा गया या जा रहा है तो उसका केन्द्रीय तत्व है पाठक का सुविधाभोगी और समझौता परस्त होना जाहिर है कि वह अपने स्वभाव के अनुसार – या श्रोता या पाठक वर्ग की बात कवि नही कह पाता, क्योंकि उसे इन सिद्धान्तो से सख्त नफरत है। यहाँ कह दिया जाय कि जिन ज्ञात या अज्ञात कारणो से साहित्य के क्षेत्र से कबीर को, निराला को खारिज़ किया गया, वे ही लोग (उसी प्रकार की मानसिकता वाले) मुक्तिबोध को भी सरस्वती के आँगन से ढकेलना चाहते थे।

दरअसल मुक्तिबोध का सम्पूर्ण कृतित्व – "जिन्दगी की असलियत को पहचानने"[112] का एक अनुक्रम है। एक ऐसी जिन्दगी जिसमे "विरूद्धो का सामञ्जस्य" विद्यमान है। "बेरहम पर साथ ही साथ आत्मीय इतनी उजाड पठार जैसी फिर भी रसवन्ती"[113] उन्होने घुप्प अंधरो के बीच उजाले की एक झीनी किरण का भी स्वागत किया और हर हालत मे उस टिमटिमाते प्रकाश, जो कि मानवीय क्रूरताओ, विद्रूपो की घटाघोप मे बरबस छुपाना ही चाहता है, को बचाने का भरसक प्रयास ही उनकी काव्य यात्रा का केन्द्रीय पडाव है। उन्होने अपनी कृतियो के माध्यम से उस समस्त कुचक्रो और चालाक पाखडो का पर्दाफाश किया जो कि अंधेरे का ही प्रभुत्व मानवता को कोठरी मे कायम कर देना चाहते है।

यहॉ एकदम कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध अपने आप मे तो अद्वितीय तो थे ही सारी हिन्दी जातीयता मे भी वह पहले विरले कवि व्यक्तित्व थे जिन्होने अपनी रचनाओ मे मानव–अस्तित्व से सम्बन्धित बुनियादी सवालो को छुआ, जिस दुनिया मे असमानता पोर–पोर विद्यमान है। वहॉ आह्लाद के गीत वही गा सकता है जिसकी आत्मा मर चुकी हो। कहते है कि –

"यदि नही लिख पा रहा हूँ गीत आशा के अभी
शीत रोमाचो भरे यदि बात भाषा के अभी
यो नही प्रत्यूष की मुग्धा ललाई मे उभर –
कर लाल, होते गाल मेरी बात के – जी से अगर
तो दोष तुम्हारा है।"[114]

शोषण, उत्पीडन, क्रूरता, हिसा से भरी इस दुनिया में इन्सान की ताकत का बेबाक नित्रण और इनका अतिक्रमण करके मानव–मुक्ति की बात वही कर सकता है जिससे – "जिन्दगी शर्म की सी शर्त नामन्जूर"[115] कर दी हो। इसीलिए मुक्तिबोध के काव्य को नेमि चन्द्र वेन द्वारा – "मानव आत्मा की तलाश और उसकी जय यात्रा"[116] कहना अधिक युक्तसगत जान पडता है।

पाश्चात्य काव्य शास्त्री लोजाइनस ने कहा है कि – "उस कवि की कृति महान नही हो सकती है जिसमे महान भावो को धारण करने की क्षमता नहीं है यह सम्भव नही है कि जीवन भर तुच्छ उद्देश्य और विचारो से ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एव अमर रचना कर सके। महान शब्द उन्ही के मुख से निस्सृत होते है जिनके विचार गम्भीर और गहन हो।"[117]

स्पष्ट रूप से उन्होने "महान रचना" के लिए कवि या कलाकार का "महान उद्देश्य" से सम्पन्न होना अपरिहार्य मानते है। क्योंकि जिसके उद्देश्य जितने ही तुच्छ, और सतही होंगे उनकी रचना मे उतनी ही नीरसता और शैथिल्य भी होगी। लोजाइनस जिसे अपरोक्ष रूप से महान उद्देश्य

बताते है मुक्तिबोध उसे ही "सवेदनात्मक उद्देश्य" कहते है, जो किसी भी कला के के प्रेरक तत्व हैं। वे उसी को काव्य का "प्रधान श्रम" मानते हुए कहते है कि – "लेखक, जो कि अपनी सवेदनात्मक क्षमता से साहित्य–सृजन करता है, वह सवेदनात्मक उद्देश्यो से परिचालित होता है। वह अपनी अभिव्यक्ति का पैटर्न भी सवेदनात्मक उद्देश्यो के आधार पर बनाता है। दूसरे शब्दो मे – "सवेदनात्मक उद्देश्य एक ओर आत्म चरित्रात्मक होते है तो दूसरी ओर वे एक विशेष प्रकार का कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अभिव्यक्ति का एक विशेष पैटर्न गूँथते है, तो तीसरी ओर, सवदेनात्मक उद्देश्य अपने धक्के से हृदय मे स्थिति जीवनानुभवो अर्थात् ज्ञानात्मक सवेदन और सवेदनात्मक ज्ञान को जागृत और सकलित करके उन्हे अपनी दिशा मे प्रवाहित करते है।"[118]

रचना रूप से सवदेनात्मक उद्देश्यो का कार्य सृजन के प्रारम्भ से लेकर अत तक अनुस्यूत है। संवदेनात्मक उद्देश्यो का एक कार्य जो मुक्तिबोध ने "कलात्मक प्रभाव उत्पन्न" करना माना है। उसका सम्बन्ध काव्य की सप्रेषणीयता से कही गहरे जुड़ा हुआ है, क्योंकि काव्य का कुल उद्देश्य जहाँ कवि के आत्म विस्तार को दिलाना है वहीं पर उसके आत्म औचित्य को प्रतिष्ठित करना भी है। इन्ही कलात्मक उद्देश्यो को ठीक से न समझ पाने के कारण मुक्तिबोध की कविताओ पर चौतरफा हमले हुए जिसका कुल उद्देश्य मुक्तिबोध के अनुसार – "उस काव्य प्रवृत्ति को समझना नही था बस उससे सघर्ष करके उसे नष्ट कर देना था।"[119]

तथाकथित प्रगतिशील तमाम आलोचकों को यदि मुक्तिबोध की कविता मे "ऊँट–पटाँग" बातों के अलावा कुछ भी नज़र यदि नही आया तो उसकी प्रमुख कारण – "अपने–अपने सिद्धान्तो की तर्कव्यवस्था के ऊँचे आयवसी टावर पर बैठे हुए, बनते हुए साहित्य को देखते है। वहाँ से उन्हे आदमी छोटा नजर आता है। इसलिए वे अरूचि और विरक्ति से अपना मुँह फेर लेते है।"[120]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस जगत के "अनन्त–रूपात्मक" मानते

हुए तद्नुसार – हृदय की भावनाओ को "अनेक भावात्मक" माना है, तथा कविता को "बाह्य प्रकृति" के साथ मनुष्य की "अन्त प्रकृति" का सामञ्जस्य कहा है। मुक्तिबोध भी इसीलिए कला को – "बाह्य का आभ्यतरीकरण" और आभ्यतर का बाह्यीकरण का एक निरन्तर चक्र।"[121] ममत्व है जो उनकी वैचारिकता को परम्परा की दृढ भित्ति प्रदान करता है।

डॉ0 परमानन्द श्रीवास्तव ने ठीक ही कहा है कि – "जिन शास्त्रीय समीक्षको की रुचि रीतिकालीन सस्कारो से आगे नही बढ पायी है, वे ही मुक्तिबोध की कविता को कलाहीन बता रहे है।"[122] और जिन्हे – "अज्ञेय जैसे कवि का समर्थन प्राप्त है, जिनकी दष्टि मे मुक्तिबोध की शायद ही कोई कविता सरचना की दृष्टि से सम्पूर्ण हो, शायद ही किसी मे सघन सरचनात्मक गठन दिखाई पडे।"[123]

"कविता क्या है?" नामक निबन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पाठक वर्ग को कवि वर्ग से जोड़ते हुए दो वर्गों में विभाजित किया है, एक तो "तमाशबीन" जो – "भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते है" दूसरे "भोगलिप्सु" "जो केवल प्रफुल्ल–प्रसून" के प्रसार के सौम्य–सस्कार, मकरन्द लोलुपा, मधुर गुञ्जार, कोकिल कूलित निकुञ्ज, और शीतल सुख–स्पर्श मर्यार" इत्यादि की चर्चा करते हैं।"[124]

तो, जो मुक्तिबोध की कविता में निराशा अनास्था और वैकल्य ही देखते हैं, वे शुक्ल जी के अनुसार, "तमाशबीन" है और जो अपने दुराग्रहों के कारण उनकी कविता मे फैले हुए मीठे–पठारपन को उसकी भव्य नीरवता को भग करके अपनी की कविता ही लिखवाना चाहते है, उनको भोगलिप्सा ही कहा जाएगी उनको शायद मालूम नही कि – "बजर कवि स्याह पहाड़ मे भी एक अजीब वीरान भव्यता होती है, गली के अंधेरे मे अग छोटे–छोटे से जगली पौधे मे भी एक विचित्र मेस्केत होता है।"[125]

संप्रेषणीयता की समस्या दरअसल पाठक वर्ग की बनाई हुए एक आम राय कि – "कविता को सरल होना चाहिए" से बहुत गहरे जुड़ी है। जो कविता

को "सरलता" या क्लिष्टता" के खाचो मे अटाना चाहते है। किन्तु यह कितनी मोटी सोच है और इसी अबोध कसौटी पर कला के प्रभाव का आकलन किया जा रहा है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि वृहत्तर जनता तक यदि कवि की कविता नही पहुँच पा रही है तो क्या इसके लिए कवि ही जिम्मेदार है अथवा वे समाजार्थिक परिस्थितियाँ भी जिम्मेदार है जिनके दबाव के कारण पाठक और कवि, श्रोता और कवि तथा दर्शक और कला के बीच गैप पैदा हो गया है। यहाँ एकदम कहा जा सकता है कि आज जबकि पाठक या श्रोता मनोरजन की तत्परता या तत्पर मनोरञ्जन को ही कला के सद्य प्रभाव से जोडता है तो निश्चित रूप से इस प्रकार के समाज मे कविता की प्रेषणीयता के सम्बन्ध मे तत्पर मनोरञ्जन को स्थान दिया ही जाएगा। जो कि कविता के भावी विकास के लिए आत्मघाती सिद्ध होगा।

मुक्तिबोध ने कलात्मक स्तर पर – "कवि की सवेदन क्षमता कल्पना की सश्लेषण शक्ति और बुद्धि की विश्लेषण शक्ति।"[126] एकतानता की जो बात की है यदि उसमें से एक भी भुजा का व्यतिकरण हुआ तो कविता मे निश्चित ही शिथिलता उत्पन्न होगी जो कि सप्रेषणीयता मे अवश्य ही बाधा पहुँचाएगी। अत कविता मे सम्प्रेषणीयता का सवाल कविता की सृजनात्मकता से अलग नही है।

सारे लोग जानते है कि अच्छी कविता के साथ खराब कविता बराबर लिखी जाती है। उसके निकट जाने वाले पाठकों की अपनी रूचि क्षमता और ग्रहणशीलता का फर्क भी साधारण नही होता। इसलिए भी सप्रेषण का कोई सरल नियम निश्चित करना सम्भव नही है।

मुक्तिबोध के द्वारा कविता मे ये घोषणा करना कि –

"जिन्दगी की, मन की
तस्वीरे फिलहाल नही बना पाएँगे

अलबत्ता पोस्टर हम लगा जाएँगे

हम धधकाएगे

मानो या न मानो इस नाजुक घडी मे

चन्द्र है सविता है/पोस्टर ही कविता है।।"[127]

यह उसी सामाजिक स्थिति की ओर सकते है जिसमे कभी रीति-कालीन काव्य" और "राष्ट्रीय सासकृतिक भाव सम्पन्न छाया वादी" काव्यो की स्थापना की गई थी।

एक सवाल यह भी उठता है कि यदि देश मे कभी क्रांति के आसार हो ही जाए (जो होगा ही) तो कविता क्या वाकई "पोस्टर" हो जाएगी? उत्तर है हाँ। तब सौन्दर्य का क्या होगा? तब सौन्दर्य के प्रतिमान बदल जाएगे और नवीन सामाजिक मूल्यो से नवीन सौन्दर्य सम्पन्नता जाग्रत होगी।।

XXXXXXXXX

(घ) <u>काव्य जीवन की पुर्नरचना</u> – लगभग सन् 50–52 के बीच मुक्तिबोध ने "कामायनी" पर एक लम्बा सा लेख लिखा था – "कामायनी कुछ नए विचार" जो सन् 52 मे "हस" मे छपा"[128] और फिर बाद मे उसी का कुछ परिवर्द्धित रूप "आलोचना" मे भी उसी समय ही छपा। इसी क्रम में जो पूरी किताब उनके द्वारा लिखी गई वह "कामायनी एक पुनर्विचार" के रूप में है। इसी पुस्तक मे "कामायनी" को एक "फैटेसी" मानते हुए उन्होने साहित्य के विषय मे एक सूत्र दिया वह यह कि – "कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुर्नरचना है।"[129] इस काव्य खण्ड मे एक कवि, लेखक और विचारक की व्यक्तित्व झॉक–झॉक उठता है। इसमे जो तीन पते की बाते हैं वे क्रमश स्वानुभूत जीवन, कल्पना और पुर्नरचना (पुनर्सृजन)

प्रश्न उठता है कि "स्वानुभूत जीवन" क्या है? जीवन तो पहले और अतत भी जीवन ही है तो उसमें "स्वानुभूत" का क्या मतलब है? किसी भी व्यक्ति मे जीने और भोगने की नियति के साथ–साथ दृश्य भाव भी पाया जाता है, वही दूसरा भाव ही जिए या भोगे गए जीवन का जो मनन करता है वही "स्वानुभूत जीवन" है। मुक्तिबोध ने जीवन को "त्रिकोणात्मक" माना है जिसकी किसी भी भुजा या एंगिल को छोड देने पर जीवन की व्याख्या सतही हो जाएगी। अत जीवन को समग्रता से "वाच" करने के लिए तीनों ही भुजाओ की महती भूमिका को समझना होगा। मुक्तिबोध ने इस त्रिकोणात्मक जीवन की पहली भुजा "वर्ग जगत" दूसरी भुजा व्यक्ति की "अन्तरंग जीवन" और तीसरी भुजा जो कि उपरोक्त दोनो भुजाओ को दृढ़ आधार प्रदान करती है वह – "हमारी अपनी चेतना है।" किन्तु इस मुगालते में न पड़कर कि "चेतना" ही सबसे महत्वपूर्ण भुजा है, यह समझना चाहिए कि – "चेतना उपुर्यक्त दो भुजाओ के बिना अपना स्वरूप और आकार ही स्थापित नही कर सकती।"[130] यदि इनमे से कोई भी एक भुजा लुप्त हुई तो चेतना का कोई मतलब नहीं है। यह बात इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए काफी है कि हमारा अन्तर्मन बाह्य परिवेश और परिस्थितियो से आवयविक सम्बन्ध रखता है और इसी के संयुग्म से ही हमारा जीवन बनता है।

हालाकि समाज को एक झटके मे व्यक्तियो का समूह कह दिया जाता है किन्तु यदि समूह मे रह कर भी कोई किसी से मतलब ही न रखे तो क्या उसे भी समाज कहेगे? शर्तिया नही। क्योंकि – "समाज रेत का वह ढेर नही जिसमें का प्रत्येक कण एक–दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए भी एक–दूसरे से विलग और स्वतन्त्र रहता है। समाज एक वृक्ष की भाँति है, जिसका प्रत्येक मार्ग, प्रत्येक अश, प्रत्येक कण, प्रत्येक बिन्दु एक दूसरे से और अपने पूर्ण अखड से अव्यवस्थित सम्बन्ध रखता है।"[131]

इसलिए क्योंकि यदि शाखाए जडो से जुड कर, तने से जुड़ कर पत्तियो से जुड कर जीवन–रस नही खीच पाएगी तो वे मुरझा जाएंगी। अत व्यक्ति का समाज मे एक दूसरे से जुड़ाव उनकी जिजीविषा प्राप्ति का एक साधन है।

तो जिस "स्वानुभूत जीवन" की बात की जा रही है उसका गहरा सम्बन्ध हमारे "अन्तरग जीवन" से है क्योंकि बचपन से ही व्यक्ति अपने परिवेश से क्रिया–प्रतिक्रिया करते हुए घातो–प्रतिघातो में डूबते–उतराते हुए इसका निर्माण करता है। इसे व्यक्तित्व निर्माण भी कहा जा सकता है। जिसमे सस्कार का बहुत बड़ा रोल होता है। ये सस्कार भी उसे बाह्य से ही प्राप्त होते है। असल मे बचपन मे ही समाज की विकृतियाँ और विद्रूपो को देखकर बालक के मन में एक गहरी भावना घर लेती है। उसी समय से उसे कुछ मूल्यवान और कुछ स्वत ही निर्मूल्य लगने लगता है, क्या मूल्यवान है और क्या निमूर्ल्य है। इसकी पैमाइश समाज सापेक्ष ही की जा सकती है। क्योंकि व्यक्ति के विकास मे परिवार का एक रोल तो होता ही है, जिसमे रहकर व्यक्ति अपने बचपन से ही अच्छाइयाँ या बुराइयो की ओर झुकता है। चूँकि मानवीय पहलू सार्वभौमिक और एकतान होते हैं। अत उसमे इस गुंजाइश से इकार किया जा सकता है कि एक के लिए जो मूल्यवान हो वह दूसरों के लिए निर्मूल्य हो। (यदि वह वास्तव मे मानवीयता से परिपूर्ण हो)। इसी वजह से मुक्तिबोध मूल्यो की बात को कवि सस्कार से जोड़ते हुए कहते है कि – "यदि उसके संस्कार बुरे हैं तो निश्चय ही उसकी

मूल्य दृष्टि भी विकृति होगी।"[132]

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि स्वानुभूत जीवन मे एक साक्षी भाव होता है। जिसके कारण व्यक्तियो (कवि–कलाकार) इसके वक्त निज भोगे गए जीवन ही स्वानुभूत मे नही आते, बल्कि ऐसे भी लोगो की जिन्दगियाँ है जिसको लेखक स्वय न भोगते हुए भी दृष्टाभाव के कारण उसमे अपनी सार्थक पैठ रखता है। स्पष्टत यह जीवन आत्मचरित ही हो, यह गैर जरूरी है, लेकिन कला मे प्रयुक्त चरित्रो को और अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए आत्म सस्पर्श जरूरी है। लिखते है कि – "यह आवश्यक नही है कि जिया और भोगा गया जीवन कवि का अपना नितान्त व्यक्तिगत जीवन हो। किन्तु उसकी कलाकृति मे वास्तविक का साक्षात्कार और आत्मचरित्रात्मक सस्पर्श तो होना ही चाहिए।"[133]

दरअसल यही स्वानुभूत जीवन ही आगे कला की दिशा तय करता है, क्योंकि कलाकार जिस वर्ग या समाज मे अपनी सन्निधि क्या करता है कि मुशी प्रेमचद के पात्र – इतने सजीव दिखाई पडते हैं जिनको पढकर पूरे उत्तर भारतीय निम्न मध्यम वर्गीय अच्छाइयो–बुराइयो से दो चार हुआ जा सकता है। इसका कारण केवल चरित्रो मे मनोवैज्ञानिक ढग से आत्म सस्पर्श ही है, इसीलिए मुक्तिबोध उनको हिन्दी रचना का पहला और अतिम जनतांत्रिक कलाकार मानते है। और समकालीन कथा साहित्य से उनकी तुलना करते हुए कहते हैं कि– "आज का कथा साहित्य पढकर, पात्रो की प्रतिच्छाया देखने के लिए हमारी ऑखे आस–पास के लोगो की तरफ नही खिंचती। कभी–कभी तो ऐसा लगता है, कि जैसे पात्रो की छाया ही नही गिरती, कि वे लगभग देहहीन हैं। × × × × × × × × × × × × × × प्रेमचद के बाद्य एक भी ऐसे चरित्र का चित्रण नही हुआ जिसे हम भारतीय चेतना का प्रतीक कह सके।"[134]

संक्षेप मे यह कि समकालीन कथा साहित्य के चरित्रो मे उस मनोवैज्ञानिक यथा सर्वथा अथाव है जो उन्हे एक चरित्र होने से रोकता है। यहाँ एक दम कहा जा सकता है कि "स्वानुभूत जीवन" ही नही बल्कि पूरी ईमानदारी से

जिया गया या आत्मसात किया गया जीवन ही यथार्थ–चरित्रो का सृजन कर सकता है।

मुक्तिबोध स्वानुभूत जीवन को कलाकार की ईमानदारी से जोडते है तथा कहते है कि – "हमारे साहित्य चिन्तन या कलात्मक सृष्टि का विकास तभी होगा जब हम वास्तविक जीवन मे व्यापक तथा विविध जीवनानुभवों से सम्पन्न होगे तथा हम विक्षुब्ध उत्पीड़ित जनता (मानवता) के (वायवीय नही, पूर्ण) आदर्शों से एकात्म होंगे।"[135]

यहाँ स्पष्ट रूप से उनका मानना है कि "ईमानदारी" और वास्तविक जीवन का अन्त सम्बन्ध जितना ही प्रगाढ़ होगा, साहित्य की गति ठीक दिशा मे उत्तरोत्तर वृद्धि करेगी।

यो तो "ईमानदारी" का प्रयोग कविता मे लगभग हर युग मे ही होता आया है, किन्तु मुक्तिबोध द्वारा मुक्तिबोध द्वारा ग्रहीत अर्थ अपने पूर्वयुगीन अर्थों से कई अर्थों मे भिन्न रही है। "छायावादी कहे जाने वाले हिन्दी के पहले रोमाटिक कवियो ने भी अपनी अनुभूति की ईमानदारी का दावा किया था। छायावादी "स्वानुभूति" ईमानदारी नहीं तो क्या थी?"[136]

उत्तर छायावाद में भी बच्चने ने इसी "ईमानदारी" की बात की और "अपनी ईमानदारी प्रमाणित करने के लिए दिल खोल कर "अपनी" कमजोरियो का बखान किया।"[137]

कहना न होगा कि अपनी कमजोरियो को बेबाक कहना चाहे वे वास्तविक रूप से न ही हो, एक ईमानदारी ही है किन्तु इसमे शक की गुंजाइश बराबर बनी रहती है। रघुबीर सहाय ने "ईमानदारी वास्तव मे एक मौलिक गुण है, और उस बौद्धिक स्तर का पर्याय है जिस पर आकर हमारा तर्क पूर्वाग्रह और व्यक्तिगत रूचि के ऊपर उठ जाता है, और जिन पर आकर हमसे वस्तुओ की वास्तविकता का सही अनुभव होता है। वह उस चेतना के पहले की चीज है जो ज्ञान

को क्षेत्रो मे विभाजित करती है। जैसे ज्ञान समस्त एक है, वैसे ही ईमानदारी भी समस्त एक है।"[138]

इस ईमानदारी को मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त "ज्ञानात्मक–सवेदन" और "सवेदनात्मक ज्ञान" से काट कर नही देखा जा सकता क्योंकि रघुवीर सहाय के अनुसार यह चेतना के पहले की चीज है, और चूँकि चेतना के बाद की चीज विभिन्न क्षेत्रो मे विभाजित होती है अत उन्होंने इसमे (ईमानदारी) बुद्धि और हृदय का द्वैत अस्वीकार करके एक अखड और अविभाज्य चेतना के स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है तो ईमानदारी का जो सर्वोत्कृष्ट कार्य है वह है, "वस्तुओ की वास्तविकता का सही अनुभव।"

मुक्तिबोध "व्यक्तिगत ईमानदारी" तथा "कलात्मक ईमानदारी" मे फर्क करते हैं, क्योंकि कभी–कभी कलात्मकता के क्षण हृदय के वास्तविक द्रवण के क्षण नहीं होते। इसी को वे लेखक का "फ्राड" कहते है जो दूसरो की निगाह में "कौशल" भी हो सकता है। जिसमे कलात्मक ईमानदारी का शायद ही निर्वाह किया गया हो। लिखते है कि – "कविता मे कहाँ कितना फ्राड होता है, यह मै जानता हूँ। फ्राड को आप कौशल भी कह सकते हैं। नई कविता का कवि बहुत सचेत है, वह काफी फ्राड करता है। दूसरे शब्दो मे यह आवश्यक नही है अर्थात् यह अनिवार्य नही है कि काव्य की वास्तविक रचना का क्षण, युगपत रूप से, हृदय के द्रवण चित्त की रसात्मकता का भी क्षण हो।"[139]

रघुवीर सहाय के द्वारा "ईमानदारी" को चेतना के पहले की चीज घोषित करना, मुक्तिबोध से अद्भुत साम्य रखती है, क्योंकि वे भी "सचेतावस्था" और "फ्राड" में आगिक देखते है। कलाकार की इस ईमानदारी पर मुक्तिबोध ने "एक साहित्यिक की डायरी" में कायदे से विचार किया है। चूँकि इनकी शैली "डायरी शैली" है और डायरी किसी भी व्यक्ति की अभिन्न निजी दस्तावेज भी होती है, अतः उसमे आयी हुई किसी भी बात को बिलाशक सत्य माना जा सकता है। "कलात्मक ईमानदारी" से दूर वे "काव्यगत ईमानदारी" को

व्याख्यायित करते हुए लिखते है कि – "जिस अनुपात मे, जिस मात्रा मे जो भावना या विचार उठा है उसको उसी मात्रा मे प्रस्तुत करना, किंतु कला के सृजन मे इसे "एकदम नाकाफी" मानते हुए कहते है कि व्यक्तिगत ईमानदारी तब तक बेमतलब है जब तक कि – वे भाव या वह विचार किसी वस्तु–तथ्य से सुसगत है या नहीं। इसलिए – "व्यक्तिगत ईमानदारी वहाँ लक्षित होगी जहाँ वस्तु का वस्तुमूलक आकलन करते हुए लेखक उस आकलन के आधार पर वस्तुतत्व के प्रति सही–सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। यदि वह ऐसा नही करता तो उसकी प्रतिक्रिया मे सत्यत्व का आविर्भाव नही होगा।"[140]

रूप से वे वस्तु के वस्तुमूलक मूल्यांकन का आग्रह करते हुए प्रकारान्तर से कविता के यथार्थ पर बल देते है तथा भावना को ज्ञानात्मक आहार मे पुष्ट करने की बात करते है। कहते हैं कि – "भावना की ज्ञानात्मक आधार जब तक वस्तुत शुद्ध है तभी तक वह भावना फ्राड नहीं है। × × × × × × × × × × × × × इस लिए ज्ञान को अधिकाधिक मार्मिक यथार्थमूलक और विकसित करने का जो सघर्ष है वह वस्तुत कलाकार का सच्चा धर्म है। यदि कवि या कलाकार वह सघर्ष त्याग देता है तो वह सचमुच ईमानदार नही है। सच तो यह है कि व्यक्तिगत ईमानदारी के भीतर ही एक बहुत बड़ा सघर्ष होता है। दूसरे शब्दो मे कला के क्षेत्र मे व्यक्तिगत ईमानदारी स्वय सिद्ध नहीं वरन् प्रयत्न–साध्य होती है।"[141]

दरअसल यही ईमानदारी तो उनके लिए अभिव्यक्ति सम्पदा है जो "कवि की सवेदन क्षमता, कल्पना की सश्लेषण शक्ति और बुद्धि की विश्लेषण शक्ति"[142] के परस्पर सयोग से ही प्राप्त की जा सकती है। यदि इसमे से कोई भी पक्ष कमजोर हुआ, रचना मे न केवल शिथिलता आएगी, बल्कि उसमे एक विशेष किस्म की कृत्रिमता आ जाएगी जैसे – छायावादी काल में। जिसे देखकर आचार्य द्विवेदी को झुँझला कर कहना पड़ा था – "इनके भाव झूठे इनकी भाषा झूठी" तथा आचार्य शुक्ल ने बिना टिप्पणी किए नहीं छोड़ा – "भावानुभूति तक कल्पित होने लगी है।"[143]

कहने का मतलब है कि स्वानुभूति का बगैर ईमानदारी के अभिव्यक्तिकरण खतरनाक होता है। दूसरे शब्दो मे स्वानुभूत जीवन ईमानदारी के बिना स्पन्दनहीन, देह के समान है। यह स्वानुभूत जीवन एक विशिष्ट जीवन है। जीवन की पुनर्रचना की प्रक्रिया के दौरान मे इस विशिष्टता को कवि ने सामान्य मे स्थान्तरित किया है। अब प्रश्न यह है कि इस "सामान्य" की उत्पत्ति काव्य मे कैसे होती है? दरअसल जिए और भोगे जाने वाले जीवन से पुनरर्चित जीवन की जो सारभूत एकात्मकता है, उस एकात्मकता के आधार पर ही विशिष्ट मे सामान्य की झलक मिलती है। पुर्नरचित जीवन से वास्तविक जीवन का जो अलगाव है, उस अलगाव द्वारा सामान्य की उत्पत्ति नही हो सकती। इसके विपरीत वास्तविक जीवन से पुर्नरचित जीवन का जो सारभूतात्मक अभेद है उससे ही सामान्य की उत्पत्ति हो सकती है। "रचना प्रक्रिया" नामक निबन्ध जो दो खण्डो मे है, जीवन के तीव्र उत्कट क्षणो को काव्य का प्रथम क्षण मानते हुए स्वानुभूत जीवन की व्याख्या बच्चे के विकासमय चरित्र के माध्यम से किया गया है।

फैटेसी विवेचन के क्रम मे मुक्तिबोध ने फैटेसी को काव्य की आत्मा और "अनुभव की कन्या" के रूप मे परिभाषित किया है।"[144]

उद्‌भव की व्याख्या मुक्तिबोध इस प्रकार से करते है – "मनुष्य के हृदय मे सचित जो अनुभव होते है, उनका एक क्षण आभ्यांतर और दूसरा क्षण बाह्यगत होता है। अनुभव में जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वह अनुभव का आत्मपक्ष है। अनुभव के अन्तर्गत जो बिम्ब, भाव और विचार प्रस्तुत होते है, वे बाह्य के सपादित सशोधित रूप है।"[145]

दूसरे शब्दो मे – "हमारी भाव सम्पदा, ज्ञान सम्पदा, अनुभव, समृद्धि उस अर्न्ततत्व की अवस्था ही का अभिनन अग है कि जो अन्तर्तत्व व्यवस्था हमने बाह्य जीवन–जगत के आभ्यन्तरीकरण से प्राप्त की है।"[146] काव्य की परिभाषा मे "स्वानुभूति" शब्द के प्रयोग से अन्तर और बाह्य का संघर्ष दिखाया है।

****

<u>कल्पना</u> – काव्य रचना प्रक्रिया में "कल्पना" तत्व की आवश्यकता को पाश्चात्य और भारतीय काव्यशास्त्रियो तथा काव्यवादी और यथार्थवादी विचारको ने भी स्वीकार किया है क्योंकि काव्य को उसकी जीवन्तता और नैतिकता प्रदान करने के लिए कल्पना तत्व की महती भूमिका को अलक्षित नही किया जा सकता।

इस शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत के "कल्टप" धातु से हुयी है जिसका अर्थ है – "सृष्टि करना"। स्वर्ग के कल्प वृक्ष की भॉति कल्पना भी मनचाही परिस्थिति उत्पन्न कर देती है। कल्पना को अग्रेजी मे Imagination कहा जाता है जो कि Image या "मानसिक चित्र" से बना है। कल्पना प्रसूत चित्र वैकल्पिक होते हैं। अर्थात् कल्पना के सहारे कोई भी कवि या लेखक किसी भी सामाजिक स्थिति के भूत और भविष्य को देख सकता है, बता सकता है। कलपनापरकता प्रत्येक साहितय में होती है, चाहे वह अपने पूरे कलेवर मे घोर यथार्थवादी ही क्यो न हो। अत. उस साहित्य के अनुशीलन से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारा भविष्य कैसा होगा और हमारा विगत कैसा था। होता यह है कि जब हम अपने वर्तमान को ही अर्थात् जो हमारा यथार्थ है, को सजोने का प्रयास करते हैं तो उसी समय हमे यह मालूम होने लगता है कि हमारा भविष्य क्या होगा जब कि वर्तमान अर्थात् यथार्थ बहुत कुछ "पास्ट" से भी परिचालित होता है। अत यह कहा जा सकता है कि चूँकि वर्तमान से ही आगत और विगत दोनो लिपटे रहते है अत कल्पना कोई ऐसी हवाई या बेसिर पैर की चीज नहीं है जिसमें यथार्थ का पुट न रहता हो, इसको तब और गहरे महसूस किया जा सकता है जब कि वर्तमान ही हमारा यथार्थ है और यथार्थ ही हमारा वर्तमान है। इससे यह सिद्ध होता है कि कवि लोग जिन नवीन सी लगने वाली वस्तु व्यापारो को खड़ा करते है वह यथार्थ अर्थात् पूर्व देखे गऐ के ही आधार पर होता है। इसको दूसरे शब्दो में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि, कल्पना का कार्य मूलत प्रत्यक्ष देखे या जाने वाले पदार्थों के आधार पर ही नवीन वस्तु–व्यापार विधान खडा करना है। कल्पना कवि को अपार शक्ति और क्षेत्र प्रदान करती है। वह जगत के समस्त पदार्थों

का उपयोग मनोनुकूल काव्य गढने मे कर सकती है। कल्पना के ही सहारे कवि नूतन सृष्टि करके "सर्जक या सृष्टा पद को प्राप्त करता है। इस कल्पना का प्रयोग वह बहुत ही सावधानी से करता है, क्योंकि वह ऐसा करने को विवश है। यदि उसने कल्पना को केवल खिलदडापन दिखाया या हवाई उडान की सोची तो निश्चय ही वह धम्म से जमीन पर ही गिरेगा। इस चीज़ का सबसे बुरा परिणाम जो कविता पर होता है, वह उसका जनसामान्य से कट कर रह जाना। क्योंकि यदि किसी भी कवि ने "दूर की कौड़ी" को कल्पना के सहारे लाने का प्रयास भी किया तो उसमे वह "अभ्यतर प्रभाव साम्य" आने से रहा जो कि किसी भी कविता का प्राणवायु हो, जिसका परिणाम होता है कि कविता को "कवि समझे या खुदा समझे"। सक्षेप में कहना यह है कि कल्पना करते वक्त भी कवि को अपने पाँव मजबूती से ज़मीन पर टिकाए रहने चाहिए। क्योंकि हम जिसको कल्पना कहते है वह कोई ऐसी अनूठी चीज न होकर यथार्थ से प्राप्त और यथार्थ को ही सजोने तथा संवारने का नजरयिा है। इस चीज को और भी स्पष्टता से एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है हम जिस चीज या वस्तु को कभी नहीं देखे है उसका बिम्ब हमारे दिमाग मे आएगा कैसे? स्पष्ट रूप से देखी गई चीजो के आधार पर ही हम तद्वत किन्तु उससे भी अच्छी चीज की एक मानसिक बुनावट करते है जिसको कल्पना–चित्र कहा जा सकता है, डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी ने इसी को "वितर्थीकरण"[147] कहते हैं तथा मानते है कि कल्पना हम वितथीकरण के द्वारा ही करते है – "जब हम उडने की कल्पना करते हैं तो खुद को पक्षियों की जगह रख देते है बस।"[148] इसीलिए जैसे–जैसे हमारे ज्ञान का प्रसार होता जाता है, वैसे ही हमारी भावना का प्रसार भी होता रहता है। तद्वत हमारी कल्पना भी अनेकानेक विस्तृत रूपो को प्राप्त करती है। मुक्तिबोध ने केवल कल्पना का ही नाम नही लिया है, बल्कि "विधायक कल्पना" का नाम किया है वे लिखते है कि – "साहित्यिक कलाकार, अपनी विधायक कल्पना द्वारा, जीवन की पुर्नरचना करता है। जीवन की यह पुर्नरचना ही कलाकृति बनती है। कला में जीवन की जो पुर्नरचना होती है, वह सारत उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, कि जो

जीवन इस जगत मे वस्तुत जिया या भोगा जाता है – लेखक द्वारा अथवा अन्यो द्वारा।"[149]

अर्थात् कल्पना वह माध्यम है जिसके द्वारा रचनाकार जीवन की पुर्नरचना प्रस्तुत करता है, और चूँकि इस कल्याण को सवेदनात्मक उद्देश्य परिचालित करते रहते है अत कहा जा सकता है कि सवेदनात्मक उद्देश्य ही जीवन की पुर्नरचना प्रस्तुत करते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी दो प्रकार की कल्पना का उल्लेख किया है –

(1) विधायक कल्पना (जो कवियो मे पायी जाती है)
(2) ग्राहक कल्पना (जो पाठक वर्ग मे पायी जाती है)

इस सन्दर्भ मे शुक्ल जी ने जो महत्व की बात की है वह आज की साहित्यिक समकालीन समस्या "सम्प्रेषण की समस्या से काफी गहरा तादात्म्य रखती है। जब वे पाठक या श्रोता के लिए भी कल्पना (ग्राहक कल्पना) की बात करते है तो जैसे उन्हें कविता का वह भविष्य भी मालुम था कि आगे आने दिनों मे किस तरह साहित्य असम्प्रेषणीय हो जाएगी। और आज जबकि "सेटेलाइट कल्चर" ने दर्शक या पाठक को "सद्य " मनोरञ्जनार्थ ही साहित्य का एक उद्देश्य सिद्ध सा कर दिया है तो पाठक की ग्रहणशीलता की छान–बीन अपेक्षित हो जाती है। जब कवि किसी वस्तु–व्यापार को सही–सही चित्रित नही कर पाता तो पाठक या श्रोता वर्ग को अपनी ओर से भी कुछ मूर्ति–विधान करना पड़ता है। यह मूर्ति–विधान ही पाठक या दर्शक की ग्राहक कल्पना कही जाती है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्री वड्र्सवर्थ ने कलपना के दो स्तर = - -

(1) कल्पना
(2) फैन्सी – माने है जिसमें वह फैन्सी को "ललित कल्पना" कहता है, जिसका सम्बन्ध "स्थिर तथा निश्चित वस्तुओ से है" जबकि कल्पना का सम्बन्ध "परविर्तनशील, अनिश्चित और सुघट्य (Plastic) . वस्तुओं से है।"[151]

इसके विपरीत "कॉलरिजन" ने "फैन्सी" को "ऐसोसिएट" या सहचरी शक्ति माना है जो कल्पना को मजबूत करके स्वरूप प्रदान करने वाली और परिवर्धनकारी शक्ति के रूप मे रूपान्तरित कर देती है। कॉलरिज ने कल्पना के दो भेद माने है –

(1) प्राइमरी इमेजिनेशन

(2) सेकेण्डरी इमेजिनेशन

तथा "सेकेण्डरी इमेजिनेशन" को सर्वाधिक महत्व देते हुए बताया है कि – "यह कलाकारो मे पायी जाती है, जनसाधारण मे नही। वह प्राथमिक या आद्य कल्पनाशक्ति की प्रतिध्वनि है, उसका सजग प्रयोग होता है, वह कलाकार को इस ससार का प्रस्तुतीकरण या पुन सृजन करने मे सहायता देती है।"[152]

"कल्पना" पर आई ए रिचर्ड्स ने गभीरता पूर्वक विचार करते हुए उसके छ स्तर माने है। इनके द्वारा वर्णित कल्पना का छठा स्तर महत्व का है जिसके अर्न्तगत वह एक ऐसी – "सायोगिक शक्ति है जो विपरीत और विस्वर गुणो को सतुलित कर देती है।"[153]

****

पुर्नरचना -

ईशापूर्व चौथी शदी के विचारक अरस्तू ने जब अपने अनुकरण सिद्धान्त का प्रतिपादन प्लेटो के "अनुकरण-सिद्धान्त" के प्रत्याख्यान के बाद किया तो उन्होने बताया कि - "यदि कविता प्रकृति का दर्पण होती, तो वह हमे उससे कुछ अधिक नही दे सकती थी जो प्रकृति देती है, पर तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इस लिए करते है कि वह हमे वह प्रदान करती है जो प्रकृति नही दे सकती।"[154] इससे स्पष्ट था कि अरस्तू अनुकरण का मतलब "हूबहू नकल" न लगाकर (जैसा कि प्लेटो का था) प्रकृति के "सर्जन प्रक्रिया का अनुकरण" लगाया तो यदि हूबहू नकल नही की गई है तो जाहिरा तौर पर कविता मे किसी ऐसी Technique का जरूर समावेश किया गया है जो नकल न होकर उससे आगे की बात करती है, यही तत्व जो कविता मे कुछ दूर की सोचती है "कल्पना" कहलाती है। कहने का मतलब यह है कि वस्तु जगत के द्वारा कवि की संवेदना और कल्पना मे जो वस्तु रूप प्रस्तुत होता है कवि उसी को भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करता है, जो "पुर्नप्रस्तुतीकरण" या "पुनर्सृजन" कहा जा सकता है। अरस्तू ने भी "अनुकरण" का जो मतलब निकाला है, उसमे कल्पना की एक रचनात्मक भूमिका है। जो अपनी सृजनात्मकता की वजह से प्रकृति के अपूर्णकार्यों को एक नवीन आयाम देकर पूर्ण बनाती है।

मुक्तिबोध भी एक जगह "कल्पना" को सृजनात्मक भूमिका के रूप मे देखते है। "एक साहित्यिक की डायरी" के अन्तर्गत वे अपने निबन्ध "तीसरा क्षण" के बारे मे लिखते हुए बताते है कि - "असलियत यह है कि सौन्दर्य तब उत्पन्न होता है, जब सृजनशील कल्पना के सहारे, सवेदित अनुभव ही का विस्तार हो जाये। कलाकार का वास्तविक अनुभव और अनुभव की सवेदनाओं के द्वारा प्रेरित फैंटेसी - इन दोनों के बीच कल्पना का एक रोल होता है। वह रोल, वह भूमिका, एक सृजनशील भूमिका है। वही कल्पना उसे वास्तविक अनुभव की व्यक्तिबद्ध पीडाओं से हटा कर"[155] एक विलगीकरण

उत्पन्न करती है। यहाँ स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि "कल्पना" की जो एक "सृजनशील भूमिका" काव्य मे होती है वह बहुत कुछ दो विरोधी भावो को संतुलन मे लाने के लिए ही होती है, क्योंकि कलाकार का जो वास्तविक अनुभव है वह निजी जिन्दगी मे भोगा गया उसका अपना यथार्थ है। जब कि "फैन्टेसी" जिसका एक आशय स्वप्न-चित्रो से भी लगाया जा रहा है, एक आदर्शात्मक रूप हो सकती है, क्योंकि फैन्टेसी में कवि का – "एक भावनात्मक उद्देश्य समाया रहता है।"[156] उसमे एक सवेदनात्मक दिशा रहती है। यही दिशा और उद्देश्य ही फैन्टेसी का मर्म-प्राण है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री "कॉलरिज" भी कल्पना की भूमिका परस्पर विरोधी भावो के ही सामञ्जस्य मे देखता परखता है। वह मानता है कि कल्पना शक्ति – "विरोधी धर्मों – बुद्धि और हृदय, बर्हिजगत, (पदार्थ) और अन्तर्जगत (चेतना), परिचित और नवीन, अन्तर्वेग और सयम, अवधारणा और भाव प्राविनिधिक और वैयक्तिक, प्रत्यय एवं बिम्ब का सख्यकरण करती है।"[157]

मुक्तिबोध ने भी माना है कि कल्पना काव्य मे "व्यक्तिबद्ध पीडाओ से हटाकर" एक "प्रतिनिधिकता" उत्पन्न कर देना भी है। क्योंकि यदि काव्य के पठन-पाठन से पाठक का स्व विगलित होकर सामान्य मे न मिल सका तो कविता कही न कही अपने उद्देश्य से चूक जरूर गयी, क्योंकि – "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धो के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है × × × × × × × × × × × × × × × इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता।"[158] सवाल यह उठता है कि काव्य में निजी बातों को सर्वसामान्य बाते बनाने का मन कलाकार का क्यो होता है? अर्थात् कला के भीतर जो एक प्रतिनिधिकता उत्पन्न होती है, उसका क्या कारण है? कलाकार को आखिर यह क्यो सोचना चाहिए कि उसकी बात सभी के महत्व की

हो सकती है? इसका उत्तर है कि कोई भी कवि जगत के साथ या तो सामञ्जस्य के रूप मे अपनी चूल बिठाता है अथवा वह समाज के साथ विद्रोही रूख अख्तियार करता है। दोनो ही स्थितियो मे उसके एक उद्‌देश्य होता है जो यह प्रेरित करता है कि वह जगत से प्रतिक्रिया किस भाँते करे। क्या वह समाज से सामञ्जस्य स्थापित करे अथवा उससे व्रिदोह? दोनो ही स्थितियो मे एक कारण – कार्य सम्बन्ध होता है तथा एक द्वन्द्व भी होता है जो कि व्यक्तिबद्धता और समाज सापेक्षता का होता है। कहने का मतलब यह है कि अपनी निजू बातों को जिसका कि वह स्वय भोक्ता भी है के अतनवा पुर्नरचित जीवन तथा निए और भोगे जीवन मे सारत एक रूपता के बावजूद एक अमूर्तीकरण या Abstraction होता है जो सर्जक को ही दृष्टा बना देता है, तो कला के अन्तर्गत भोक्ता मन तथा दृष्टा मन के मध्य एक द्वन्द्व होता है किन्तु यह द्वन्द्व सिर्फ द्वन्द्व ही नही बल्कि एक दूसरे से सम्बद्ध होते हुए एक दूसरे के गुणो का आदान–प्रदान भी होता है। गुणों का यही समन्वय ही कला को आगे बढाने का साधन है।

मुक्तिबोध ने "कल्पना" द्वारा सृजनशीलता की बात जो उठायी है, वह कला के लिए बड़े ही महत्व की बात है। क्योंकि जिया अथवा भोगा गया जीवन तथा पुनर्सचित जीवन के बीच जो अमूर्तिकरण की प्रक्रिया है वह कल्पना के माध्यम से ही अंजाम तक पहुँचती है, क्योंकि पुर्नसृजित जीवन – "जिए और भोगे जाने वाले जीवन से सारत एक होते हुए भी उससे कुछ अधिक होती है।"[159] कला में यह जो "अधिकपन" है वह ही उसे कला का सही मायने प्रदान करती है, अन्यथा वह यथार्थ का प्रत्यक्ष अंकन ही सिद्ध होगी। यही कारण है कि कला जिस प्रत्यक्ष या यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करती है वह कहीं न कहीं तत्सदृश सम्पूर्ण जिन्दगियाँ तथा तत्सदृश सम्पूर्ण सम्भावनाओ का भी प्रतिनिधित्व करती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ही तरह मुक्तिबोध भी "कल्पना" को केवल एक साधन ही मानते है जो स्वय अपने–आप में इष्ट नही है जबकि

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियो ने कल्पना को अत्यधिक महत्व देते हुए उसे ही साध्य मान लिया जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी कलाओं मे से जीवन का स्पन्दन समाप्त सा हो गया। इसका यह मतलब नही है कि कला मे कल्पना के महत्व को अलक्षित कर दिया जाए, बल्कि यह है कि कल्पना को जीवन और जगत से काट कर न देखा जाए अर्थात् यथार्थ की देह मे कल्पना की एक धडकन जरूर होनी चाहिए। यहाँ देखने की बात यह है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जब कल्पना की परिभाषा देते हुए लिखा कि – "जो वस्तु हमसे अलग है हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन मे लाकर उसके साहित्य का अनुभव करना ही उपसना है। साहितय वाले इसी को "भावना" कहते है और आजकल के लोग "कल्पना"।[160] इसमे कही भी यह गूँज नही है कि "कल्पना" एक ऐसे रूप–विधान को सामने ले आती है जो वस्तुत है ही नही, बलिक यह कि वह वस्तु है किन्तु हमसे दूर है, अर्थात् जिसे देखकर हम अवाक नही रह सकते। बल्कि एक परिचय का भाव उदित होता है। कहने का आशय यह है कि "कल्पना" एक कोरी चीज नही बल्कि जीवन और जगत के नजदीक होती है, यदि उसमे यह बात न होती तो सहृदय से सहृदय व्यक्ति मे मार्मिकता होने के बावजूद भी वह अनुभूति पैदा न हो पाती।

मुक्तिबोध भी कल्पना के जीवनानुभव से सपृक्त करते हुए उससे हट कर कल्पना का कोई अस्तित्व स्वीकार नही करते। वे कहते है कि – "फैटेसी के अन्तर्गत कल्पना का मूल कार्य, मन के निगूढ़ तत्वो को प्रोद्भाषित करते हुए विभिन्न रगो मे उन्हे अपने समस्त–सौन्दर्य के साथ उद्धारित करना रहता है।"[161] और चूँकि यह – "फैण्टैसी अनुभव की कन्या है"[162] अत कल्पना का जो कार्य है, वह प्रकारान्तर से जीवन और जगत की सच्चाइयों को ही तनिक फेर–फार के साथ ही प्रस्तुत करना हुआ।

मुक्तिबोध कल्पना – बिम्बो को दो प्रकार का मानते है, प्रथमत ऐसे कल्पना–बिम्ब जो अपनी–सतही तथ्यो का उद्घास करते है। दूसरे वे हैं जो जिए और भोगे गए जीवन से सारभूत एकता रखते हुए प्राविधिक

रूप से सम्प्रेषण करने लगे।

मुक्तिबोध काव्य मे कल्पना तत्व को अपरिहार्य तत्व के रूप मे तरजीह देते है, किन्तु "फैन्टेसी" के अन्तर्गत, जो एक भाववादी शिल्प है, अधिक महत्व देते है। उनके विश्लेषण के अनुसार फैटेसी के शैल्पिक प्रयोग का अवकाश भावकारी शिल्प मे सभव है और इस शिल्प मे कल्पना यथार्थ या तथ्यपरक जीवन को अधिक से अधिक गौण और प्रत्यक्ष बनाने का प्रयत्न करती है। चूँकि यथार्थवादी शिल्प के अन्तर्गत कलाकृति यथार्थ के अन्तर्नियमो से बध कर ही यथार्थ के बिम्बो की क्रमिक स्थान प्रस्तुत करती है। अर्थात् कल्पना को एक स्वच्छन्दता नही मिल पातीं, जिससे रचना मे एक विचित्र किस्म का संकोच होता है जिसका परिणाम होता है कि रचना के माध्यम से कवि जो कुछ कहना चाहता है वह पूरी तरह से कह नही पाता क्योंकि कहने का जो भाव है, वह उन्मुक्त नहीं रहता है। जबकि – "भाववादी रोमैण्टिक शिल्प के अन्तर्गत कल्पना अधिक स्वतन्त्र होकर जीवन की स्वानुभूत विशेषताओं को समष्टि–चित्रो द्वारा, प्रतीक चित्रो द्वारा प्रस्तुत करती है।"[163]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब कल्पना के दो स्तर मानते हुए उसके मुख्य कार्य को "मूर्ति–विधान" ठहराते है तो वे आकस्मिक रूप से मुक्तिबोध के नजदीक पहुँचते दिखाई पड़ते है, उन्होने भी बहुत ही साफ शब्दो मे लिखा है कि – "कल्पना का कार्म है मूर्त विधान करना।"[164] और जब किसी भी कवि का मूर्त–विधान स्खलित सा है जो जाहिरा तौर पर उसकी निगाह में कही खोट है। वह चीजो को सही ढग से न तो देख पा रहा है तद्वत न समझ पा रहा है, क्योंकि जिस जीवन को वह देख रहा है उसी जीवन का ज्ञान तब तक नहीं प्राप्त हो सकता, जब तक कि उसमे बुद्धि तथा कल्पना और भावना का सजग सहयोग न हो। और जैसा कि मुक्तिबोध मानते हैं कि "सवेदनात्मक–उद्देश्य" ही बुद्धि को पैदा करते है इसीलिए दो विभिन्न कर्मों को करने वाले व्यक्तियो का न केवल बुद्धि–विन्यास अलग–अलग होगा, बल्कि उनके संवेदनात्मक उद्देश्य भी भिन्न होंगे।

सन्दर्भ

अनुक्रम	लेखक/सम्पादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ
1	बल्देव उपाध्याय	सस्कृत आलोचना	20
2	उपरिवत्	"	12
3	"	"	20
4	"	"	13
5	अज्ञेय	शेखर एक जीवनी	7
6	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्म सघर्ष तथा अन्य निबन्ध	17
7	बल्देव उपाध्याय	सस्कृत आलोचना	14
8	उपरिवत्	"	"
9	"	"	"
10	बाबू गुलाब राय	सिद्धान्त एव अध्ययन	30
11	बल्देव उपाध्याय	संस्कृत आलोचना	73
12	उपरिवत्	"	72
13	"	"	73
14	"	"	73
15	बाबू गुलाब राय	सिद्धान्त एव अध्ययन	36
16	कालिदास	रघुवश	1/1
17	विश्वनाथ त्रिपाठी	हिन्दी आलोचना	
18	बाबू गुलाब राय	सिद्धान्त एव अध्ययन	47
19	विश्वनाथ त्रिपाठी	हिन्दी आलोचना	26
19	आ0 रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग–1	97
20	उपरिवत्	"	97
21	बाबू गुलाबराय	सिद्धान्त एवं अध्ययन	50
22	डॉ0 नामवर सिह	कविता के नए प्रतिमान	17
23	उपरिवत्	"	18
24	"	"	17
25	मुक्तिबोध	कामायनी . एक पुनर्विचार	29
26	डॉ0 शिवभानु सिह	समाज दर्शन का परिचय	147

27	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष एव अन्य निबन्ध	8
28	उपरिवत्	"	"
29	"	चाँद का मुँह टेढा है	66
30	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	चितामणि भाग–1	
31	स0 अशोक बाजपेयी	प्रतिनिधि कविताए · मुक्तिबोध	185
32	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष एव अन्य निबन्ध	13
33	उपरिवत्	चाँद का मुँह टेढ़ा है	193
34	उप0	"	256
35	उप0	"	33
36		"	268
37	नामवर सिंह	कविता के नए प्रतिमान	
38	मुक्तिबोध	चाँद का मुँह टेढ़ा है	263
39	नामवर सिह	कविता के नए प्रतिमान	
40	मुक्तिबोध	चाँद का मुँह टेढ़ा है	122
41	उपरिवत्	"	"
42	उप0	"	207
43	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष एव अन्य निबन्ध	"
44	उप0	चाँद का मुँह टेढ़ा है	209
45	"	नई कविता का आत्मसघर्ष एव अन्य निबन्ध	175
46	"	चाँद का मुँह टेढ़ा है	130
47	"	नई कविता का आत्म सघर्ष तथा अन्य निबन्ध	80
48	"	"	185
49	"	"	"
50	"	चाँद का मुँह टेढा है	296
51	"	"	91
52	"	नई कविता का संघर्ष तथा अन्य निबन्ध	114

53	डॉ0 देशराज भाटी	भारतीय एव पाश्चात्य काव्यशास्त्र	23
54	उप0	उप0	24
55	आचार्य बल्देव उपाध्याय	सस्कृत आलोचना	42
56	उप0	उप0	42
57	उप0	उप0	43
58	विश्वनाथ त्रिपाठी	हिन्दी आलोचना	26
59	उप0	उप0	182
60	उप0	उप0	37
61	मैथिलीशरण गुप्त	साकेत	9
62	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि–1	113
63	उप0	उप0	149
64	उप0	रसमीमांसा	80
65	उप0	चिन्तामणि–1	131
66	उप0	उप0	129
67	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	12
68	उप0	नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र	96
69	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध .	13
70	उप0	उप0	13
71	सं0 अशोक बाजपेयी	प्रतिनिधि रचनाए मुक्तिबोध	181
72	सं0 अशोक बाजपेयी	मुक्तिबोध प्रतिनिधि रचनाए	भूमिका
73	मुक्तिबोध	कामायनी एक पुनर्विचार	12
74	उप0	उप0	12
75	उप0	उप0	15
76	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	19
77	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	16
78	उप0	चॉद का मुँह टेढ़ा है	131
79	उप0	उप0	131
80	डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी	हिन्दी आलोचना	57

81	मुक्तिबोध	चाँद का मुँह टेढा है	289
82	उप0	उप0	293
83	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	60
84	उप0	उप0	60
85	उप0	चाँद का मुँह टेढा है	287
86	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	19
87	उप0	उप0	20

<u>सम्प्रेषण सम्बन्धी मान्यताएं</u>

क्रमसंख्या	लेखक/संपादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ संख्या
88	बाबू गुलाब राय	सिद्धान्त और अध्ययन	187
89	बल्देव उपाध्याय	साहित्य दर्पण	3/12
		उद्धत सस्कृत आलोचना	253
90	डॉ0 शान्ति स्वरूप गुप्त	पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त	160
91	डॉ0 देशराज भाटी	भारतीय एव पाश्चात्य काव्यशास्त्र	164
92	ग मा मुक्तिबोध	नयी कविता का आत्मसघर्ष	02
93	डॉ0 देशराज भाटी	भारतीय एव पाश्चात्य काव्यशास्त्र	165
94	ग मा मुक्तिबोध	नयी कविता का आत्मसघर्ष	4
95	"	"	4
96	"	"	4
97	"	"	4
98	डॉ0 देशराज भाटी	भारतीय एव पाश्चात्य काव्यशास्त्र	171
102	सं0 नेमिचन्द्र जैन	मुक्तिबोध रचनावली 1	257
103	डॉ0 शान्ति स्वरूप गुप्त	पाश्चात्य काव्य शास्त्र	179
104	ग मा मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष	2
105	शमशेर बहादुर सिह	मु0 रचनावली	भूमिका
106	श्री नरेश मेहता	मुक्तिबोध एक अवधूत कविता	12
107	"	"	6
108	डॉ0 शान्ति स्वरूप गुप्त	पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त	162

109	श्री नरेश मेहता	मुक्तिबोध एक अवधूत कविता	7
110	डॉ0 रामस्वरूप	हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास	237
111	श्री नरेश मेहता	मुक्तिबोध एक अवधूत कविता	26
112	स0 नेमिचन्द्र जैन	मुक्तिबोध रचनावली 1	24
113	"	"	9
114	"	"	170
115	स0 अशोक बाजपेयी	मुक्तिबोध प्रतिनिधि रचनाए (राजकमल प्रकाशन)	178
116	सं0 नेमिचन्द्र जैन	मु0 रचनावली 1	24
117	डॉ0 नगेन्द्र	काव्य मे उदात्त तत्व	55
118	स0 नेमिचन्द्र जैन	मुक्तिबोध रचनावली – 5	226
119.	"	"	"
120	ग मा मुक्तिबोध	नयी कविता का आत्मसघर्ष	125
121	"	"	8
122	डॉ0 परमानन्द श्रीवास्तव	कविता का पाठ और काव्य मर्म	100
123	"	"	100
124	आ0 रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग–1	119
125	ग मा मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली 5	192
126	"	नयी कविता का आत्मसघर्ष	8
127	"	चॉद का मुँह टेढा है	66

काव्य जीवन की पुनर्रचना

क्रम सं0	लेखक/संपादक	सन्दर्भ ग्रन्थ अनुसूची	पृष्ठ संख्या
128	गजानन माधव मुक्तिबोध	कामायनी : एक पुनर्विचार	162
129	"	"	9
130.	"	"	7–8
131.	"	"	8
132	सं0 नेमिचन्द्र जैन	मुक्तिबोध रचनावली 5	233
133	मुक्तिबोध	कामायनी . एक पुनर्विचार	11
134.	सं0 नेमिचन्द्र जैन	मुक्तिबोध रचनावली 5	426
135	मुक्तिबोध	नयी कविता का आत्मसघर्ष	9
136	नामवर सिह	कविता के नए प्रतिमान	165

137	नामवर सिह	कविता के नए प्रतिमान	185
138	"	"	187
139	मुक्तिबोध	नयी कविता का आत्मसघर्ष	16
140	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक डायरी	110
141	"	"	115
142	"	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	
143	नामवर सिह	कविता के नए प्रतिमान	186
144	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	20
145	"	कामायनी एक पुनर्विचार	1
146	"	नयी कविता का आत्मसघर्ष	8
147	विश्वनाथ त्रिपाठी	हिन्दी आलोचना	65
148	"	"	"
149	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली 5	241
150	आ0 रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग–1	129
151	डॉ0 शान्ति स्वरूप गुप्त	पाश्चात्य काव्यशास्त्र	120
152	"	"	138
153	"	"	162
154	"	"	31
155	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	22
156	"	"	23
157	"	पाश्चात्य काव्यशास्त्र	130
158	आ0 रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग–1	113
159	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली 5	242
160	आ0 रामचन्द्र शुक्ल	चितामणि भाग–1	259
161	मुक्तिबोध	कामायनी एक पुनर्विचार	9
162	"	एक साहित्यिक की डायरी	21
163	"	कामायनी एक पुनर्विचार	9
164	"	मुक्तिबोध रचनावली – 5	245

चतुर्थ अध्याय

समकालीन काव्यभाषा और मुक्तिबोध

समकालीन साहित्य और काव्य भाषा

(क) काव्य भाषा विषयक पारम्परिक अवधारणाएँ -

ससार का प्रत्येक अवयव कारण-कार्य सम्बन्धो पर स्थित है। पत्थर तक इस बात पर टिका है कि आदमी उससे क्या काम लेता है फिर भाषा तो भाषा ही है। मनुष्य का प्रत्येक सम्बन्ध बगैर भाषा के व्याख्यायित नही किया जा सकता। कहा जा सकता है कि प्रत्येक सम्बन्ध भाषा से ही प्रारम्भ होता है। भाषा से शून्य तो शून्य भी नही। यह ससार आदमी की उपस्थिति मे पहले होते हुए भी नही था, तो इसलिए कि भाषा नही थी। कहाँ क्या हुआ या होन वाला है- जिसने क्या किया, या करने वाला था, - कैसे पता चले इस सबका, जब तक कि कोई कहने, बताने और लिखने वाला न हो? और तीनों प्रक्रियाओ के लिए जरूरी है, भाषा यानी जब तक भाषा नहीं है तब तक न सृष्टि सम्व है और न प्रलय ही।

भाषा के पहले का सब कुछ शून्य है- आदमी तक। भाषा-हीनता का कोई वजूद नहीं। यहाँ तक कि बिना भाषा के कोई न ठुमक कर चल सकता है और न ही हँस या रो सकता है। लेखक का मतलब होता है लिखने वाला और जाहिर है कि साहित्य तो साहित्य ही किसी सामान्य भाषा को भी लिखने के भाषा की नितान्त जरूरत होती है, बस इस दृष्टिकोण से भाषा एक साधन मात्र है जो साहित्य का निमित्त कारण हुआ, किन्तु जैसे मकडा जाले रूपी तन्तु का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। इसी तरह भाषा भी साहित्य का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। अर्थात् भाषा के बारे मे विवेचन भी भाषा के द्वारा ही सम्भव होता है।

मनुष्य की चरम इयत्ता का प्रश्न उसके स्वरूप को लेकर है, ठीक वैसे ही काव्य के स्वरूप पर भी विचार किया गया। विभिन्न काव्य सम्प्रदायों मे काव्य की आत्मा पर विभिन्न दृष्टिकोण अख्तियार किये गये। काव्य भाषा का प्रश्न भी काव्यस्यात्मा' से ही नि·सृत है। जो कला की आत्मा को परिपुष्ट करने वाले गौड़ धर्म कहे जा सकते है।

काव्यभाषा के विश्लेषण–विवेचन क्रम मे दो आयाम प्रमुखता पाते है– एक ओर हम भाषा वैज्ञानिक और व्याकरणिक दृष्टि से संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया–विशेषण रूपो आदि के सन्दर्भ में इसके स्वरूप और गठन पर विचार करते है तो इसकी ओर अभिव्यजना को परिपुष्ट करने वाले काव्य–शास्त्रीय उपकरणो–शब्द शक्ति, दोष–गुण अलकार और वक्रोक्तिके आधार पर उसके सौन्दर्य को उद्घाटित करते है। भाषिक अध्ययन मे इन दोनों का ही अपना निरपेक्ष महत्व है। एक के एवज मे दूसरे को अलक्षित नही किया जा सकता।

भाषा विषयक पारम्परिक अवधारणा से हमारा मतलब है– उन तत्वो के विवेचन से जो काव्य की आत्मा को अर्थात् उसकी सौन्दर्यवत्ता को न केवल उद्घाटित करते है बल्कि बिना उनके जिनका सम्भव होना न हो सके। जिन तत्वो के आधार पर भाषा सम्प्रेषणीय और सृजनशाली बनती है, वे मुख्य है–

1 शब्द शक्तियाँ
2 काव्य गुण– दोष एवं रीतियाँ
3 अलकार
4 वक्रोक्ति

1 <u>शब्द शक्तियाँ</u> – भाषा की मूल इकाई वर्ण होते हैं और वर्णों के योग से पदो (शब्दों) का सृजन होता है। शब्द के लक्षण बताते हुए आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में कहा है कि –

'वर्णा पदं प्रयोगार्हानन्विते कार्य बोधका [1]

अर्थात् ऐसे वर्ण जो एक निश्चित अर्थ के बोधक और प्रयोग के योग्य हों पद या शब्द कहलाते हैं। जाहिरा तौर पर ऐसे किसी शब्द का कोई प्रयोग भाषा के स्तर पर नहीं किया जा सकता जिसका अपना निश्चित अर्थ न हो, अनिश्चित अर्थ या अनर्थ को प्राय बकवास ही समझा जाता है।

अत स्पष्ट रूप से 'शब्द शक्ति' का मतलब है उसकी 'अर्थ–बोधकता' अब सवाल है कि अर्थ क्या है और उसका ग्रहण कैसे होता है?

कहते है कि – अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंगश्चेति

त्रिधा मत।" ।।2।।[2]

तथा इसकी उत्पत्ति होती है–

"वाच्योऽर्थोऽमिघया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मत

व्यग्यो व्यञ्जनया ता स्युस्तिस्त्र शब्दस्य शक्तय:।।3।।[3]

तो इस तरह अभिधा के द्वारा 'वाच्यार्थ' लक्षणा के द्वारा 'लक्ष्यार्थ' तथा व्यञ्जना शब्द शक्ति के द्वारा व्यञ्ज्यार्थ की प्रतीत होती है। यद्यपि अर्थ ग्रहण मे वक्ता, श्रोता और शब्द तीनो का योग होता है फिर इन शक्तियो को शब्दों की ही शक्तियाँ माना गया है, क्योंकि शब्द और उसकी अर्थ–परम्परा पाठक, स्रोता और वक्ता या लेखक का सम्पर्क कराते है।

अभिधा शक्ति की परिभाषा देते हुए आचार्य विश्वनाथ का मत है कि– "तत्र सकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽमिधा"[4]

अर्थात् जिस शब्द शक्ति के माध्यम से साक्षात् उसी का संकेत हो वह अग्रिम अभिधा शक्ति है। इसमे संकेतित शब्द अत्यन्त महत्व का है। जिसके द्वारा ही पाठक और लेखक शब्द और अर्थ के अन्तस्सम्बन्धों की जानकारी मिलती है। 'सकेतित' शब्द का आशय है 'मुख्य' और यह 'मुख्यत्व' दरअसल लक्ष्य और व्यग्य के पूर्व के उपस्थिति का द्योतक है। इसी को 'वाच्यार्थ' भी कहा जाता है चूँकि अभिधा में सकेत के माध्यम से अर्थ प्रतीति होती है अत जानना जरूरी हो जाता है कि इस सकेत ग्रहण के उपाय क्या–क्या हैं?

रीतिकालीन लक्षण्कार आचार्य देव कवि ने तीनों शब्द शक्तियों मे से 'अभिधा' की स्थिति को सर्वोच्च माना है लिखते हैं कि –

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लच्छनालीन।

अधम व्यञ्जना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन।।[6]

किन्तु शब्द शक्तियो का यह श्रेणीकरण सर्वथा वरेण्य नही कहा जा सकता क्योंकि कोई भी लेखक सभी शब्द शक्तियो से अपनी सृजनता को पुष्ट करता है किसी एक से नही। एक के एवज में दूसरे को निन्दनीय मानना सम्भवत ठीक भी नही है।

अभिधा के बाद जो शब्द शक्ति आती है उसे आचार्यों ने 'लक्षणा'

के नाम से अभिहित किया है तथा उसके लक्षणो को इगित करते हुए लिखा है कि–

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽयोऽर्थ प्रतीयते।

रूढे प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।।5।।[8]

अर्थात् रूढि प्रसिद्ध के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के सूचनार्थ मुख्यार्थ का बाध होते हुए भी उससे ही जुडकर जिस नवीन अर्थ ग्रहण की प्रतीति होती है उसे ही लक्षणा शब्द शक्ति द्वारा समझना चाहिए। इस शक्ति को अर्पित (कल्पित) माना जाता है जबकि अभिधा का सहज शक्ति या ईश्वरोद्भावित माना गया है।

भाषा या लक्षणा का साम्राज्य बहुत दिनों से चला आ रहा है। मुहावरों रूपकों आदि का आधार यही लक्षणा ही है। छायावादी कविता के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने जिस शैली विशेष के आधार पर जो बड़ाई की थी वह 'लाक्षणिक शैली' इसी शब्द शक्ति से ही निस्पन्न थी। काव्य भाषा के स्तर पर लक्षण द्वारा जो एक प्रकार का चमकात्कारोत्वादन होता है वह बहुत कुछ पाठक या ग्रहाता के बोध से जुड़ा हुआ है। आचार्य शुक्ल का मानना है कि लाक्षणिकता के सम्यक और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भाव क्षेत्र और विचार क्षेत्र दोनो में बहुत दूर तक बहुत ऊँचाई तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेंक सकती है।"[9]

अर्थबोध में जहाँ अभिधा और लक्षणा शक्तियाँ अपना–अपना कार्य करके शिथिल पड़ जाती हैं जो जिस अर्थ–बोध को ग्रहण किया जाता है वहाँ व्यञ्जना शब्द शक्ति का योग होता है। इसके लक्षण को आचार्य विश्वनाथ ने इस पर निरूपित किया है–

"विरतास्वभिधाद्यासु यथाऽर्थे बोध्यते परः।

सा वृत्ति व्यंञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।।[10]

व्यञ्जना शब्द शक्ति अभिधा और लक्षणा द्वारा ही अर्थबोध कराती है ऐसा इसलिए कि शब्दों का व्यापार एक ही बार होता है उसका भी अपना निहितार्थ होता है किन्तु इसके अलावा जिस 'और अर्थ' की प्रतीति होती है वह व्यञ्जना

द्वारा ही सम्भव होती है। कहने का मतलब यह है कि जैसे अभिधा द्वारा इस पदार्थ मे उपस्थित धर्म का ही ज्ञान होता है जबकि उसी शब्द से लगे अन्यार्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है क्योकि वाच्यार्थ के अनन्तर जो अर्थ प्रतीति हो रही है वह अभिधा द्वारा सम्भव नही है किन्तु इसके बावजूद भी कुछ अवश्य बचता है जिसके बोध के लिए एक नवीन शब्द शक्ति की कल्पना करनी पडती है जो व्यञ्ज्यार्थ को बोधित कराती है।

यह व्यञ्जना दो प्रकार की होती है – "अभिधा लक्षणामूली शब्दस्य व्यञ्ना द्विधा।"[11]

शाब्दी व्यञ्जना का सम्बन्ध अभिधा से है, जिसमे व्यंग्यार्थ शब्दो मे ही निहित होता है इस व्यञ्जना की सबसे बडी अड़चन अनुवाद–साहित्य में खडी होती है क्योंकि एक भाषा के शब्द को दूसरी भाषा मे प्रत्यावर्तित नही किया जा सकता और यदि भावार्थ लगाने की कोशि की गई तो अर्थ का अनर्थ होने की पूरी सम्भावना होती है। जबकि लक्षणामूला व्यग्यार्थ मे ऐसा नही हो पाता।

हमारा यहाँ आशय शब्द शक्तियों का विश्लेषण न होकर काव्यभाषा मे उसके योगदान के विश्लेषण से है। शब्दो मे निहित अनन्त अर्थ–छायाओं का अनावरण ही शब्द शक्तियो के माध्यम से होता है। कोई भी लेखक जिस भी मन्तव्य को सप्रेषित करना चाहता है वह इसी के द्वारा सम्भव हो पाता है। अत हम कह सकते है कि शब्द शक्तियो का महत्व काव्य–भाषा के स्तर पर असदिग्ध है और कुशल कवियो द्वारा अपने सृजन मे इनका सम्यक प्रयोग किया जाता है। सक्षेप मे यह कि लक्षणा और व्यञ्जना का विधान ही ऐसा है, जो काव्य भाषा को सामान्य उक्ति से भिन्न उक्ति मानने के साथ उसके विशिष्टार्थ या अभिप्राय को भी रेखांकित करता है।

<u>काव्य दोष, गुण, रीति एवं वृत्तियाँ</u> – काव्य में दोषों की स्थिति का सर्वप्रथम विवेचन मम्मटाचार्य की बहिरग निरूपिणी काव्य परिभाषा से होता है जिसमें वे कहते है कि –

तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृति पुन· क्वापि।[12]

अर्थात् काव्य तत्व होता है– ऐसे शब्द अर्थ मे जो अदूषित गुण सम्पन्न तथा कहीं–कहीं अलकार से हीन भी हो सकते है। मम्मटाचार्य ने सीधे दोष का नाम

नहीं लिया है बल्कि उसके विपरीत पक्ष दोष पर विचार किया है, अत यह जानना जरूरी हो जाता है कि वे कौन सी स्थितियाँ काव्यात्मक स्तर पर काव्य मे उपस्थित होती है जिसके आधार पर 'दोष' की स्थिति को समझा जा सकता है।

जेसा कि विदित है काव्य के स्वरूप निर्धारण को लेकर हमारे यहाँ दो मत प्रचलित हो रहे है कुछ वैसे ही जैसे दार्शनिक स्तर पर आत्मा और शरीर संघटना, ब्रह्म और जीव के बीच रहा है। चूँकि काव्य सृजन के लिए मुख्य रूप से कवि के भाव ही उत्तरदायी है उन भावों को मूर्त रूप देने के लिए शब्दों कीखोज या सार्थक शब्दों की पहचान जो कि कवि के भावो को सीधे-सीधे दूसरो तक संप्रेषित करे द्वितीयक घटना है। कहा जा सकता है कि काव्य की आत्मा वस्तुत कवि के भाव ही हैं, जबकि उसका मूर्त स्वरूप शब्दार्थ है, शायद शब्द हैं क्योंकि शब्दों का जो अर्थ है या जो प्रतीति-अर्थ की हो रही है वह बहुत कुछ कवि के मूल भावों के सर्वथा नजदीक है। अत शब्दो को ही काव्य का शरीर समझना चाहिए। अब यह जुदा सवाल है कि कुछ लोग शरीर को सर्वस्व समझ लेते हैं। लेकिन मुख्य प्रश्न तो चेतना का है, जिस चैतन्य के आधार पर शरीर को शरीर माना जाता है। शरीर को सर्वस्व मानने के पीछे भी चैतन्य की ही सत्ता है।

यदि हम दार्शनिक विवेचन को ही आधार माने तो आत्मा तो सर्वथा निष्कलुष और अमृय शाश्वत है। अत इसमें दोषों का सवाल ही पैदा नही होता तो फिर 'दोष' की जो स्थिति है वह जाहिरा तौर पर शारीरिक संघ्टन से ही जुड़ी होनी चाहिए। किन्तु ऐसा वस्तुत. नही होता, क्योंकि जिस आत्मा की बात हम ऊपर कर आये है वह पूर्ण चैतन्य शुद्ध प्रबुद्ध अवस्था की बात है। दुनियादारी का यह तकाजा ही है किआत्मा मे भी माया ठगिनी के द्वारा कुछ का कुछ दिखता है। ठीक यही बात काव्य के स्तर पर है। काव्य सत्य अपनी सारी यथार्थवादिता के बावजूद भी इतना स्पष्ट और विविड नही होता कि उसे तुरन्त चेतना में समो लिया जाय और व्यक्त कर दिया जाय। बलिक आत्म सत्य की तरह ही व्यक्ति-सत्य और समाज-सत्य भी विभिन्न-

विभिन्न आयाम रखता है। कवि अपनी चेतना के आधार पर उन्हे जितना ही सटीक पकडता है उतना ही बढिया व्यक्त भी कर सकता है। यदि उसकी भाव सम्पन्नता मे ही कोई खोट है तो जाहिरा तौर पर अभिव्यक्त प्रणाली पर भी खोट है तो जाहिरा तौर पर अभिव्यक्त प्रणाली मे भी खोट होगा। अत कहा जा सकता है कि काव्य मे दोषो की स्थिति भावो तथा भाषा दोनो स्तर पर होती है।

मम्मटाचार्य के उपरोक्त मत का तीव्र खण्डन विश्वनाथ कविराज ने किया है तथा उनके अनुसार काव्य का जो लक्षण है वह– "वाक्यं रसात्मक काव्य" है किनतु देखने की बात इसमें यह है कि 'रसात्मकता की उतपत्ति कैसे होती है कविता में? जहाँ तक रस की बात है वह न तो शब्द मे और न ही अर्थ मे निरपेक्ष रूप से होती है वह होता है दोनों के सयुग्मन मे क्योंकि 'रस' काव्य का निष्कर्ष या अतिम सत्ता हैजिसके बाद कविता की मुक्तित हो जाती है। अत इसके आधार पर विश्वनाथ कविराज की रसात्मक जैसे शब्द का कोई मतलब नही है क्योंकि 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्' या–

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपतये·"
जगत पितरौ बन्दे पार्वती परमेश्वरौ।।"[13]

से भी शब्दार्थो ही ध्वनित होता है। अत उनके द्वारा दोषों की सत्ता 'रसापकर्षका दोषा"[14] जो बताई गई है उसमें दोष वे हैं जो दर्पण रस के उपकर्षक हों और चूंकि 'रस' शब्द और अर्थ की अतिम सत्ता है अत. प्रकारान्तर से दोष शब्द और अर्थ के भी आकर्षक है क्योंकि काव्य की सत्ता 'शब्दार्थौ में ही निहित है।

कविराज विश्वनाथ 'अदोषौ' को एक नकारात्मक लक्षण मानते है जिसकी उपस्थिति काव्य मे अत्यान्तिक स्तर पर स्वीकार नहीं की जा सकती। अत: वे 'अदोषौ' के स्थान पर 'ईषत्दोष' की सलाह देते है किन्तु फिर उनकी तर्कणा आगे बढ़ती है और कहते हैं कि यदि किसी कुशल कवि द्वारा सर्वथा अदोषशब्द और अर्थ प्रयुक्त किये जाते हैं तो उस स्थिति में वह भी काव्य नही रहेगा क्योंकि 'अदोषौ' के स्थान पर 'ईषत्दोष'[15] स्थान पा गया है। अब चूँकि कुशल कवि में इसका अभाव है अतएव काव्य का मम्मटवादी लक्षण अपने आप गिर जाता है किन्तु मुख्य मुद्दा जो अड़पेच का है वह विश्वनाथ कविराज द्वारा

शब्दार्थ से हटकर 'रसात्कमता' की निष्पत्ति मानने से है।

भरत मुनि ने भी रस के प्रसिद्ध विवेचन मे (विभावानुभावव्यभिचारी सयोगाद्रस निस्पत्ति " ऐसा कहा है। इसमे मुख्य दो शब्दो पर ध्यान जाता है एक है 'सयोगाद्' और दूसरा 'निष्पत्ति' अर्थात् सयोग से निष्पत्ति होती है न कि वाक्य मे ही रस होता है जैसा कि आचार्य विश्वनाथ कविराज का 'वाक्य रसात्मक काव्य' से ध्वनित होता है। अत रसापकर्षका दोषा ' जैसा लक्षण एकागी माना जा सकता है क्योंकि दोषो की रसापकर्षक तक एकागी पहुँचने मे 'शब्दार्थों' का अहं योग है इसी लिए काव्य मे दोषो की विभिन्न स्थितियाँ होती है। कुछ मुख्य दोष जो काव्य भाषा विषयक अवधारणा को प्रत्यक्ष प्रभावित करते है,– मुख्य है।

1 पद दोष 2 पदाश दोष 3 वाक्य दोष 4 अर्थ दोष 5 रस दोष[16]

यदि काव्य भाषा में शब्दों का अनुचित प्रयोग किया गया तो उसमें श्रुतिकटुत्व, क्लिस्टत्व तथा अप्रयुक्त दोष आना स्वाभाविक हो जाता है। अत मे उन्ही शब्दों को रखा जाये जो अर्थ व्यक्ति की सामर्थ्य रखते हो। रचना का गौरव अश्लील शब्दों के प्रयोग से घटता है। अतः इनके प्रयोग से किसी भी रचनाकार को बचना चाहिए। रचना की चुस्त दुरुस्ता के लिए शब्दों या वाक्यों का अम्बार नहीं लगाना चाहिए और न ही ऐसे सामासिक पदों की पुनरावृत्ति करनी चाहिए जिससे रचना अपनी अर्थवत्ता खो बैठे। वाक्य में संगति और कर्म का ध्यान होना चाहिए अर्थात् किसी वस्तु के विवेचन क्रम में एक बार उत्थान दिखाकर उसी को नीचे गिराना काव्यत्व दोष है इसी को पारम्परिक काव्य भाषा में अक्रमत्व या दुष्क्रमत्व दोष के अन्तर्गत माना गया है। संक्षेप में ये ही काव्य के दूषकत्व के लिए जिम्मेदार माने गये हैं।

रस दोष का विवेचन काव्य के स्तर पर अवधारणा के रूप मे ही किया जा सकता है भाषिक स्तर पर नही । अत रस दोष का विवेचन यहाँ श्लाघनीय नहीं है। काव्य में गुणों की स्थिति को मम्मट ने 'सगुणो' कहकर विवेचित किया है। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि मम्मट ने एक ओर 'अदोष' को माना है जो प्रकारान्तर से गुणों का ही परिचायक है फिर काव्य

के लक्षण मे 'सगुणौ' कहने का क्या मतलब है? शायद उनका मानना हो कि अदोषी होने का मतलब यह नही मानना चाहिए कि काव्य गुणी हो गया, बल्कि गुणो की स्थिति काव्य मे सायाशित होती है जो कवि को यत्नपूर्वक बड़े जतन से कविता मे पिरोई जाती है। जेसा कि उन्होने काव्य प्रकाश के आठवे उल्लास के छियासठवे सूत्र मे बिना रस का नाम लिये गुणो को रस का अगीभूत मानते हुए उनको रस के उत्कर्ष का हेतु माना है वैसे ही जैसे शौर्यादिक तत्व आत्मा की उच्चता को प्रदर्शित करते हैं।[17] तो इसका मतलब यह हुआ कि वे रस तत्व से परिचित हो किन्तु जेसा कि पहले कहा जा चुका है कि रस काव्य की अन्तिम सत्ता है जिसकी निष्पत्ति होती है और जो चर्वणा द्वारा पाठक, दर्शक, श्रोता द्वारा महसूस किया जा सकता है वर्णित नही किया जा सकता। अत अपरिभाषा की स्थिति से बचने के लिए उन्होंने अपने काव्य लक्षण मे 'रस' जैसे शब्द का कही साक्षात् प्रयोग नही किया है बल्कि यह मानकर चलते है कि काव्य में रस की सत्ता तो होती है उनका मुख्य ध्येय था कि काव्य मे भाषिक या अभिव्यक्ति स्तर पर क्या–क्या अड़चन आती है।

किन्तु कविराज विश्वनाथ ने जिस तरह से 'सगुणौ' को खारिज किया है वह न केवल एकागी बल्कि चिन्त्य भी है। जब वह कहते हैं कि– "गुण केवल रस में ही रहते है शब्द और अर्थ में नहीं।"[18] तो उनकी दृष्टि काव्य की चरम स्थिति पर ही है न कि उसके सोपानों पर काव्य रचना प्रक्रिया मे सोपानों का अपना अलग वजूद है जो मंजिल से कहीं भी दोयम दर्जे का नहीं है क्योंकि मजिल तक पहुँचने का अर्थ यह नहीं है कि रास्ते सदा के लिए खतम हो गये। इसी को लक्ष्य करते हुए 'वाग्भट्ट' ने अपने ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा है कि– "अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना।।"[19]
अर्थात् दोष न रहते हुए गुणों के बिना शब्द और अर्थ शोभा नहीं उत्पन्न कर पाते।

गुणों की संख्या काव्य में कितनी है इसके विषय में विभिन्न मत भिन्नता है। भरत, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने गुण की सख्या दस मानी है जिनके नाम – श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, भोज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कांति हैं।"[20] 'रस गंगाधर' मे भी इन्हीं गुणों को तरजीह

दी गई है – श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वभोज कान्ति समाधय ।।[21]

"काव्य प्रकाश कार" ने इनको केवल तीन माना है– 1 माधुर्य 2 ओज 3 प्रमाद तथा इन्ही तीनो गुणो के अन्तर्गत बाकी सात गुणो का नानाविध प्रपच समाहित कर दिया है।

व्यवहारिक स्तर पर गुणो की सत्ता को अधिक ढग से समझा जा सकता है। दैनिक व्यवहार मे विभिन्न भावो को व्यक्त करने के लिए भिन्न–भिन्न शब्दों का प्रयोग हम करते है जो अपनी अर्थवत्ता से भावो को पूरी तरह प्रदर्शित कर जाते है। चूँकि कविता में भाषिक स्तर पर भावो का मूर्तन शब्दों से होता है अत गुणो की स्थिति को शब्दों में माना जा सकता है क्योंकि विभावन व्यापार के द्वारा विचार का काव्य मे परिवर्तन शब्दों के माध्यम से ही सम्भव है। चूँकि कविता का वास्तविक उद्देश्य है कवि के भावो को दूसरो तक पहुँचना अतएव कविता में ऐसे शब्दों का प्रयोग कथमपि मान्य नहीं होगा जो भावों का सही–सही प्रतिनिधित्व नही करते ऐसी कविता से क्या फायदा जो– 'खुद समझे या खुदा समझें' इसीलिए काव्य में गुणों की स्थिति को काव्य प्रकाशकार ने सूखी लकड़ी में अग्नि की सद्य पकड़ा जैसी रूपक के माध्यम से मानी है। कहते है कि –

शुष्केन्धाग्नि वत्सस्वच्छ जलवत्सहसैव य.।

व्याप्नोव्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विदित स्थित:।।"[22]

मम्मट द्वारा प्रसाद गुण का विवेचन अत्यन्त वैज्ञानिक है क्योंकि आचार्य विश्वनाथ ने 'रस उत्कर्ष हेतुओ को गुण माना है"[23] और प्रसाद गुण सब संघटनाओ का एक सामान्य गुण माना जाता है अर्थात् सब सघटनाओं में प्रसाद गुण का रहना अनिवार्य माना जाता है।"[24] प्रसाद का सम्बन्ध सब रसो से मानना इस बात का द्योतक है कि अर्थ की स्पष्टता को शैली में कितना महत्व दिया गया है। क्लिष्टत्व, अप्रयुक्त व अप्रीतत्व आदि दोष का सम्बन्ध भी अर्थ–स्पष्टता से ही है।

अदूषित और गुणवान शब्दों को कविता में परिवर्तित करने के लिए उनके क्रमों का कवि को विशेष ध्यान रखना पड़ता है। शब्दों तथा वाक्यों का

प्रत्येक कवि अपनी एक खास शैली में प्रयोग करता है। इसी लिखने की विशिष्ट शैली को या ढग को 'रीति' के नाम से काव्यशास्त्रीय परम्परा में पुकारा गया है– "रीति शब्द रीङ् धातु से गत्यार्थकता के रूप मे बना है– रीङ् गताविव धातो सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते।"[25] काव्य मे सबकी गति अलग–अलग होने के कारण रीतियाँ भी अलग–अलग मानी जाती है। इसी वजह से सस्कृत के आचार्यों दण्डी ने रीतियो की अनन्त सत्ता को स्वीकार किया है लिसका सूक्ष्म व्यवच्छेद कुशल व्यक्ति ही कर सकता है जैसे ऊज गुड़, मिश्री, चीनी की सामान्य मिठास एक ही लगती है लेकिन सबकी अपनी–अपनी मिठास है। रीतियो की भी यही विशिष्टता है।

वामन इसके प्रथम लक्षणकर्ता है। जिनके अनुसार रीति का लक्षण है– " विशिष्टा पद रचना रीति ।"[26]

अर्थात् सामान्य नही बल्कि विशिष्ट पदो की रचना को रीति माना गया है। अब यह विशिष्ट क्या है? तो कहते हैं कि "विशेषोगुणात्मा" अर्थात् विशिष्ट है गुण जो रीति की आत्मा भी है। काव्य भाषा मे इसके प्रयोग का स्तर इसी बात पर निर्भर करता है कि कविता मे साधारण शब्द भी असाधारणता से सम्पन्न हो जाता है जिसका अपना विशिष्ट प्रभाव होता है। बाद मे 'पदरचना' की जगह पर आनन्दवर्धन ने 'सघटना शब्द का प्रयोग 'अगसस्था विशेषवत' के अर्थ मे किया है अर्थात् "जैसे मनुष्य के शरीर मे अंगों का परस्पर अनुकूल सघटन है। शरीर के सभी अंग अपने–अपने स्थान पर ही शोभा पाते हैं। यदि वे अपने स्थान से च्युत हो जायँ तो यह शरीर नितान्त कुरूप मालू पडेगा। उसी प्रकार पदों को अपने–अपने स्थान पर रखने से ही काव्य मे चमत्कारोत्पादन होता है और एक विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है। काव्य–सृजन मे यही 'पद संघटना' ही बोलचाल की आमभाषा में काव्य–भाषा की पृथकता को दर्शाती है। काव्य, सृजन भी इसीलिए है क्योंकि वह 'विशिष्ट' है। कहा जा सकता है कि 'रीतियों' का भाषा के स्वरूप निर्धारण में अहं रोल है। आधुनिक शैली विज्ञान भी इसी नतीजे पर पहुँचा है कि – "कविता के 'विशिष्ट' और 'असामान्य' अर्थ को पकडने के लिए काव्य भाषा एक विशेष शैली का प्रयोग करती है। × × × ×

भाषा का सामान्य रूप बोलचाल की भाषा पर आधारित होता है, अत कविता की भाषा शैली को सामान्य बोलचाल की भाषिक संघटना के अतिक्रम के ही रूप में देखना तर्क सम्मत है।"[26]

रीति के पश्चात् 'वृत्ति' पर भी विचार करना इसलिए जरूरी हो जाता है क्योंकि 'वृत्ति' शब्द की उत्पत्ति– "वृत्त धातु से ति, क्तिन प्रत्यय लगाकर हुई है। वर्तन का अर्थ होता है जीवन और वृत्ति उस जीवन की सहायक जीविका है।"[28] तो इस जीविका का जीवन को सँवारने में क्या उद्योग होता है इसकी पडताल आवश्यक है। यों तो 'वृत्ति' का प्रत्यक्ष प्रयोग नाटको मे होता है और इसके लक्षण का निर्धारण नाट्यशास्त्र को ध्यान मे रखते हुए भी किया गया है। अभिनव गुप्त ने 'वृत्ति' का स्वरूप कुछ इस तरह वर्णित किया है – "कायन्वाग–मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तय।"[29] अभिप्राय यह है कि नाटक के पात्र अथवा काव्य नायक के शरीर, वचन तथा मन की विचित्रता से युक्त चेष्टाएँ ही 'वृत्तियाँ' कहलाती है। यद्यपि कायिक, मानसिक और वाचिक चेष्टाओ की अपनी एक भाषा होती है जो क्रमश अगमुद्रा, भावमुद्रा से होते हुए शब्द मुद्रा तक पहुँचती है। किन्तु काव्य भाषा के स्तर पर वाचिक मुद्रा का अपना अहं योगदान है ऐसा इसलिए कि नाटक से हटकर काव्य में भाषा ही पात्र, कवि आदि की प्रतिनिधि है अतः हम काव्य भाषा की जीविका के रूप में वृत्तियो का योगदान उसी हद तक मानते हैं जहाँ तक वह शब्द सम्पदा को अधिकाधिक सक्षम और धनी बनाती है।

<u>अलंकार</u> – आचार्य मम्मट ने अपने काव्य लक्षण मे काव्य में अलंकारों की काव्य अपरिहार्यता से इनकार किया है तथा माना कि काव्य मे वे रह भी सकते हैं और नही भी इसका मतलब है कि वे काव्य के अचल धर्म न होकर अस्थिर धर्म हैं जो यदि है तो शब्दार्थ की शोभा में श्री वृद्धि ही करते हैं ओर न भी हों तो काव्यत्व में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

इस "अनलंकृति पुनः क्वापि" को चन्द्रालोककार जयदेव और साहित्य दर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने अलकारवादी और रसवादी दृष्टि से प्रत्याख्यान किया है। जयदेव जी तो यहाँ तक कहते हैं कि –

अगीकरोति या काव्य शब्दार्थावनलकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती।।[30]

किन्तु आग और ऊष्मा का जो सम्बन्ध है वह शब्दार्थ और अलकार का नही है। अग्नि मे ऊष्मा 'यत् भावे यत भाव' स्तर पर है जबकि यह जग जाहिर है कि न तो लौकिक जीवन मे और न ही काव्य भाषा के स्तर पर अलकार (गहनों) की उतनी जरूरत महसूस होती है। कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे किस 'काव्य पुरुष' की कल्पना की है उसका स्वरूप निर्धारण कुछ इस तरह से है। लिखते है कि – "काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् रसादिशचात्मा, गुणा शौर्यादिवत्, दोषा कात्त्वादिवत्, रीतयोऽवयव सस्थान विशेषवत्, अलंकारा कटक कुण्डला दिवत्, इति।"[31]
भावार्थ यह है कि अलकार काव्य पुरुष के आभूषण जैसे है। भामह जैसे अलकारवादी विचारक का मत भी उसके अस्थिर धर्म को ही लेकर है जब वे ये कहते है कि – "न कान्तमपि निर्मूष विभाति वनितामुखम्"[32] अर्थात् यदि भूषण नही भी हैं तो उसकी वनितात्व पर कोई प्रभाव पडने वाला नहीं है किन्तु लावण्य को बढाने मे उस आभूषण का अपना योग अवश्य है। इसी वजह से 'दण्डी' ने अलकार को "काव्य का शोभाधायक तत्व" स्वीकार किया है। किन्तु काव्य भाषा मे अलकार का प्रयोग बहुत कुछ कवि पर निर्भर करता है जो उसके परिवेश और उसकी सुरुचि का परिचायक है। कभी–कभी सादगी में भी एक अपूर्व लावण्य दिखता है जबकि अलकारों का बेडौल प्रसाद खड़ा करने पर वह बोझ सा हो जाता है तथा शरीर की सौन्दर्य वृद्धि के स्थान पर हास्यास्पद प्रतीत होने लगता है। अतएव काव्य भाषा में अलकार की सर्वथा स्थिति न तो श्लाघनीय है और न ही उसकी एकदम उपेक्षा ही ।

दण्डी उन अलंकारवादियो मे से है जो काव्य मे 'शब्द सत्ता' को ही महत्व देते है। उन्होने – इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली" रूप काव्य की सत्ता मानकर काव्य को मौलिक आधार के रूप में 'शब्द' को ही स्वीकार किया है। जैसा कि पहले ही इगित किया जा चुका है कि – "काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्" और चूकि अलंकार को शरीर का शोभाधंयक माना गया है अत शब्द और अर्थ में समान रूप से सघटित होने के कारण इनको 'शब्दालंकार' और 'अर्थालंकार'

जैसे विभागो मे बाँटा जा सकता है। शब्दालकार की अस्मिता वहाँ मानी जाती है जहाँ भाषा के शब्द सयोजनो द्वारा ही सौन्दर्य की अभिवृद्धि की जाती है। शब्द की प्रधानता होने से उसके विकल्प के रूप में अन्य शब्द का प्रयोग काव्य मे जहाँ चारुत्व का हरण करता है। वही पर इसके सम्यक प्रयोग से भाषा मे एक गजब की खानी और 'नाट्यव्यजना' की अभिवृद्धि होती है। आचार्य शुक्ल ने साहित्य और विज्ञान मे अन्तर स्पष्ट करते हुए साहित्यिक भाषा के 'प्रशस्त प्रयोगों' में अलकारों की असदिग्ध भूमिका को स्वीकार किया है। लिखते है कि– "विज्ञान शब्दों को सकेत की भाँति काम मे लाता है; किन्तु साहित्य मे भाषा का सबसे प्रशस्त प्रयोग है और अलकार, मुहावरा, वाक्य रचना, माधुर्य और सरसता तथा अन्यान्य लक्षण उसमे सम्मिलित है।"[33] सुन्दर शब्दो को काव्रूभाषा में स्थान देने से कविता मे लयवत्ता की बढ़ोत्तरी होती है जसे आचार्य शुक्ल कविता की आयु वृद्धि मे सहायक मानते है।"[34]

सादृश्य ओर विरोध के आधार पर ही मनुष्य की चेतना एव भाषा का विकास हुआ है। शब्दो के विकल्प के रूप मे नये शब्दों का सयोजन भी अर्थ में व्यवधान नहीं उत्पन्न कर पाता, इसका आशय है कि सौन्दर्य अर्थ मे ही छिपा है। सादृश्य–विकास में कल्पना की असदिग्ध भूमिका है। सादृश्य–विधान के द्वारा ही अप्रस्तुत की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत के रूप मंडन की क्षमता और सुविधा का विकास हुआ। सादृश्य मूलक अलंकारों के काव्यात्मक योगदान को इसी बात से लक्षित किया जा सकता है कि जबसे कविता का उदय हुआ तभी से इसका भी उदय हुआ या इसको उलट कर भी कह सकते है। ऋगवेद के तमाम मंत्र मनुष्य की काव्यात्मक भाषा का वह पहला पायदान है जहाँ सुन्दर उपमाओं के पुष्प बिखरे पडे है।

अप्पय दीक्षित ने 'उपमा' की तुलना एक 'नटी' से की जो रंगमच पर नाना रूपो में सज्जित होकर अवतीर्ण होती है–

"उपमैका शैलुषी सप्राप्ता चित्र भूमिका मेदान
काव्यरगे, नृत्यन्ती रञ्जयति तद्विदां चेत ।।[35]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी काव्य मे सादृश्य मूलक अलकारों की बहुतायत से वाकिफ थे वे लिखते है कि– "काव्य मे अधिकतर सादृश्य या साधर्म्यमूलक अलकारो का व्यवहार होता है पर बहुत से स्थलो पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि से बँधे हुए लम्बे चौडे ढाँचे की अपेक्षा लक्षणा से बहुत अधिक रमणीयता ओर वाग्वैचित्र्य का सम्पादन हो सकता है।"[36]

स्पष्ट रूप से उनका मानना है कि कलात्मक स्तर पर हर जगह सौशब्दता की वजह से अर्थविस्तार नही होता है बल्कि वह बोझ सा हो जाते है जिनके स्थान पर लक्षणा से बेहतर काम लिया जा सकता है। यही पर वे वामन के अलकार विषयक अवधारणा के विपरीत दिखाई देते है। जहाँ पर वामन ने – "काव्य शोभाया कत्तीरौ धर्मा गुणा ।

तदतिशयहेतवस्त्वलकारा ।"[37]

कहाँ, वही पर शुक्ल जी अलकार को काव्य भाषा की शक्ति मानते हुए भी उसकी अतिशयता को 'काव्यभास' ही मानते हैं।[38]

अलकार सम्प्रदाय मे भाषिक वैपरीत्यता को अर्थालंकारों की विरोधमूलक शाखा के अन्तर्गत बाकायदे स्थान प्राप्त है। इस प्रकार के काव्य भाषिक प्रयोग मे विरोध जो दिखाई देता है वह अभिधेयार्थ का ही होता है जबकि 'काव्य व्यापार शब्द व्यापार है' शब्द व्यापार बिना प्रयोजन के सामान्य जीवन मे नहीं होता है। रसवादी आचार्यों के अनुसार यह प्रयोजन रसाभिव्यक्ति है जबकि अभिनवगुप्त के अनुसार – "कवि का अभिप्राय– प्रतीतिपर्यवसायी है और प्रतीति भी विश्रांतकारिणी लौकिक वक्ता का अभिप्राय अभिप्रेत वस्तु पर्यवसायी है।"[39] अभिप्राय प्रतीति के कारण ही काव्यगत शब्दार्थो में व्यञ्जकत्व रहता है। इसीलिए काव्य–भाषा साभिप्राय होने के साथ–साथ प्रतीतिपर्यवसायी है। तो विरोध गर्भ मूलक अलकारों में शब्दो मे हुई अर्थ अस्पष्टताओं के आधार पर ही कवि के अभिप्राय को समझा जा सकता है। यह विरोध यदि वास्तविक होता तो अर्थ–बाध उत्पन्न हो जाता ओर अकाव्यता की स्थिति भी आ सकती थी किन्तु ऐसा वस्तुत. नहीं होता अत इस विरोध को अपातत प्रतीयमान समझना चाहिए। काव्य भाषा मे इस प्रकार के चमत्कार की उत्पत्ति 'संकेत ग्रहण की युक्तियों' में परस्पर भेद दिखा कर की जाती है।

वक्रोक्ति – भाषा के द्वारा ही आदमी अपने भावो का प्रकटीकरण करता है। दैनिक व्यवहार तथा भाव–प्रकाशन का एक मात्र आधार शब्द ही है। महाकवि दण्डी ने शब्द सत्ता की सर्वोत्कृष्टता को इन शब्दो में बयान किया है लिखते है कि–

इदमन्ध तम कृत्स्न जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वय ज्योतिससारानन दीप्यते।।[40]

अर्थात् यह ससार घनघोर अन्धकारमय हो जायेगा, यदि ज्योति न हो, उसी प्रकार से यदि शब्द की सत्ता भी न हो तो भी यह अँधेरी रात की तरह से एक भयानक स्थल बन जायेगा।

आलोचको ने वागमय में प्रयुक्त शब्दो को तीन भागों मे विभाजित किया है– वेद शब्द, शास्त्र–शब्द और काव्य–शब्द। जिनमे से काव्य शब्दो को उपरोक्त दोनों से इसलिए विलक्षण माना गया कि काय मे न तो शब्द की प्रधानता रहती है और न ही अर्थ की बल्कि यापार प्रधान होता है बल्कि व्यापार प्रधान होता है काव्य। बिना शब्द के साहित्य की परिकल्पना असम्भव है– इस दृष्टि से वह अन्य कलाओ से इतना भिन्न है, एक साहित्यिक कृति अपनी ऊर्जा उस भाषा से प्राप्त करती है जिसमें वह अपने को रूपायित करती है। भाषा का सामाजिक पहले उसके सम्प्रेषण में है, वहाँ वह एक 'माध्यम' के रूप मे प्रस्तुत होती है। किन्तु साहित्य के सृजन क्षेत्र मे वह महज माध्यम बनकर नहीं रह पाती, बल्कि एक स्वात्य शक्ति के रूप में प्रकट होती है। शब्द वही रहते है, लेकिन साहित्य में प्रयोग के अन्दर व्यवहारिक धरातल की अस्मिता से कहीं अधिक सारगर्भित और अस्तित्वान लगते हैं। सक्षेप में यह कि साहित्य में शब्दो के प्रयोग के बाद उसमें एक अतिरिक्त शक्ति का साधन हो जाता है।

तो यवहारिक धरातल और साहित्यिक धरातल वालों और काव्य के बीच जो विभाजक रेखा है वह ही है वक्रोक्ति अर्थात् कथन की विशिष्ट शैली (टेढ़ी उक्ति) भामह ने इसे लोकातिक्रान्त गोचरवच के रूप में व्याख्यायित किया। "भामह पहले व्यक्ति हैं जिन्होने नाटक अभिनय व्यापार से काव्य

व्यापार को न केवल भिन्न रूप मे स्थापित करने का प्रयत्न किया बल्कि यह भी कहा कि कवियो को यत्नपूर्वक वार्ता यानी बोलचाल की भाषा से भिन्न उक्ति का प्रयोग करना चाहिए।" भामह ने भी 'वार्ता' से वक्रोक्ति की भिन्नता स्पष्ट करते हुए यही स्थापित किया है कि काव्य की भाषा वार्ता से भिन्न होती है। भोज के सरस्वती कण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर का मत है कि – "वक्रत्व च अलकार इति अवक्रयो शब्दार्थयो चनमात्रत्वात्" (वक्रता ही अलकार है व शब्दार्थ वचन मात्र है) भरत ने नाट्यशास्त्र के विवेचन मे नाट्यधर्मा की चर्चा मे लोकधर्मिता का नाट्यधर्मी होना स्वीकार किया है। भामह ने नाट्यधर्मिता की जगह काव्य–धर्मिता तथा अभिनय की जगह पर शब्दार्थ को स्थापित किया। अभिनय के माध्यम से अभिव्यक्त चेष्टाओ और शक्तियो का शब्दार्थ में भरने की दृष्टि से ही काव्य में वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति का आश्रय लेना पड़ा। 'लोकातिक्रान्ति गोचरता' वक्रोक्ति का सर्वस्वीकृत गुण है। 'विलक्षणता' को काव्य भाषा का गुण भी कहा गया है। राजेश्वर ने उक्ति विशेषा के कारण ही काव्यभाषा में काव्यत्व माना है। उनका कथन है–

> "अत्थविसेसा ते चिअ सदा ते चेअ परिणामक्ता व उत्ति विसेसोकत्व भासा।"[42]

डॉ0 सत्यप्रकाश मिश्र इस उद्धरण के आधार पर यह मानते है कि– "राजेश्वर ने ही सबसे पहले काव्य भाषा शब्द का प्रयोग किया है।"[43]

वक्रोक्ति के षट्भेदों की बड़ी ही वैज्ञानिक विवेचना कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवितम्' मे मिलती है। उनका मत है कि–

> वर्ण विन्यास वक्रत्वं पद पूर्वार्द्ध वक्रता।
> वक्रताया· परोप्यस्ति प्रकार प्रत्याश्रय ।।[44]

वक्रोक्ति के पद प्रकरण से प्रबन्ध तक के षटभेद भी यही प्रमाणित करते है कि भाषा के प्रयोग में पद का पूर्वार्द्ध भी चमत्कार की सृष्टि कर सकता है।

नित्य प्रति के व्यवहार में शब्दों का प्रयोग किसी न किसी अर्थ के लिए रूढ़ हो गया है। इन रूढ़ अर्थों से हमारा परिचय इतना अधिक है कि

हमारे लिए उनमें किसी प्रकार का आह्लाद रह ही नहीं जाता, और चूँकि काव्य का अन्तिम उद्देश्य श्रोता, पाठक वर्ग मे अलौकिक आनन्दोन्मीलन है अत जाहिरा तौर पर काल मे प्रयुक्त शब्द अपने रूढार्थों से काफी हट कर होते है। महिमभट्ट ने भी लगभग यही कहा है– "प्रसिद्ध मार्गमुत्यसृव्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये। अन्यथैवोच्यते सोऽर्थ सा वक्रोक्तिरूदाहृता।।"[45]

शब्दके विभिन्न पर्यायो मे से सही शब्द पर्याय का चयन, प्रत्यय और उपसर्गों का सही प्रयोग, लिग परिवर्तन तथा निपात आदि के माध्यम से काव्य मे अनेक भंगिमाओ का समावेश हो जाता है। अत वक्रोक्ति भाषा को उद्दीप्त करने वाले साधनों में है।

मुक्तिबोध : काव्यभाषा विषयक अवधारणा

समकालीन काव्य भाशा पर बहस की शुरुवात सन् 1951 से होती है, जब 'दूसरा सप्तक' की भूमिका मे 'अज्ञेय' द्वारा 'प्रयोग' को परिभाषित करने का उपक्रम किया गया। वे प्रयोग को दोहरा साधन मानते हैं, एक तो कवि सतय का जानने का और दूसरा उसे प्रेषित करने की क्रिया को और उसके साधनो को भी जानने का। जहाँ तक दूसरे साधन का सवाल है वह सम्प्रेषणीयता से जुड़ा है जो पाठक ओर दर्शक दोनो वर्गों को अपने मे समेट लेता है। पाठक वर्ग को कवि–सत्य किस तरह से प्रेषित किया जा सकता है और उसके कौन से साधन हो सकते हैं इसके उत्तर मे भाषा पर दृष्टि जानी स्वाभाविक हो जाती है क्योकि भाषा ही कविता मे कवि का प्रतिनिधित्व करती है। चूँकि अज्ञेय ने "साधन की जगह साधनों" शब्द प्रयुक्त किया है। अत· अपने अर्थ में यह स्पष्ट हो जाता है कि संप्रेषणीयता के लिए वे केवल पाठक वर्ग को ही ध्यान में नहीं रखते हैं बल्कि उनकी दृष्टि में वह दर्शक भी है जो नाट्य के माध्यम से कवि–सत्य क। भोक्ता हो सकता है। नाट्य में सम्प्रेषणीयता क। प्रश्न उसके अभिनेय से जुड़ा है। यह तो सर्वविदित तथ्य है कि भाषा और नाट्य से सम्बन्धित

बहुत से प्रयोग किये गये है और उसकी नवीनता के लिए आगे भी प्रयोग किये जा सकते है।

सवाल यह है 'प्रयोग' के द्वारा कवि–सत्य को कैसे जाना जा सकता है? साधारण परम्परा रही है कि कवि–सत्य को भाषा के माध्यम से जानना सम्भव नही हो सकता, चाहे उसे व्यक्त करना सम्भव हो ही जाय। भाषा के अलावा अन्य माध्यमो से सत्य का साक्षात्कार सम्भव हो सकता है।

लगता है अज्ञेय की इस धारणा के पीछे वह सिद्धान्त काम करता है जिसमे किसी पात्र की सर्जना के अनन्तर वह लेखक के हाथो एक बिन्दु के बाद छिटक जाता है और अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का नियामक हो जाता है। इतना ही नही वह वलटकर स्वयं लेखक को ही रचने लगता है। जैसा कि अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' की भूमिका मे लिखा है कि– "यहाँ तक मैने स्वय अनुभव किया है कि मै एक स्वतन्त्र व्यक्ति की प्रगति का दर्शक अेर इतिहासकार हूँ, उसके जीवन में मेरा किसी तरह का भी वश नही रहा है।"[46] तो हो सकता है कि इसके बाद जों लेखक को सत्य का साक्षात्कार होता होगा उसको ही अज्ञेय प्रयोग द्वारा जानने का दावा करते होंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि कवि–सत्य को जो भी साक्षात् होता है वह अभिव्यक्त अनन्तर ही होता है फिर उस सत्य का क्या होगा जो समाज में यहाँ वहाँ फैला पड़ा है। जो भी हो, किन्तु इतना तो निश्चित है कि प्रयोग द्वारा शिल्प और तत्व दोनों स्तरों की जानकारी हिन्दी साहित्य की एक अद्‌भुत अवधारणं है जिसमें तत्व का अवधारणात्मक स्वरूप लगभग सिफर है।

अज्ञेय को विशुद्ध रूप से भाषावादी माना जा सकता है जिसका प्रमाण उनके रचना कर्म मे मिलता है। सर्वत्र एक सीखी हुई भाषा को वे प्रयोग करते है। इसका सबसे बड़ कारण यह है कि वे जिस धरातल पर खड़े होकर साहित्य का सृजन करते है, वह धरातल हिन्दी की जातीयता से एकदम मेल नही खाता है। उनके रचित पात्र हमेशा द्वि–भाषी स्थिति को दिखाते है। कहना न होगा कि उनकी रुझान बहुत कुछ एक अभिजात्य–दर्प को लेकर चलता है।

न मालूम क्यो उसमे वह सहजता नही मिलती जो किसी लेखक को आत्मीय बनाने मे सहायक होती है। यद्यपि उनका दावा सही हो सकता है कि "हिन्दुस्तान मे बहुत से लोगो को हिन्दी नही आती अत इसे सीखने का उन्हे भरसक प्रयास करना चाहिए किन्तु जैसा कि उनके भाषिक प्रयोग है उनमे कुछ अतिरिक्त सजगता ही पाई जाती हे। उन्होने लिखा है कि– "मै उन व्यक्तियो में हूँ – और ऐसे व्यक्तियो की सख्या शायद दिन–प्रतिदिन घटती जा रही है। जो भाषा का सम्मान करते है और अच्छी भाषा को अपने आप में एक सिद्धि मानते हैं।"47

अच्छी भाषा से उनका तात्पर्य क्या है? भावानुसारी भाषा, गढ़ी हुई भाषा अथवा सहज भाषा, यह स्पष्ट नही होता। किन्तु उनके सृजन के भाषिक अभिकरणों को देखकर कोई भी बता सकता है कि उसमें सहजता कम कृत्रिमता अधिक है जैसा कि उन्होने 1 मई 1983 को कथाकार जैनेन्द्र जी को लिखे पत्र मे खुद ही स्वीकारा है – "कभी–कभी लिखते समय मेरे विचार एकाएक "इंगलिश" (अंग्रेजी) मे फूट पडते हैं और फिर मुझे उनका हिन्दी में अनुवाद करना पड़ता है। मुझे खीझ आती है कि क्यो मेरे हिन्दी एक्सप्रेशन (अभिव्यक्ति) उतना 'फ्लुअंट' नहीं है।48 बहरहाल, किन्तु–

"कविता न केवल भाषा है, न केवल भाव और विचार। कविता की रचना करते समय कवि दो धरातलो पर काम करता है।xx xx xx xx पहले धरातल पर जागरूक रहने की आवश्यकता इसलिए होती है कि कवि अपनी अनुभूतियों और विचारो को ठीक से समझ सके। और दूसरे धरातल पर कवि ने 'जिन अनुभूतियों को ग्रहण किया है, उन्हें वह अनुकूल भाषा में व्यक्त कर सके। ये दो धरातल वस्तुत. एक दूसरे से अभिन्न होते है। अभिन्न न भी हों तो भी एक दूसरे से लगे होते हैं।"49

मुक्तिबोध ने कविता की रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में कला के तीन क्षणों का जो विशद विवेचन किया है। उसमे कलात्मक साहित्यिक अभिव्यक्ति'

के लिए भाशा के सन्दर्भ मे 'तीसरे क्षण' का अह योग है। वे इसको कला का 'पूर्ण पक्ष' मानते है जहाँ से –"शब्द–साधना शुरू होती है। शब्द के अपने ध्वनि अनुषग होते है, जिनमे चित्र और ध्वनि दोनों शामिल है। कलाकार अपने हृदय के तत्व के रग, रूप, आकार के अनुसार, अभिव्यक्ति का रग, रूप और आकार तैयार करना चाहता है।"[50] अर्थात् भावो को व्यक्त करने के लिए साहित्य मे जिस साधन की महती आवश्यकता होती है वह ही भाषा कही जाती है इसमे जो महत्व की बात है वह यह कि भाषा की कोई स्वतन्त्र इयत्ता नही होती बल्कि वह उस तरल पदार्थ की भाँति होती है जो विभिन्न सन्दर्भों मे विभिन्न रूप ग्रहण कर सकने मे सक्षम है। भाषिक सन्दर्भ मे यद्यपि कला के तीसरे क्षण का अन्तर्महत्व असदिग्ध है फिर भी एक सवाल उठता है कि भाषा का उसका स्रोत क्या है अर्थात् वह कौन सा बिन्दु है, जहाँ से भाषा झरती है? इस सम्बन्ध मे 'प्रथम क्षण' का निरीक्षण आवश्यक हो जाता है। जब मुक्तिबोध कहते है कि– "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण।"[51]

तो इसका अर्थ होता है, जीवन और कला का अद्वैत जिसका दूसरा अर्थ भाषा और जीवन के अद्वैत से हो सकता है क्योंकि भाषा की आन्तरिक बुनावट, अवधारणा से प्रसूत है और यह अवधारणा चूँकि जीवन से कहीं न कहीं गहरे जुडी है, अत कहा जा सकता है कि भाषा जीवन को साधने से ही बनती है। जीवन से अलग भाशा का कोइ महत्व नही हो सकता।

जैसा कि मुक्तिबोध ने लिखा है कि शब्द के अपने ध्वनि अनुषग होते हैं जिसमे चित्र और ध्वनि दोनो शामिल होते है तो इसका मतलब होता है कि साहित्य की कालजयता का सीधा सम्बन्ध उसकी भाषा से है। ऐसा नही है कि शब्द जो साहित्य मे प्रयोजित है वे यथार्थ को सीधे–सीधे वहन करने मे अक्षम है। भाषा में कागज पर लिखा हुआ जगल वास्तविक जगल से कुछ भी कम नही होता। यदि भाशा में लिखे तथ्य और वास्तविक तथ्यो के बीच भाषा मे कोई कमी अवश्य है। काल के थपेड़ो से कागज पर लिखा साहित्य तभी टिक सकता है जब उसके भावों और शब्दो के बीच समुल्यता हो। भाषा की

प्रकृति ही है, समतुल्यता। यह समतुल्यता वस्तुत· दिल और जुबान की भी है। जब संत कबीर कहते है कि –

बोली एक अमोल है जो कोई बोलै जानि।

हिये तराजू तौलिए जब मुख बाहर आनि।।

तो उनका मन्तव्य यह भी था कि जो कुछ हम भाषिक तौर पर प्रयुक्त कर रहे है वह हृदय की तराजू में नापा जोखा है कि नही। कहना न होगा कि तराजू का काम मूल्य और भार की समता ही स्थापित करना है, यदि दिल की तराजू में जबान का जरा सा भी फर्क है तो समतुल्यता भला कैसे स्थापित होगी? मुक्तिबोध की रचनाओं में इसी दिल ओर जबान का अद्वैत, कथनी और करनी का अद्वैत है यही वह तत्व है जिससे 'वास्तविक काव्य' और 'छदम् काव्य' मे अन्तर महसूस किया जा सकता है। कई बार ऐसा होता है कि जनका मनोमय जीवन, जो कि किसी भी सृजनकर्ता का केन्द्रीय–तंतु है, अत्यन्त सतही होता है जबकि उसकी भाषा अत्यनत जालीदार होती है और वे उस भाषा के सहारे ही साहित्यिक समाज मे अपना रंग जमा लेते हैं लेकिन तब भी सवेदना के अभाव में वह आत नहीं आ पाती जो अनुभव की सच्चाई के साथ आती है। ऐसे लोग वस्तुत चन्द प्रकाशकों के अधीन होते हैं जो समयबद्ध तरीके से उनको बनाते–बिगाड़ते रहेत हैं। मुक्तिबोध ने एक जगह लिखा भी है कि– "बहुत से लेखक ऐसे होते हैं जिनका यह मनोमय जीवन बहुत छिदला, सतही–क्षणभंगुर और संक्षिप्त होता है। हाँ यह सम्भव है कि छन्द, भाव और भाषा पर जीवन की सामग्री वस्तुत अल्प है, सुन्दर–सुन्दर चित्राकृतियाँ प्रस्तुत करके और अपनी पब्लिसिटी करके अमरता के अधिकारी हो जायें।"[52]

लिखना भी बोलने की एक प्रक्रिया है अत 'भाषा' और 'बोली' का द्वन्द्व केवल एक दिमागी कसरत ही है। कबीर जिस 'बोली' को हृदय से तौलने की बात करते है वह वस्तुत. अपने युगानुकूल ही था क्योंकि कबीर के बारे में सर्वप्रसिद्ध है कि– ""मसि कागत छुयौ नहीं, कलम गह्यो नहि हाँथ"

ऐसी स्थिति मे बोली का 'भाषा' कहा जाना जो कि हरफो मे कागज पर उकेरी हो, असम्भव ही जान पड़ता है। अत कहा जा सकता है कि, आदमी की सम्पूर्ण सोंच, सवेदना तथा अनुभवो को भाषा ही आकार देती है। भाषा की तद्मकारिता का यह प्रश्न ही उसे शब्द और वस्तु के बीच निबद्ध होने तक की उस प्रक्रिया तक ले जाता है जहाँ से वस्तु और शब्द को एक दूसरे से जुदा करना कठिन ही नही असम्भव हो जाता है।

भागता मै दम छोड़,
घूम गया कोई मोड़।।
बदूक धाँय–धाँय
मकानो के ऊपर प्रकाश–सा छा रहा गेरुआ।"[53]

जैसे कागज पर लिखे वाक्य–खड किसी भी कीमत पर दहशत जदा व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप से कम नहीं आके जा सकते। क्योंकि शब्दो का यह जादुई ससार वस्तु–तथ्यता के बुहत नजदीक है।

मुक्तिबोध के पूरे साहित्य चिन्तन के केन्द्र मे समाज और मानवीयता है, एक परदु खकातरता है जो अपने समग्र जनतांत्रिक और अपना सा लगने वाला कवि घोषित करने के लिए काफी है। दुनिया के जितने भी महान व्यक्ति हुए है और आगे भी जिनके होने की सम्भावना है, उन सबमें जो सबसे महत्वपूर्ण तत्व है वह परदु खकातरता ही है। फिर भाषा तो उनके लिए– "सामाजिक निधि है।"[54] वैसे भी कोई लेखक साहित्य मे करता ही क्या है? समज में देखे हुए, स्वय के भोगे हुए तत्वों को भाषिक जामा पहनाकर समाज को ही तो लौटा देता है। अत भाषा के सामाजिक निधि होने का एक गहरा मतलब यह भी हो सकता है कि समाज और लेखक का अन्तत्सम्बनध क्या है? या कि जिस धरातल पर खड़ा होकर वह सृजन कार्य मे रत है वह कौन सा तल है? तो, जैसा कि डॉ0 नामवर सिह का मत है कि –मुक्ति बोध के काव्य संसार की पटभूमि की असंदिग्घ रूप से ऐसी शासन–व्यवस्था या सत्ता है जो निहायत चालाक होने के साथ ही बेहद आततायी है।"[55]

इसीलिए मुक्तिबोध जब–जब जिन्दगी की बात करते हैं एक गहरी सी टीस उसमे जरूर होती है। उस जिन्दगी में भविष्य की अकुलाहट और झल्लाहट है। उनके लिए जिन्दगी भूरी ही नहीं बहरवा की है" जिसकी काजली भीतो पर भद्दे–भद्दे हरफो मे चारो ओर,

छोटे–छोटे वाक्यो में कहानियाँ कई एक
लिखी गईं – पेट की व आत्मा की भूख की
अपमान–क्षोभ की व द्रोह की।"[56]

तो ऐसी जिन्दगानी की तश्वीरो के लिए जो भाषा चुनी जायेगी वह भी इसी तरह की ही होगी तभी वह उसका सच्चा प्रतिनिधित्व कर पायेगी। इसी को आधार बनाकर डॉ0 नामवर सिंह ने आचार्य शुक्ल से उधार लिए पदों 'काव्यात्मक भाषा' और 'काव्यभासभाषा के आधार पर मुक्तिबोध की भाषा मे सर्जना तत्वों को खँगालने का काम किया है।

जब कविवर की कविताओ पर उनका कल्पित मित्र केशव टिप्पणी करता है– "अगर तुम्हारी कविताएं किसी को उलझी हुई मालूम हों तो तुम्हें हताश नहीं होना चाहिए . .. मै तुम्हारी कविताएँ ध्यान से पढता हूँ।"[57] यद्यपि यह कथन कविता के पूरे 'स्ट्रेक्चर' को लेकर है किन्तु उसका एक मतलब वह भी है जिसमें–

–"कहते हैं लोग– बाग बेकार है मेहनत तुम्हारी सब कविताएँ रद्दी है। भाषा है लचर उसमे लोच तो है ही नही।"[58] तो इस संवेदन शून्य और बेमुरोव्वत होती दुनिया में संवदेना की खोज ही असली तौर पर भाषा की खाज हो सकती है। भाषा और भावों को लेकर जो द्वन्द्व 'निराला' की रचनाओं में था और जिनकी वजहों से 'सरस्वती' के आँगन से उसकी कविताओं को धक्किया कर बाहर कर दिया गया था वह अपने समय का दिलचस्प वाकिया है। कभी उनकी रचनाओं को इसलिए खारिज किया गया कि उसके भाव ठीक–ठाक नही है और कमी इसलिए कि उसकी भाषा अटपटी है। किन्तु ऐसा सब दिन नहीं

चलने वाला उनकी कविताओ के भी कद्रदान पैदा हुए और उनको ही तुलसीदास के आद सर्वाधिक महत्व प्राप्त हुआ। उस समय की स्थितियो को निराला जी ने अपनी रचनाओ मे बड़ी ही संजीदगी से याद किया है। एक लेखक की सबसे बड़ी त्रासदी वही हो सकती है जब वह सम्पादको के पास से रचनाओ को इसलिए उदास भाव से लेकर लौट आता है कि उसकी रचनाए उन महाराजो, महाभागों तथा 'सुबास सुमनों' के काबिलगौर इसलिए नहीं है कि वू पूर्वाग्रही है।

इसलिए मुक्तबोध के यहाँ जो जिन्दगी खाकी है वह आकस्मिक तौर पर निराला के यहाँ –

"नही फूल, जीवन अविकच है–
यह सच है।"[59]

प्रथम शती के पश्चात्य काव्य सिद्धान्तकार लोंजाइन ने भव्य भाषा (Noble diction) को भव्य भावो से जोडते हुए माना है कि – "अनुभूति की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग किया जाये यही एक मात्र नियम है। अन्य सब नियम अधूरे तथा पूर्ण हैं।"[60]

इसका एक अर्थ यह हुआ कि महान भावों को केवल महान भाषा ही वहन कर सकती है जो लेखक की रचनात्मकता से गहरे जुडी है ऐसा नही है कि कोई रचना तो महान हो किन्तु उसकी भाषा कमजोर हो या कि इसकर उलट भी हो सकता है। सृजनात्मकता की दृष्टि से दोनो ही स्थितियाँ भयावह है। सच तो यह है कि – "बड़ी रचना लेकिन छोटी भाषा, या छोटी रचना लेकिन बड़ी भाषा, के अनमेलपन या द्वैतता से लिखना भले ही सम्भव हो परन्तु रचना कर्म नहीं। भाषा और रचना का 'मेलापक' मिलना ही चाहिए।"[61] यदि ऐसा नहीं है तो रच्ना 'छोटे मुँह बडी बात' ही शक्ति होगी।

रचना की सबसे बड़ी कसौटी होती है उसकी अनुभवात्मक सच्चाई। इस सच्चाई को और अधिक मारक धार देने के लिए उसी भाषा का प्रयोग

किया जा सकता है जो अनुभव की भाषा हो 'टकसाली भाषा' या 'गढ़ी हुई भाषा जिन्दगी की बारीक असलियत को सामने ला पाने में अक्षम साबित होगी। जैसा कि मुक्तिबोध ने स्वयं लिखा है कि– "शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है।"[62]

तो जिनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही – दु ख ही जीवन की कथा रही हो और जो– "सामाजिक महत्व की गिलौरिया खाते हुए, असत्य कुर्सी पर।"[63]

आराम से बैठना इसलिए पसन्द करे क्योंकि इससे जीवन मनुष्यता के क्षरण की पूरी गुंजाइश है और वह मानवीयता च्युत होने के कारण 'घुग्घु', 'सियार' या कि 'भूत' कुछ बन सकता है। आकस्मिक तौर पर निराला ने भी इसी स्थिति को अपनी कविताओं में उभारा है जब वे लिखते हैं कि–

"जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित काय।
लखकर अनर्थ आर्थिक–पथ पर
हारता रहा मै स्वार्थ–समर।"[64]

यह चित्र तब और भी मनोरम हो जाता है और उस सच्ची दृढ़ता के प्रति साहित्य तब और नतमस्तक होता है। जब उसमे एक पिता की निर्रथकता छुपी हो। इसीलिए मुक्तिबोध ऐसे लोगो के खिलाफ कमर कसे हुए मिलेंगे जो दूसरों के मुँह का कौर छीनकर अपने–अपने बरामदों मे– "थोड़ा सा फर्नीचर, विलायती चमकदार, रखते हैं।

ईमानदारी का यह तकाजा हो सकता है कि भद्र जनो के लिए महज चूतियापा से अधिक न हो, लेकिन सामाजिक अव्यवस्था और अनैतिक मौकापरस्ती से जूझने वाले लोगों के लिए यह एक महान अस्त्र है जिससे नयी सुबह का सूरज एक न एक दिन अवश्य झाँकेगा और इसी एक मात्र अस्त्र से आत्मा के, मनुष्य के नवीन भवन बनाए जाएंगे।

मुक्तिबोध के लिए शब्द (भाषा) और व्यक्ति के अद्वैत का प्रश्न कितना गम्भीर है कि जिनके–जिनके पास

"ईमान का डडा है,
बुद्धि का बल्लम है,
अभय की गेती है,
हृदय की तगारी है– तसला है।"

उन्ही–उन्ही लोगो के शब्द– "मानव देह धारण कर,
असख्यक स्त्री–पुरुष–बालक
बने, जग में, भटकते है,
कहीं जनमें,
नए इस्पात को पाने।"65

ऐसे शब्द निहायत खतरनाक किस्म के है जो खरोंच मारकर 'रम्य किंग्जवे' और दुतरफा पेड वाली एल्गिन रोड के भव्य भद्र लोगों के तन–मन को विदीर्ण सा करते है। लिखते हैं कि–"खरोंचे–मारत–सी घिस–रहे–सी,
सौ खुरों की खरखराती शब्द गति,
सुनकर
खड़े ही रह गये हैं लोग
उनमें सैकड़ों विस्मित,
कई निस्तब्ध
कुछ भयभीत जाने क्या।"66

मुक्तिबोध के यहाँ भाषिक तौर पर एक ऐसा रचना ससार मिलता है जो प्राय: ऊबड़–खाबड़ अनगढ़ गिट्टियों से निर्मित है। उसमें एक किस्म की वीरान मान्यता का एहसास होता है। इसका एक जबरदस्त कारण शायद यह है कि– "भाव–ध्वनियो को उपलब्ध शब्द–ध्वनियों के कटघरे मे फँसाने का प्रयत्न" जब निष्फल हो जाता है तो कई कवि—" भाषा की चमक और सफाई के लिए अपने भाव–तत्वों का बलिदान भी कर देते हैं।"67 किन्तु

मुक्तिबोध के यहाँ ऐसा नही है, बल्कि शुरू होती है भाषा की खोज जो अनुभूत तत्वो का सही–सही प्रतिनिधित्व कर सके। इसी खोज के कारण ही उनकी भाषिक सरचना अन्य किसी भी कवि से मेल नही खाती। जो एक अद्वितीय सृजनात्मकता को सहेजे हुए है जिसको तोडे बगैर अर्थ की अन्तनिर्ददित आग को पहचानना लगभग असंभव हो जाता है। उन्होने लिखा भी है कि– "कवि भाषा का निर्माण करता है। जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है वह नि सन्देह महान कवि है।"[68]

सृजन की मौलिक शक्ति लेखन की खोज में ही निहित होती है और यह खोज शुरू वहाँ से होती है जहाँ लेखन अपने दायित्व–बोध से परिचित है। उसके लेखकीय जिम्मेदारी सामाजिक जिम्मेदारी से किसी भी कीमत पर कम नही है। जो कही न कहीं मूल्य बोध से भी गहरे जुड़ी है। जब मुक्तिबोध कहते हैं कि– "भाषा एक जीवित परम्परा है।" तो इसका मतलब यह भी होता है कि लेखक का उस परम्परा से क्या सम्बन्ध है और वह कितना जीवन्त है। इसी परम्परा में अपने को फिट करने के लिए वे शब्दों को खराद पर चढ़ाते रहते है और विवेक वसूलों के निरन्तर आघात द्वारा उनको छील–छाल कर इस लायक बना देते हैं कि देखा हुआ ससार, भोगा हुआ संसार अपनी पूरी रंगत में दुबारा खुलता सा है।

'मुक्तिबोध' में कथन और कथ्य का अद्वैत एक तरह से जीवन और भाषा का संगम है। उनकी क्लासिक रचना 'अँधेरे में' की अतिम लाइने

–"खोजता हूँ पठार. .. पहाड़ समुंदर
जहाँ मिल सके मुझे,
मेरी वह खोई हुयी
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म–संभवा।[69]

निश्चित ही उस भाषा की खोज है क्योंकि भाषा की जो परिपाटी बन

गयी है वह उनके लिए नाकाफी है

किंतु असतोष मुझको है गहरा
शब्दाभिव्यक्ति–अभाव का सकेत।
काव्य चमत्कार उतना रगीन
परन्तु ठंडा।
मेरे भी फूल है तेज सक्रिय, पर
अतिशय शीतल।[70]

यही वजह है कि डॉ0 नामवार सिंह 'अस्मिता की खोज को व्यक्ति की खोज के साथ ही 'अभिव्यक्ति की खोज' भी मानते हैं। क्योंकि –"एक कवि के नाते उनके लिए परम अभिव्यक्ति की अस्मिता है। भाषा स्वभावत इसी अभिव्यक्ति का आधार है।"[71]

सन् 1968 में जब 'कविता के नए प्रतिमान नामक पुस्तक को–मुक्तिबोध की कविताओ की जरूरतो को समझते हुए डॉ0 नामवर सिंह ने लिखा और उनकी भाषा को "पोयटिक लैंग्वेज" माना तो उसके लगभग साल भर बाद ही प्रसिद्ध कवि 'धूमिल' ने सन् 1969 मे 'नया प्रतीक' में यह लिखा– "मुक्ति बोध की भाषा किसी पुराने खण्डहर की दीवार सरीखी है। भारी बुलन्द किन्तु प्रतिध्वनि से हीन, किन्तु जहाँ–जहाँ उस पोख्ता और उबाऊ और प्रतिध्वनि हीन भाषा में, पत्थर सी बेलाग भाषा मे, आज के आदमी की बात–चीत आ गई है। वहीं से खुलता है कि ईंटे जगह–जगह गल गई है और दीवारों मे झिर्रियां बन गई हैं जिनसे घने अँधेरे मे भी प्रकाश झर रहा है ओर यही उसकी बुनियादी सहजता है। यह प्रकाश ही अर्थ है। आदमी की दुविधा, तनाव और पीड़ा का सामयिक अर्थ सन्दर्भ मुक्तिबोध की कविता को उल्लेखनीय बनाता है।"[72]

प्रस्तुत टिप्पणी मे धूमिल जिस 'अर्थ' और तदवत् प्रकाश की झीनी ही रेखा की बात करते है और जिसे वह आलोच्य कवि की 'बुनियादी सहजता' समझते है वह अर्थ से जुडा है और कहने की आवश्यकता नहीं कियह अर्थ–बोध लेखक की गहरी सप्रेषणीयता को ही रेखांकित करता है। बात दरअसल यह है कि मुक्ति बोध की आम आदमी विषयक अवधारणा और उसकी बेखौफ तरफदारी को, उनके घोरतम विरोधी भी स्वीकार करते है। आलोचकों की असली अड़चन है। कविताओ के बुलन्द स्थापत्य से। फिर यदि उसमें 'सामयिक अर्थ–सन्दर्भ भी मौजूद है तो और कौन सी चीज पाठक को चाहिए?

रचना प्रक्रिया : मुक्त बोध

रचना प्रक्रिया का अर्थ है, रचना की प्रक्रिया। यह शब्द युग्म उस संश्लिष्ट स्थिति का द्योतक है, जिसमें किसी रचना का जन्म होता है। दरअसल इस शब्द युग्म का सम्बन्ध पाठक, प्रमाता, प्रेक्षक अथवा आलोचक से जितना है उतना स्वय कवि से नहीं। कारण यह है कि स्वय कवि के लिए यह जानना बहुत जरूरी नहीं है कि उसकी रचना का प्रसव कैसे हुआ। जबकि आलोचक अथवा प्रेक्षक को रचना–प्रक्रिया को जानने की न केवल जरूरत है, बल्कि हक भी है, कारण यह कि, रचना–प्रक्रिया का सम्बन्ध रचना की अर्थ–प्रक्रिया से कही गहरे जुड़ा है। सवाल उठता है कवि को अपनी रचना–प्रक्रिया समझाने की, बताने की जरूरत ही क्या है? इस सवाल के बारे में जैसी मुक्तिबोध की राय है, उसका सार यों है·–

क रचना प्रक्रिया के विश्लेषण से सौन्दर्य सम्बन्धी किसी सामान्य सिद्धान्त पर आया जा सकता है।

ख. साहित्य में जिस प्रभावोत्पादक जीवन का चित्रण है, उसकी रहस्यमयता उघड़ कर सामने आती है।

ग किसी विशेष काव्य–प्रवृत्ति का औचित्य सिद्ध करने के लिए।"[73]

मुक्तिबोध के सन्दर्भ मे तीसरे निष्कर्ष का महत्व अप्रतिम है, इसलिए भी कि उनके शिल्प को, रचना के अर्थ को और स्वय रचना को ही दुरूह समझा गया। यह भी कि रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण मे किसी काव्य–प्रवृत्ति का औचितय सिद्ध करना, एक तरह से काव्य–सौन्दर्य और सृजित प्रभावोत्पादक जीवन की भी औचित्य सिद्ध करना है। जैसा कि मैने कहा है कि स्वय कवि के लिए अपनी रचना का विश्लेषण करना अनिवार्य नही है, तो इसका एक अर्थ यह भी है कि रचना के अतिरिक्त सौन्दर्य को दिखाना स्वय लेखिका का कर्तव्य न होकर आलोचक का कर्तावय है। फिर क्या कारण है कि तमाम कवियो को अपनी रचना का स्वय विश्लेषण करना पड़ा? इसके कई कारण है, जो सक्षेप में, सूत्रवत इस प्रकार है –

क समीक्षक मे वास्तविक जीवनानुभावो का अभाव।

ख समीक्षा की सैद्धान्तिक बारीकियों को प्रदर्शित करने का उद्देश्य,

ग कला के जड़ीभूत अन्तर्नियमों का हवाला देकर उससे भिन्न कलात्मक अभिरुचि को खारिज करने के कारण।

समीक्षकों को इस दयनीय उपहासात्मक स्थिति के कारण आज प्रत्येक लेखक को अपना समीक्षक होना पड़ रहा है।× × × × × अंग्रेजी में कोलरिज, वड्सवर्थ, शैले, टी0 एस0 इलियट, आदि प्रमुख कलाकार आलोचक है।"[74]

कवि, साहित्यकार तथा आलोचक के अन्त सम्बन्धों की निर्वाह रचना करती है। लेकिन रचना को लेकर कवि और आलोचक की दिशा भिन्न–भिन्न होती है। अभिव्यक्तोपरान्त रचना पाठक अथवा आलोचक के समक्ष आती है। जब कि इस रचना को आकार प्रदान करने के लिए कवि ने जो–जो प्रयत्न किये हैं, वह रचना के नेपथ्य में होती है। "पाठक और आलोचक किसी कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंह द्वार से सीधे अन्तजगत में प्रवेश करते हैं– वह अन्तर्जगत् जो किसी कलाकृति में उद्घाटित हुआ है, वह अन्तर्जगत् जिसमें कलाकार का व्यक्तितव उसके जीवनानुभव, उसकी

भावदृष्टि समाई हुई है। पाठक आलोचक का मन उस अन्तर्जगत में रमता है, उसका रस लेता है, उसमे विचरण करता है, और यदि उस अन्तर्जगत मे उसे कही (अपने लिए) बाधा दिखाई तो वह वहाँ ठहर जाता है और सोचने लगता है। उसे कलाकार का अन्तर्जगत उसमें समाया हुआ व्यक्तित्व ओर भावदृष्टि आकर्षित करती है। और वह यह ढूढ़ने लगता है और पा जाता है कि वह भाव–दृष्टि उसके लिए (और सभी के लिए) क्यो महत्वपूर्ण है, या नहीं है।"[75] इस उद्धरण में भी रचना–प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए आलोचक या पाठक जो चीज खोजता है और प्राप्त करता है, उन्हें संक्षेपत. इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है –

क कलाकार का अन्तर्जगत अर्थात् उसका बाह्याभ्यंतर परिवेश या वह धरातल जहाँ से कवि बोल रहा है।

ख कवि की टोटल पर्सनैलिटी

ग व्यक्तित्व भाव–सम्पन्नता

रचना प्रक्रिया का संधान उन तत्वो की खोज है जिनके उत्प्रेरण से रचना अपना रूपाकार ग्रहण करती है। यह तलाश उन बुनियादी जीवन–गतियो, सामाजिक अवस्थाओं एवं मूर्त अमूर्त सरोकारों की तलाश है जिनसे रचना को एक निश्चित दिशा मिल जाती है जाहिर है कि यह तलाश इतना आसान काम नही है। मुक्ति बोध ने लिखा है कि "रचना–प्रक्रिया का तत्परक विश्लेषण मेरे खयाल से अत्यन्त कठिन है दुष्कर है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह है कि रचना–प्रक्रिया एक नहीं अनेक हैं। रचना प्रक्रिया सृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। कवि स्वभाव, कवि दृष्टि और विषय वस्तु (या कहिए कथ्य) के अनुसार वह बनती बदलती है।"[76]

मुक्तिबोध ने जिस समय रचना–प्रक्रिया का विश्लेषण शुरू किया, उससे पहले भी रचना की औचित्य–सिद्धि के लिए कवियों द्वारा बराबर प्रयास किया जाता रहा था। यद्यपि वह औचित्यीकरण

क "प्रगतिशील काव्य दृष्टि के विरोध मे था,

ख. नई काव्य–प्रकृति मे प्रकर 'स्व' के महत्व को स्थापित करने के लिए

रचना–प्रक्रिया की स्वात्मकता को उठावदार उभारदार बनाने के लिए, जिससे कि अन्य जनों का ध्यान उसकी स्वात्मकता की ओर खिचे, रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण की ओर प्रवृत्ति हुयी।"[77]

रचना–प्रक्रिया का साफतौर पर एक कारण तो उपरोक्त ही है, लेकिन अन्य कारण जो कि इससे अधिक महत्व का है, वह यह कि जब प्रगतिशील समीक्षको द्वारा नई कविता की घनघोर उपेक्षा होने लगी तथा कविताओ में खासतौर पर मुक्तिबोध की रचनाओ की मनमानी व्याख्याए सामने आई तो स्वाभाविक तौर पर उन व्याख्याओ से असंतुष्ट कवि ने अपना मोची खुद सँभाला। यो तो मुक्ति बोध ने एक जगह लिखा है कि– "वास्तविक जीवन के सवेदनात्मक धरातल पर लेखक और समीक्षक की होड़ है। लेखक और समीक्षक की यह प्रतियोगिता नि सन्देह अत्यनत वांछनीय है। जिन्दगी को कौन ज्यादा समझता है? समीक्षक या लेखक? यद्यपि इन दो के कर्तव्य अलग–अलग हैं, फिर भी उनके कर्तव्यो की पूर्ति जीवन के वास्तविक संवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर ही होगी।"[78] बावजूद इसके, मुक्तिबोध के मन में आदर्श आलोचक का जो बिम्ब है वह लेखक से अधिक विचार सम्पन्न, उससे अधिक उदार तथा उससे अधिक भावुक, व्यक्तित्व का ही है। इस सन्दर्भ में उनका यह वक्तव्य बेहद ध्यानाकर्षक हैं। लिखते हैं कि–"मेरा वातावरण, मेरा परिवेश, मुझे साहित्यिक कार्यों के लिए प्रोत्साहन नहीं देता। इसके विपरीत, वह मुझे परावृत्त करता है। फिर भी मैं लिखता हूँ। क्यो लिखता हूँ?

यह एक विचित्र प्रश्न है, जो मैं स्वय अपने आप से पूँछता हूँ। एक ही उत्तर मिलता है मुझे कोई समानधर्मी पुरुष जरूर उन्हें पढ़ेगा, आज नहीं मेरी मृत्यु के बाद सही! उसे अच्छी नहीं लगेगी, वह आलोचना करेगा किन्तु उसे उसके कुछ हिस्से अवश्य पसन्द आएंगे! तो, उस समान धर्मी के अइंतजार मे– या यूँ कहिए कि आशा मे – मेरे इस कमरे में कवि–कर्म चल रहा है। इस समानधर्मा का रूप मेरी आँखों में अवश्य प्रस्तुत होता है। वह मुझसे अधिक बुद्धिमान, अधिक अनुभवी, अधिक उदार, अधिक सहृदय, अधिक मर्मज्ञ, अधिक मेधावी होगा। वह मेरे गुण–दोषो का विवेचन करेगा। "[79]

मुक्तिबोध ने रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण करने के लिए, उसे अधिक बोधगम्य और स्पष्टतमता के अभीष्ट बिन्दु तक पहुँवाने के लिए कई निबन्धों का प्रयोग किया। जिसमे – 'आखिर रचना क्यों' रचना–प्रक्रिया एक, रचना–प्रक्रिया–2, तीसरा क्षण, काव्य, जीवन की पुरचन जैसे लेखों का महत्व असंदिग्ध है। अलावा इसके, सामाजिक दृष्टि और सौन्दर्य प्रतीति, सौन्दर्यानुभूति और जीवन–अनुभव का भी अपना अलग योगदान है। मुक्तिबोध ने एक तरह से इन सभी निबन्धो में अपना वक्ष रखना चाहा है, चूँकि कवि फैटेसी के शिल्पकार है। अत एक तरह वे इस शिल्प और इस शिल्प के माध्यम से अपने काव्य कथ्य की औचित्यता को भी प्रतिष्ठापित करने का उद्योग करते सा जान पडते हैं। 'फैटेसी के विषय मे मुक्तिबोध की राय जानने से पहले "फैंटेसी" की अर्थगम्यता को जानना जरूरी हो जाता है, जो कि विभिन्न शब्द कोशो मे निहित है– फैंटेसी, द एक्ट आर फन्कशन आफ पुरमिग इमेजेस ऑर रिप्रेजेन्टेशन व्हेदर इनडायरेक्ट परसेप्शन ऑर इन मेमोरी, आलसो ऐन इमेज ऑर इम्प्रेशन डेराइव्ड थ्रू सेन्सेशन (बी) हेलोसिनेशन, समटाइम्स फैंटम एप्रीशन (सी) डिसायर इन्क्लीनेशन (2) इमेजिनेशन ऑर फैन्सी; द फ्री प्ले ऑफ क्रियेटिव इमेजिनेशन ऐज इट एफेक्ट परसेप्शन एण्ड प्रोडक्टीविटी यूस, एस इक्सप्रेड इन एन आर्ट फार्म और एज इलेक्टेड बाई प्रोजेटिव टेक्नीक्स आफ फॉरमल साइकोलॉजी (3) दि क्रियेशन्स ऑफ इमेजिनेटिव फैकल्टी व्हेदर इक्सप्रेस्ड ऑर मियरली कनसील्ड।"[80]

इस परिभाषा में मुख्य रूप से जिन–जिन तत्वों पर बल दिया गया है वे संक्षेपत इस प्रकार से होंगे–

क फैंटेसी साक्षात् विचार या स्मृति बिम्बों के माध्यम से चित्र बनाने की एक प्रक्रिया, ऐसे बिम्ब या प्रभाव जो संवेदना के माध्यम से गढ़े गये हो।

ख. फैंटेसी, विभ्रम, इच्छा झुकाव या कल्पना बिम्ब का भी पर्याय है।

ग. फैंटेसी, दिमाग में आये ऐसे स्पष्ट विचार और प्रतिबिम्ब हैं जिनका कोई तार्किक आधार न हो।

घ फैंटेसी, सृजनात्मक कल्पना का वह कार्य–व्यापार हे जो कला और व्यवहारिक मनोविज्ञान के प्रक्षेपण मे अवधारणा और सृजन को प्रभावित करता है।

ड ऐसे काल्पनिक ससार का सृजन जिसका आधार मूर्त (अभिव्यक्त) और अनुभूत हो, फैटेसी कहा जाता है।

च दिमाग मे चित्र बनाने की प्रक्रिया, भी फैंटेसी हो।

फैंटेसी से ही सम्बद्ध शब्द फैसी है जिसका अर्थ शब्दकोश मे यो दिया गया है – फैसी फैटेसी, फैटास्म, विजन ड्रीम, डे ड्रीम, एण्ड नाइटमेयर कैन सिग्नीफाइ इन कॉमन ए विविड आइडिया आर इमेजेस प्रजेन्ट इन द माइण्ड बट हैविंग नो कंक्रीट ऑर आब्जेक्टिव रियल्टी।"[81] कहने की आवश्कता नही कि मुक्तिबोध की फैंटेसी सम्बन्धी अवधारणा काफी कुछ उपरोक्त विवचेन से मिलती–जुलती है।

मुक्तिबोध ने रचना–प्रक्रिया को विश्लेषित करते हुए लिखा है कि कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र–अनुभव–क्षण। दूसरा क्षण है इस अनभव का अपेन कसकते–दुखते हुए मूलो से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैंटेसी अपनी ऑंखो के सामने खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैटेसी के शब्द–बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।"[82]

कहने का तात्पर्य यह है, कि कवि जो शाब्दी जामा रचना को प्रदान करता है वह पहले भी फैटेसी ही है और सुचितोपरान्त भी फैटेसी। अपने इस लेख में मुक्तिबोध ने माना है कि "फैंटेसी में वस्तुत एक भावनात्मक उद्‌देश्य समया रहता है उसमें एक संवेदनात्मक दिशा रहती है। फैटेसी के भीतर यह दिशा और उद्‌देश्य उस फैंटेसी का मर्म प्राण है।"[83] लेकिन इसी संवेदनात्मक उद्‌देश्य को नजर अंदाज करने के कारण ही नई कविता को या तो राजनैतिक रूप से प्रतिक्रियावादी कहा गया अथवा भारतीय सांस्कृतिक आत्मा और उसके संदेश के प्रतिकूल। इसी के सामान्तर मुक्तिबोध की रचनाओं को एक दम असुन्दर, प्रतिक्रियावादी,

विद्रूप या निषेधात्मक कहकर हटा दिया गया। इस सम्बन्ध मे मुक्तिबोध की राय है कि– "कोई भी कवि अच्छा या बुरा नही होता, वह कवि या अकवि ही हो सकता है, अर्थात् उसमे चेतना या जडता हो सकती है। एक विशेष रूप–स्वरूप और प्रवृत्ति से पूर्ण जो चेतना है वह कवि की चेतना है।"[84]

भाव–दृष्टि जीवन दृष्टि के अनुसार यद्यपि रचना प्रक्रिया बदलती रहती है लेकिन कविता की प्रकृति के कुछ अन्तस्तत्व भी होते हैं, जो किसी भी काव्य मे समान मात्रा मे पाये जाते है। मुक्तिबोध ने इन्हे 'मनस्तत्व' कहा है जिसके अन्तर्गत– "संवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना, बुद्धितत्व, जीवनानुभव और लेखक का अन्तर्व्यक्तित्व समाहित होता है।"[85] लेकिन इन सारे मनस्तत्वों मे मुक्तिबोध ने अपनी वर्गीय स्थिति, वर्गीय–पक्षधरता के आधार पर काव्यात्मक उद्देश्यों को अधिक महतव दिया हे। यह सवेदनात्मक उद्देश्य दरअसल कवि–व्यक्तित्व से प्रसूत है। और यदि कहा जाय कि संवेदनात्मक उद्देश्य और कवि का आंतरिक व्यक्तित्व दोनो एक दूसरे के पूरक हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। कई बार यह होता है कि काव्य–दृष्टि और काव्य–कथ्य को कवियों द्वारा सतही तौर पर ओढ़ लिया जाता है, जो लाख बचाने के बावजूद भी झलक उठता है। कलात्मक उद्देश्य और कवि के अन्तर्व्यक्तित्व की परस्पर एकसूत्रता की ओर मुक्तिबोध ने यों संकेत किया है– "संवेदनात्मक अर्थात् अन्तर्जगत अर्थात् जीवनानुभव, रचना–प्रक्रिया के दौरान में, अपने विशेष सवेदनात्मक उद्देश्यो को लेकर अवतीर्ण होते हैं। ए–संवेदनात्मक उद्देश्य एक ओर, लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व का एक भाग है, उसके अनुभवात्मक इतिहास से सम्बन्ध रखते है। उसने जो कुछ आत्मसात् किया है, जो कुछ पाया या खोया है, उससे नाता रखते हैं, उसकी विद्यमान जीवन–स्थिति और मनोदशाओं से सम्बन्ध रखते हैं। इन सवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। रचनाओं में प्रकट इन सवेदनात्मक उद्देश्यों का ध्यान में रखकर ही कवि के अन्तर्व्यक्तित्व का हमे, अनुमान होता है। इस प्रकार वे एक ओर अन्तर्व्यक्तित्व को, तो, दूसरी ओर रचना को एक–दूसरे से जोड़ देते हैं।"[86]

मुक्तिबोध ने रचना प्रक्रिया जैसे जटिल विषय को और बोधगम्य बनाने के लिए एक रूपक खडा किया है जिसमे उन्होने अपनी तरफ से प्रस्तुत और अप्रस्तुत विधानो की अतःसगति भी व्याख्या प्रस्तुत की है।

"वीरान, मैदान, अँधेरी रात, खोया हुआ रास्ता, हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन। यह लालटेन समूचे पथ को पहले से उद्‌घाटित करने मे अक्षम है। केवल थोडी सी जबह पर ही उसका प्रकाश है। ज्यो–ज्यो वह पग बढाता जाता है, थोडा–थोडा उद्‌घाटन होता है। चलने वाला से पहले से नही जाता कि क्या उद्‌घाटित होगा। उसे अपनी पीली मद्धिम लालटेन का ही सहारा है। इस पथ पर चलने का मतलब ही पथ का उद्‌घाटन है और वह भी धीरे–धीरे क्रमश। वह यह भी नही बता सकता कि रास्ता जिस ओर घूमेगा या उसे किन घटनाओ या वास्तविकताओं का सामना करना पड़ेगा। कवि के लिए, इस पथ पर आगे बढते जाने का काम महत्वपूर्ण है। वह उसका साहस है। वह उसकी खोज है। बहुतेरे लोग जिनमें कवि भी शामिल है, इस तथ्य को भूल जाते हैं, कयोंकि वे उस पर चलना नही चाहते, अथवा बीच मे से ही भाग जाना चाहते है।"[87]

इस रूपक के आधार पर ही वे रचना–प्रक्रिया को 'एक खोज और एक ग्रहण' का नाम देते है जिसकी उपलब्धि अभिव्यक्ति के दौरान होती है। मुक्तिबोध 'तीसरा क्षण' या कि अपने कई निबन्धो में रचना की उत्पत्ति का विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि काव्य मूलत शब्द व्यापार होता है। शब्द–सकेतो के माध्यम से कवि जो कुछ भी व्यक्त करना चाहता है। प्रकारान्तर से वही कवि का मूल भाव या विचार हुआ। यहाँ यह सवाल उठ सकता है कि भाववादी कलावादी विचारको ने भी शब्द–सत्ता पर विशेष बल देते हुए अन्तत कविता के रूढवादी ढाँचे का ही समर्थन किया है, तो फिर मुक्तिबोध इन शब्द–व्यापारियो से अलग कैसे हुए? यह सही है कि काव्य में शब्द ही कवि के अंतिम विचार–वाहक है। लेकिन मुक्तिबोध ने अपने भाषिक चिन्तन मे उस कवि को महान माना है जो कि भाषा का निर्माण करता है इसका अर्थ साफ है कि भाषा का निर्माण भावानुसारी ही हो सकता है। और चूँकि स्वयं मुक्तिबोध ने भावों को 'बाह्य का अभ्यंतरीकृत रूप माना है। अत उनकी भाषा का दर्जा अपने आप ही कलावादी

विचारको से अलग हो जाता है। कहने की आवश्यकता नही कि मुक्तिबोध ने जिस 'उबड़-खाबड भाषा' का निर्माण किया वह इसी भयावह संसार को ही रूपायित करने के निमित्त ही बनी है। दूसरी बात यह है कि उन्होंने बहुत से लेखो मे स्वय 'रचना-प्रक्रिया' शीर्षक लेख मे भी माना है कि कवि के कथ्य के अनुसार ही रचना-प्रक्रिया बनती-बिगड़ती है। इससे यह भी साबित होता है कि प्रगति काव्य और लम्बी कविता की रचना-प्रक्रिया अलग-अलग है और प्रगतिकाव्य के अन्तर्नियमो के आधार पर मुक्तिबोध जैसे कवियो की लम्बी कविता को नही जाँचा जा सकता है। भाव के अनुसार भाषा की खोज एक बात है जबकि भाषा के अनुसार भावो खोज दूसरी बात। भाषा पर अधिक बल देने वाले जाहिरा तौर पर अपने स्वानुभूत भावों की बलि दिया करते है, कारण यह कि इससे उनकी भाषा की चमक बढ़ती है, जबकि कथ्य के नाम पर काव्य-रिक्तता पाई जाती है। भाषा के सम्बन्ध में मुक्तिबोध के जो भी विचार है वे 'तीसरा क्षण' में अन्तर्हित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रचना-प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण क्षण यह तीसरा क्षण ही है। इसी क्षण मे सारे अनुभवों को नया परिक्षेत्र (पर्सपेक्टिव) मिलता है, मनोमय रूप-तत्वों की काट-छाँट होती है, उसकी वृद्धि होती है और भाषा का निर्माण होता है।

मुक्तिबोध ने नई कविता को दार्शनिक आधार न मिलने पर गहरी चिन्ता जताई है, लेकिन इसके बावजूद भी वह मानते हैं कि नये कवियों पर . . . "सेवदनशील होने के नाते, मानव के कष्टपूर्ण जीवन का उन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। आज की विषम सभ्यता के भयानक दृश्यों से उनका भी चित्त क्षुब्ध हो जाता है।"[88] यही वेदना ही कवि को पीड़ितों तथा मजलूमों के पक्ष में खड़ा करने को विवश करती है। यही पक्षधरता ही उनके 'मूल उद्वेग और अनुरोध'[89] है, जिसके सहारे रचना- प्रक्रिया चली चलती है। "ये उद्वेग और अनुरोध ही वह लालटेन है, जिसको हाथ पर लेकर[90] कवि को आगे चलना होता है।

मानवीय–आस्था की जो मशाल (लालटेन) लेकर कवि वीरान राहो पर आगे बढने का उपक्रम करता है, वह आस्था, पक्षधरता प्राय अमूर्त है। इस स्थिति मे कवि हैरान होता है, कारण यह कि इस हवाई धारणा से तो मानवीय गरिमा लौटने से रही, मानव कष्ट कटने से रहे। इसीलिए वह एक वैचारिक दर्शन को ढूढ़ने का उद्योग करता है, जिसमे मानव–सन्तापो का काटने का कोइ वैज्ञानिक उपाय हो। जब मुक्तिबोध लिखते है कि–"अपने लक्ष्यो के प्रति हार्दिक स्नेह के बिना, जिज्ञासा आत्म सस्कार, आत्म निरीक्षण तथा आत्मसघर्ष सब व्यर्थ है। लक्ष्यो के प्रति दुर्दान्त स्नेह की आस्तिकता के बिना वास्तविक अस्मिता का विकास नही हो सकता, और उसी के सन्दर्भ मे हमेशा यह जाना जायेगा कि कवि किस सतह से बोल रहा है, यह हमेशा महत्वपूर्ण होता है और यही उसके निवेदनों या चित्रणों को द्योतित करता है।"[91] तो वे एक साथ ही कई बातों का खुलासा सा करते है, मसलन सवेदनात्मक उद्देश्य, कवि का अन्तर्व्यक्तित्व, पक्षधरता, आस्था और सबसे महत्वपूर्ण, मनुष्य को मनुष्योचित गरिमा प्रदान करने का अथक सकल्व व निष्ठा।

मुक्तिबोध के लिए वैचारिक आस्था का केन्द्र बिन्दु माकर्सवाद है। क्योंकि उन्होंने जिस जोश से कलावाद की स्वायत्ता सम्बन्धी समझ को अपने साहित्य विवेक के माध्यम से खारिज करने का प्रयास किया है, वह आकस्मिक नहीं है। रचना–प्रक्रिया के स्पष्टीकरण मे उन्होंने जो रूपक खड़ा किया है उसमे पथ की सगति को 'बाह्य संसार के आभ्यंतरीकृत रूप' से बैठाया है। इस बात में किसी शक की गुंजाइश नही होनी चाहिए क आत्मवादी दर्शन तथा वस्तुवादी दर्शन में जो सबसे मुख्य अन्तर है, वह यह कि भाववाद मन, चेतना, विचार, भावना, आत्मा आदि को प्राथमिकता देता है, जबकि भौतिकवाद या वस्तुवाद प्रकृति यानी पदार्थ को महत्व देता है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा मे जो कुछ है वह समाज प्रदत्त या पदार्थाश्रित है।

रही बात रचना को रूप प्रदान करने की, तो इसके लिए उन्होंने आत्मपरक शैली का चुनाव किया है। कामायनी : एक पुनर्विचार नामक अपनी किताब मे उन्होंने भाववादी शल्प एव यथार्थवादीदृष्टि तथा यथार्थवादी शिल्प एव भाववादी दृष्टि जैसी परस्पर विरोधी शैलियो का समाहार करते हुए अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में

घोषणा की है कि बहुत सम्भव है कि भाववादी शिल्प के अन्तर्गत वस्तु को देखने वाली दृष्टि यथार्थवादी हो।

रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण मे भी उन्होने इसी से मिलती–जुलती बात की है– "यह धारणा गलत है कि आत्मपरक काव्य व्यक्तिवादी काव्य है। भारतीय सस्कृति द्वारा विकसित की गई परम्पराओ मे से एक परम्परा आत्मपरक काव्य की है। आत्मपरक काव्य मे प्रगतिशील जीवन मूल्य भी प्रकट होते है, होते रहते है।"[92]

मूल उद्वेग या आभ्यंतर वास्तव मे जिनके सहारे रचना–प्रक्रिया चलती है, के बाद जिन दो तत्वो पर मुक्तिबोध न`अधिक जोर दिया है। वे है 'आलोवचन धर्म का विकास' और 'भावों का आभ्यतर सम्पादन'। ए दोनो ही क्रियाएं मानसिक ओर लगभग एक ही समय सम्पादित होती है। दरअसल लगता है कि इन दोनो की क्रियाओं का संकेत ऐसे कवियों की रचना–प्रक्रिया की ओर है जो मानववादी विचारो से कार्यों से अपना तदाकार नहीं स्थापित कर पाये है। क्योंकि मुक्तिबोध ने बाद के वर्षों अर्थात् पचास के दशक के दौरान अपना जो भी आडियोलॉजी तैयार किया उसमे आलोचन धर्म के विकास और आभ्यंतर सम्पादन की उतनी गुजाइश मालूम नही पड़ती। क्योंकि उनका दृष्टिकोण एकदम स्पष्ट और निर्द्वन्द्व हो चुका था, लेकिन नई कविता के क्षेत्र मे कुछ ऐसे भी कवि थे जो सतही वैचारिकता के शिकार थे, ऐसे ही कवियों को लक्ष्य करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि– "रचना– प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ते ही हमारे सामने कइ समस्याए और कर्तव्य खड़े हो जाते हैं।"[93]

नि सन्देह रचना–प्रक्रिया एक समस्या है, कवियों के लिए लेकिन वह एक कर्तव्य भी है इस चीज का गहरा एहसास केवल मुक्तिबोध जैसे कवियों को ही था। वे स्वयं जिस आन्दोलन की उपज थे उसकी अच्छाइयों एवं बुराइयों से वाकिफ होते हुए भी बुराइयों के सतत निदान की बात उनके जैसा प्रतिबद्ध विचारक ही सोच सकता है, स्वयं उनके लिए यह कर्तव्य क्या था, बकौल मुक्तिबोध ही– "आज रचना–प्रक्रिया पर विचार करते हुए हमें नई कविता के सतही पन पर, या कि सतही नई कविता पर प्रकाश डालकर इस बात पर सोचना होगा कि

क्या किया जाय कि जिससे नई कविता, जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र के विविध रगों से दीपित होकर, एक वैविध्यपूर्ण जीवन–क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर सके तो दूसरी ओर स्वात्मकता के खरे और भरे रंग उसमे खिल सके।"[94] नई कविता को सतहीपन से उबारने के लिए उनहोने 'आत्मसघर्ष' को महत्व दिया, लेकिन इस सघर्ष को बढ़ाने मे जो सबसे बड़ा खतरा है वह है रचनात्मक परम्परा मे नौसिखियापने का यातनामय संसार। कहने की आवश्यकता नही कि इस ससार के शिकार छायावादी कवियो मे निराला रहे ओर नई कविता में मुक्ति बोध। जेसा कि मुक्तिबोध ने इस प्रेक्ष्य में लिखा है कि –"आत्मसघर्ष के दौरान मे एक बड़ी बाधा यह उत्पन्न होती है कि कवि अपने को हमेशा शुरू की सीढ़ी पर, एक अल्पबुद्धि 'बिगिनर' एक नौसिखिया उम्मीदवार के रूप मे पाता है। साथ ही, वह एक विचित्र प्रकार का अकेलापन महसूस करता है, क्योंकि जिस काम में वह व्यस्त है, जिसमे शायद ही कोई संलग्न हो। एक ओर प्रकट होने के लिए बेचैन यथार्थ उसकी क्षमता को चुनौती देता है। यहाँ तक कि कभी–कभी उस चुनौती को ग्रहण करने के दौरान मे कन्डीशन्ड साहित्यिक रिफलेक्सेज बीच मे आकर उसके हृदय मे आत्मविश्वास की हानि की घटना घटित कर देते हैं। मेरी अनगिनत रचनाए इस घटना से खण्डित होकर इधर – उधर बिखरी पड़ी है।"[95]

किन्तु कवि जब 'सृजन कर चुकता है तो "उसकी रचना वस्तुत पुनर्रचित जीवन ही होती है– वह जीवन जो वस्तु पक्ष, आत्मपक्ष की क्रिया–प्रतिक्रिया के उलझे रूप से बना है।"[96]

क्रम संख्या	सन्दर्भ ग्रन्थ अनुसूची एवं पृष्ठ संख्या		लेखक
1	साहित्य दर्पण (द्वितीय परिच्छेद)	4	आचार्य विश्वनाथ कविराज
2	वही	26	"
3	वही	वही	वही
4	वही	वही	वही
5	वही	27	"
6	शब्द रसायन	72	देव

7	साहित्य दर्पण	29	आचार्य विश्वनाथ कविराज
9	चिन्तामणि भाग–2	123	आ0 रामचन्द्र शुक्ल
10	साहित्य दर्पण	39	आ0 विश्वनाथ कविराज
11	वही	40	"
12	काव्य प्रकाश 1/4	मम्मटाचार्य	
13	रघुवश 1/1	कालिदास	
14	साहित्य दर्पण	14	आचार्य विश्वनाथ कविराज
15	वही	15	वही
16	सस्कृत आलोचना	–	आ0 बलदेव उपाध्याय
17	सिद्धान्त और अध्ययन	45	बाबू गुलाबराय
18	साहित्य दर्पण	15	आ0 विश्वनाथ ऋविराज
19	सिद्धान्त और अध्ययन	227	बाबू गुलाबराय
20	सस्कृत आलोचना	167	आ0 बलदेव उपाध्याय
21	रस गगाधर	25	पंडितराज जगन्नाथ
22	काव्य–प्रकाश–8/70		आ0 मम्मट
23	साहित्य दर्पण–15		आ0 विश्वनाथ कविराज
24	संस्कृत आलोचना	174	आ0 बलदेव उपाध्याय
25	सिद्धान्त और अध्ययन	229	बाबू गुलाबराय
26	काव्यदर्श(1/2/7		आ0 दण्डी
27	शैली विज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका		डॉ0 रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव
28	सस्कृत आलोचना	178	आ0 बलदेव उपाध्याय
29	वही	178	वही
30	चन्द्रालोक		जयदेव
31	साहित्य दर्पण	16	विश्नाथ कविराज
32	काव्यालंकार–1/13 (सिद्धान्त और अध्ययन)	31	बाबू गुलाबराय
33	काव्यभाषा पर तीन निबन्ध	50	रामस्वरूप चतुर्वेदी
34.	वही	51	वही
35	संस्कृत आलोचना	203	आ0 बलदेव उपाध्याय
36	काव्य भाषा पर तीन निबन्ध	51	रामस्वरूप चतुर्वेदी
37	सिद्धान्त और अध्ययन	31	बाबू गुलाबराय

38	काव्य भाषा पर तीन निबन्ध ﴾भूमिका﴿	39	डॉ0 सत्यप्रकाश मिश्र
39	वही	वही	वही
40	काव्यदर्श﴾सस्कृत आलोचना﴿		डॉ0 बलदेव उपाध्याय
41	भोज शृगार प्रकाश	318	राघवन
42	कर्पूर मजरी	–	राजेश्वर
43	भूमिका ﴾काव्य भाषा पर तीन निबन्ध﴿		स0 डॉ0 सत्य प्रकाश मिश्र
44	वक्रोक्ति जीवितम् ﴾उद्धृत संस्कृत आलोचना﴿	188	आ0 बल्देव उपाध्याय
45	सस्कृत आलोचना	190	आ0 बल्देव उपाध्याय

क्रम संख्या	सन्दर्भ पुस्तक अनुसूची एवं पृष्ठ संख्या		लेखक
46.	शेखर एक जीवनी भाग–1		'अज्ञेय'
47	आत्मनेपद	240	'अज्ञेय'
48	इण्डिया टुडे.साहित्य वार्षिकी अंक 1996	28	
49	पंद प्रसाद और मैथिलीशरण	72	दिनकर
50	एक साहित्य की डायरी ﴾भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन﴿	26	मुक्ति बोध
51	एक साहित्य की डायरी	20	"
52.	मुक्तिबोध रत्नावली.5	239	'
53.	चाँद का मुँह टेढ़ा है		"
54.	एक साहित्य की डायरी	27	"
55	कविता के नये प्रतिमान	231	नामवर सिंह
56	मुक्तिबोध रत्नावली–1	152	मुक्तिबोध
57	एक साहित्यिक की डायरी	20	मुक्तिबोध

58	मुक्तिबोध रत्नावली 1,	257	मुक्तिबोध
59	राग–विराग, (स0 डॉ0 रामविलाश शर्मा)	67	निराला
60	काव्य मे उदात्त तत्व	91	डॉ0 नगेन्द्र
61.	मुक्तिबोध एक अवधूत कविता	4	श्री नरेश मेहता
62	एक साहित्यिक की डायरी	21	मुक्तिबोध
63	मुक्तिबोध प्रतिनिधि रचनाएँ (स0–अशोक बाजपेयी)	116	मुक्तिबोध
64.	रागविराग (स0–डॉ0 रामविलास शर्मा)	80	निराला
65	मुक्तिबोध प्रतिनिधि रचनाए (स0–अशोक बाजपेयी)	86	मुक्तिबोध
66.	वही	वही	वही
67	एक साहित्यिक की डायरी	26	"
68	वही	28	"
69	चाँद का मुँह टेढ़ा है	–	"
70	वही	–	"
71	कविता के नये प्रतिमान	228	नामवर सिह
72	नया प्रतीक (जून अंक)	14	
--	सन् 1969		

रचना प्रक्रिया . मुक्ति बोध

	लेखक सम्पादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ
73	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली	249
74	उप0	"	72
75	"	"	218–19
76	"	"	249
77	"	"	249
78	"	"	69
79	"	"	106–07
80	वेबेस्टर थर्ड इन्टरनेशनल डिक्शनरी वालयूम–।		823
81	उप0		822
82	मुक्ति बोध	एक साहित्यिक की डायरी	20–21
83	उप0	"	23
84	"	मुक्तिबोध रचनावली–5	250

क्रम स0	लेखक/सम्पादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ
85	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	215
86	"	"	223
87	"	"	213
88	"	नई कविता का आत्म सघर्ष तथा अन्य निबन्ध	18
89	"	"	27
90	"	"	27
91	"	"	29
92	"	"	29
93	"	मुक्तिबोध रचनावली–5	249
94	"	"	250
95	"	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा निबन्ध	26

पंचम अध्याय

काव्यभाषा के सृजनात्मक तत्त्व

काव्य भाषा के सृजनात्मक तत्व मुक्ति बोध

प्रत्येक सार्थक कवि का अपना एक विशिष्ट सर्जक–व्यक्तित्व होता है, जो वस्तुत नियामक तत्व होता है। इस सर्जक व्यक्तित्व की रचना–ससार के गुण, विस्तार, फलक और प्रकृति की पहचान उसकी सृजनात्मक भाषा से होती है। जैसा कि मुक्तिबोध ने माना है कि प्रत्येक रचना 'तीन क्षणों' का परिणाम होती है, जिसमे "कला का पहला क्षण है जीवन का तीव्र उत्कट अनुभव–क्षण।

दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते–दुखते हुए मूल्यो से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैटेसी अपनी आँखो के सामने खड़ी हो। तीसरा और अतिम क्षण है इस फैटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का प्रारम्भ और इस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है।"[1] इस उद्देश्य से निष्कर्ष निकला कि भाषा कवि–अनुभव और ज्ञान का साधन है और कविता की भाषा का विश्लेषण करके उसके अनुभव की शक्ति को मापा जा सकता है। अब यदि कोई यह कहे कि कवि ने अनुभव तो बहुत किया, लेकिन भाशा की असमर्थता की वजह से अपनी बात को पूरी तरह कह नहीं पाया। तो सवाल उठता है कि कवि ने जो कुछ भी अनुभव किया है, उसका प्रमाण कविता के अलावा क्या हो सकता है? जैसा कि 'अज्ञेय' ने लिखा है कि– "कविता ही कवि का परम वक्तव्य है।"[2] जो कि उपरोक्त प्रश्न का उत्तर है।

रचना में भाषा ही लेखक का प्रतिनिधित्व करती है। कोई भी लेखक अपने प्रयोजन और अनुभवो की वृद्धि में रखकर ही अपनी भाषा का चुनाव और रचाव करता है। रचना में प्रयुक्त बिम्ब और प्रतीक या कि सम्पूर्ण ढाँचा रचनाकार के जीवन के अनुभवों से निर्मित होता है। मुक्तिबोध के यहाँ इस अनुभव तत्व का अन्यतम और असंदिग्ध महत्व है। इस अनुभव में जहाँ साकार रूप में कुछ चीजे है तो दूसरी तरफ समाज–प्रदत्त बहुत सी चीजें हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि संस्कारों को, बाद का सामाजिक प्रदाय ही पुष्ट करने के साथ–साथ दिशा

भी देता है।

मुक्तिबोध बेशक एक भाववादी शैली के कवि है लेकिन उनके भाववाद को पाश्चात्य भाववाद अथवा भारतीय अद्वैतवाद से गड्ड–मड्ड करके नही देखा जाना चाहिए। यो तो दुनिया को देखने के दो तरीके है ही पहला भाववाद दूसरा वस्तुवाद जहाँ पर पहले तरीके का सम्बद्ध आत्मपरकता से है वहीं पर दूसरे तरीके का सम्बद्ध चेतना से है जो कि कही न कही बुद्धि का भी यथार्थ है। शुद्ध वस्तुपरकता को आधार मानकर साहित्य मे जिस दार्शनिकता का जन्म हुआ वह मार्क्सवाद के नाम से जाना गया। जैसा कि मुक्तिबोध ने कामायनी को एक भाववादी शैली का महाकाव्य मानते हुए लिखा है कि "यूरोप मे सभ्यता सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम कर रही थी। एक तो मार्क्सवादी प्रवृत्ति जिसने आगे चलकर समाजवादी समाज की स्थापना की, और एक आदर्शवादी प्रवृत्ति जिसने भाववादी रीति से पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना की उनमे सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ स्पेंगलर। × × × × × × × × × प्रसाद की पूँजीवादी सभ्यता की भाववादी समीक्षा पूजीवादी वास्तविकताओं को ही लेकर चली है।"[3] कहने की आवशकता नही कि प्रसाद जी ने इच्छा कर्म, और ज्ञान के समन्वय के जिस मौलिक सवाल को उठाते हुए उसे मात्र व्यक्ति तक ही सीमित कर दिया है व न केवल असंगत है बल्कि वह व्यक्तिवादी धरातल पर ही इतने बड़े सवाल को हल करने का दावा भी करता है। असल मे इच्छा ज्ञान और कर्म का जो समन्वय–स्वप्न प्रसाद जी देखते हैं वह केवल बौद्धिकों, दार्शनिकों और कवियो का ही स्वप्न नही है बल्कि वह समूची मानवता का पक्ष प्रश्न है और इस प्रश्न को हिमालय पर हिमालय पर जैसे हल होता हुआ प्रसाद जी ने दिखाया है उससे लगता है कि उनके सामने समस्या तो इस जिन्दगी की थी लेकिन उसका हल या तो था ही नही अथवा वायवी (हवाई) था। यह बात आज की तात्कालिक व्यवस्था मे और भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है कि समाज का एक बहुत बड़ा तबका न केवल इस व्यवस्था से आक्रान्त है है वरन् निराश भी है, क्योंकि इस यातना से मुक्ति की कोई राह सूझती नहीं दिखाई देती। यदि कोई भविष्य के सुखद स्वप्न को सँजोने का उपक्रम भी करता है तो उसे 'रूमानी आशावाद' कहके

उसका मखौल सा उडाया जाता है। मुक्तिबोध की बहुत सी कविताएं इस रूमानी आशावाद की कथित शिकार है। निश्चय ही वे निराशा की इस भेड़याधसान में शामिल नही है, बलिक इस रूमानीयता को संघर्ष से हल करने का प्रयास भी करने का सार्थक प्रयास भी करते है। उनकी कविताओ मे इसीलिए सघर्ष के बिम्ब बहुतायत मिलते है। चूँकि उम्मीद पर ही दुनिया कायम है, और यही उम्मीद ही मानव को क्या करूँ, क्या नही करूँ मुझे बताओ" जैसे असमजसपूर्ण और बेहद हैरतनाक सवालो के बावजूद "कमजोर घुटनो को बार–बार मसल, लडखड़ाता हुआ मैं"[4] दरवजा खोलने के लिए तत्पर करता है। तो एक रास्ता तो यह है दुनिया को देखने का और अपनी प्रतिक्रिया बदलने का, दूसरा रास्ता है, शुद्ध रूमानी, जिसमे संघर्ष को मात्र हवाई दर्शन के आधार के आधार खारिज करते हुए आनन्द की बलात् तुष्टि की जाती है। "समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था, चेतनता एक बिलसती आनद अखड घना था।"[5]

इस "आनन्दवाद की स्थापना निश्चय ही मनुष्य मात्र का लक्ष्य हे, लेकिन इसकी स्थापना के लिए जिस सघर्ष की जरूरत है वह प्रसाद जी की दृष्टिकोण नहीं है। मुक्तिबोध स्वय "फैंटेसी के रचनाकार है और कामायनी भी उनकी दृष्टि मे "फैंटेसी ही है, बल्कि एक विशाल फैंटेसी। लेकिन शैली एक होने के बावजूद प्रश्नों के संगत उत्तर को जिस बौद्धिकता और तर्क प्रणाली की महती जरूरत होती है उसे जयशंकर प्रसाद जी ने मात्र "श्रद्धावाद" द्वारा खारिज कर करने का उपक्रम किया है। यहाँ पर कामायिनी के इस अंतिम परिणित की मुक्तिबोधीय टिप्पणी पर डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी की राय की जाँच भी बेहद जरूरी हो जाती है जिसमे उन्होंने लगभग आश्चर्य मिश्रित व्यग्य के लहजे मे लिखा है कि "पुस्तक की यह रोचक बिडबना है कि "कामायनी" को 'फैटेसी' के रूप मे प्रस्तुत करते हुए भी वह अंत में मनु के हिमालय जाने को वैसी ही स्थूल घटना के रूप मे स्वीकार करती है जैसा कि कामायनी की कुछ अन्य परम्परित समीक्षाओं में किया गया है।"[6] दरअसल डॉ0 चतुर्वेदी की 'बिडंबना' इस लिए दिखती है कि उन्होंने फैटेसी को भाववाद को उल्था मान लिया है उन्होंने फैंटेसी को दिशा देने वाले 'संवेदनात्मक उद्देश्य' और भाववाद के रूप में हुए वस्तुवाद को अलक्षित किया है। जैसा कि मुक्तिबोध लिखा है कि –"भावात्मक उद्देश्य के द्वारा ही फैटेसी को

रूप रंग मिलेगा"[7] तथा यह भी कि –"भाववादी कला मे कल्पना वास्तविकता के यथार्थ बिम्बो मे न उलझकर उस वास्तविकता को मात्र प्रतीको द्वारा समष्टि चित्रो द्वारा सूचित भर कर देती है। इस प्रकार के शिल्प मे वास्तविकता प्रतीकात्मक रूप से ही झलकती है।"[8] डॉ0 चतुर्वेदी की 'हिमालयान बिडबना' इस लिए क्योंकि कामायनी मे जिस वैज्ञानिक प्रविधि के विस्तार के साथ–साथ मनुष्य की बिडबनाओ मे होती श्रीवृद्धि और इस संत्रास से मुक्ति का मानव–प्रयास, जिस इच्छा, ज्ञान और कर्म के समन्वय से हल होते दिखाया गया है, उसका प्रतीकार्थ क्या हो सकता है? जब सवालो को ही सीधे–सीधे उठाया गया है कि "

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है इच्छा क्यो पूरी
हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके यह बिडबना है,
जीवन की।"

स्पष्टतया सवाल में आये 'इच्छा', 'कर्म' और ज्ञान की कोई प्रतीयमान सत्ता दिखाई नही देती है। तो जब प्रसाद जी ने 'मनु–बिडबना' समाप्त करने के लिए 'त्रिपुर–रेख' के माध्यम से इन तीनो का समन्वय किया, तो उस हिमालयीन घटना का कौन सा प्रतीकार्थ डॉ0 चतुर्वेदी ढूढ़ना चाहते हैं, समझ से परे है। मान लिया जाय कि यदि 'मनु' हिमालय पर न भी जाता तो भी इच्छा कर्म और ज्ञान का समन्वय वैसा ही होगा जैसा कामायनी मे है। क्योंकि 'फैटेसी' का 'संवेदनात्मक उद्‌देश्य' जो कि लेखक को सुचिन्तित विचारों का प्रतिनिधित्व भी करता है, अपनी असगतियो के बावजूद पूर्ण कर लिया जाता, जैसा कि किया गया है। कामायनी मे विवाद और भी हो सकते है, लेकिन प्रसाद जी के मूल मनतव्य अर्थात् 'आनन्दवाद' की स्थापना मे कोई विवाद ओर सदेह की गुंजाइश नहीं है।

किसी भी रचना को उसके भाषिक आधार पर ही विश्लेषित करने की विधि कविता को एण्ड 'आटोनोमस' इकाई या रूप (form) मानने से जुड़ी है। नव्य समीक्षको ने काव्य–कला का आत्मपरक और निजी जिन्दगी की गर्दो–गुबार के काव्यात्मक विश्लेषण से हटाते हुए यह प्रस्ताव किया कि – "पाठक

और आलोचक को केवल कविता के भीतर प्रयुक्त अक्षरो, शब्दों, पंक्तियो, बिम्बो, प्रतीको आदि के बीच उपलब्ध विविध सम्बन्धो का विश्लेषण और व्याख्या करनी चाहिए। इस प्रकार की आलोचना की पहली शर्त यही थी कि कविता को कविता के रूप मे ग्रहण किया जाये न कि दर्शन या विचार धारा के माध्यम के रूप मे।[9] किन्तु क्या यह सम्भव है कि कोई कविता विचार-मुक्त हो जायँ? यदि विचार का आशय किसी जमे-जमाए दार्शनिक सिद्धान्तों स है तो हो सकता है कि कविता उस कथित सिद्धान्त की जकडबन्दी से मुक्त हो जाय लेकिन यदि जीवन के देखने की-दृष्टि ही विचार का पर्याय है तो इस समस्या से निजात पाना मुश्किल है।

कविता के विषय में यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि कविता मुख्य रूप से कवि के आन्तरिक भावों का मूर्त रूप है और वह इन्हीं अनुभवो को, जो कि उसे वैचारिकता द्वारा अथवा समाज से प्राप्त होते है- को मूर्त करने के उद्देश्य कविता में कुछ ऐसे मूर्त पदार्थों को ले आता है जो कि कवि के उक्त भावो को सम्प्रेषित करने मे सहायक होत है। इन मूर्त वस्तुओ मे बिम्ब, प्रतीक और मिथक का स्थान सर्वोपरि है। कविता की सम्प्रेषणीयता की दोहरी प्रक्रिया होती है। एक तो कवि अपने अमूर्त भावों को मूर्त करने के लिए नवीन वक्रोक्तियों मे ले आता है तो दूसरी तरफ पाठक उन्हीं वक्रोक्तियों द्वारा कवि के भावों तक अपनी सेंध लगता है और भी कलात्मक सत्यो में से एक है कि कवि इन्ही बिम्बो, प्रतीको तथा मिथकों को अपनी कला मे स्थान देता है जो इसके वैचारिक औचित्य को पूरी वस्तुपरकता से सामने लाने मे समान होते है। अतएव कला की अपनी सम्पूर्ण स्वायत्ता कहीं न कहीं किसी विचार, काल, स्थान से अनिवार्यत जुडी है। अत हमें किसी भी कविता पर विचार करने के लिए उसके कथ्य पर भाषा से अधिक ध्यान देना पड़ेगा। क्योंकि कथ्य से कथन को प्राप्न किया जा सकता है, लेकिन मात्र कथन से कथ्य को प्राप्त करने में बहुतायत गड़बड होती है। मुक्तिबोध का यह कथन इस सन्दर्भ में बहुत ही महत्व का है- "मै उन लोगो का समर्थक नहीं हूँ जो सफाई के नाम पर, सफाई के लिए 'कैण्टेण्ट' (काव्य-तत्व) की बलि दे देते हैं।"[10] यही वजह है कि मुक्तिबोध

कला के स्तरीय सघर्ष की बात करते है और उस संघर्ष में सर्वप्रथम स्थान 'तत्व के लिए सघर्ष ' का है।

जैसा कि कहा गया है कि कथ्य से शुरुआत करके कथन को अलक्षित नही कर सकते बल्कि कथन ही कथ्य को जानने का एकमात्र कारक है। लेकिन जरूरी नही कि कथन (भाषा) से शुरू करके हम कवि के किसी निष्कर्ष तक पहुँच ही जाय। आकस्मिक नही कि कविता में प्रयुक्त भाषिक बिम्ब, प्रतीक और मिथक अपनी सादी वस्तुगत सहसम्बत्रता के बावजूद कभी- भी न तो पाठक की "फीलिंग्स" को ही जागृत कर पाते है और न ही कवि के भावो का मूर्तीकरण। अतएव बिम्बो, प्रतीको तथा मिथकों का सन्दर्भ जब तक पाठक जान नही पाता, कविता के अर्थ सघान मे अड़चन ही होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मूल-भावो तक पहुँचने के लिए हमें कवि के उस वैचारिक धरातल को जानना अत्यन्त अपरिहार्य है, जहाँ वह खड़ा है।

किसी लेखक को आँकने के लिए उसकी चन्द एक रचनाओं को ही आधार बनाकर बाकी विशाल साहित्य को छोड देना उसके साथ अन्याय है। इसका एक छोटा सा उदाहरण 'अभिप्राय' का 'निराला और स्वाधीनता की अवधारणा' विशेषाक है जिसमें बहुत से लेखको/विचारको का निराला को लेकर नए सिरे से विचार किया गया है। विचारों की 'प्रगतिशीलता' की बानगी कुछ उदाहरणो से स्पष्ट हो जाएगी.

(1) उनकी मुख्य भूमि है हिन्दू मिथकों वाली वह दुनिया, जिसमें राम हैं, तुलसीदास है, देवी-देवता और इतिहास पुरुष है।"[11]

(2) "'राम की शक्ति पूजा' में जिस शक्ति की आराधना और परिकल्पना है, वह लौकिक नही है और न वह वैयक्तिक जिजीविषा का रूप है वह अलौकिक है और मिथको पर आधारित है। इस कविता में राम धर्म के और रावण अधर्म के प्रतीक है और अधर्म पर धर्म की विजय में राम को सफलता

मिली है। यह निराला की ब्राह्मणवादी मानसिकता ही है जो राम को धार्मिक मानती है और रावण को अधार्मिक। सच्चाई यह है कि राम-रावण सघर्ष धर्म का नही दो सस्कृतियों का सघर्ष था। राम ने छल-बल और अधर्म के बल पर रावण की समतावादी रक्ष सस्कृति को ध्वंस करके और रावण का बध करके ब्राह्मणवादी सस्कृति की स्थापना की। निराला का यह कवित्त न सिर्फ भाषा की दृष्टि से, बल्कि वैचारिक दृष्टि से भी सबसे निकृष्ट कविता है।"12

(3) निराला का 'आवाहन' कविता मे 'असुर' शब्द की वैचारिक प्रगतिशील निष्पत्ति यह कि - "यह असुर कौन हैं? इसे परिभाषित करना मुश्किल है। यदि असुर का अर्थ दुष्ट लोगो से है तो दलितो की दृष्टि मे सवर्ण असुर है, सवर्णों की दृष्टि मे दलित असुर है। मालिक के लिए मजदूर और मजदूर के लिए मालिक असुर है।[13]

(4) निराला में सनातन अतीत का पुनरुत्थान भी है जिसके कारण वह प्रगतिवादियो से ज्यादा संघ परिवार के लिए वन्दनीय कवि है।"[14]

इन उदाहरणों में स्पष्ट रूप से आपत्ति यह है कि निराला के मिथक हिन्दू और स्वर्ण मानसिकता दूसरे शब्दों में ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण से सम्बद्ध है। लेकिन असली सवाल यह नहीं है कि मिथक हिंदू जातीयता से लिये गए है अथवा इस्लाम/ईसाई संस्कृति से। सवाल है कि उन मिथको के उद्धृत सार्थक प्रयोग से, जो कि रचनात्मक औचित्य को प्रदर्शित करता है। निराला ही नही किसी भी बड़े रचनाकार की वैचारिकता में अन्तर्विरोध हो सकता है लेकिन यह कहना कि वे सर्वथा प्रतिक्रियावादी विचार को बढ़ाने मे अपना योग दे रहे है नही माना जा सकता।

निराला को बहुत से प्रगतिवादी विचारक जनसंघ के खेमें मे इसालिए रख देना चाहते है क्योंकि उन्होंने 'महाराज शिवाजी का पत्र' जैसी रचनाए भी लिखी हैं और जब-जब इस रचना का सन्दर्भ निराला के सम्बन्ध में आता है तब-तब सारे विचारक पिछले पैर पर आ जाने को मजबूर से हो जाते है

चाहे वे दूधनाथ सिह हो कवल भारती हों अथवा स्वयं अभिप्राय सम्पादक डॉ0 राजेन्द्र कुमार। दरअसल इसका एक बड़ा कारण यह हो सकता है कि कथित धर्म निरपेक्षता के नाम पर ऐतिहासिक तथ्यों से खिलवाड किया जाता है। इन सभी विचारकों की कमोवेश राय यही है कि शिवाजी और औरगजेब का युद्ध महज एक राजनीतिक और सत्ता प्राप्ति के निमित्त हुआ था। और इस क्रम मे उन्होने शिवाजी को भी 'महान लुटेरा' तथा रक्त पिपासु ठहराने की दिमागी कवायत भी की है। दूधनाथ सिह ने तो बाकायदे इतिहासकार जदुनाथ सरकार को उद्धृत करते हुए लिखा है कि– "शिवाजी ने तीन बार पूना जीता और तीनो बार मराठो ने खुलकर पूरे शहर मे लूट–पाट की।"[15]

इसी अभिप्राय–अक मे दूसरे महत्वपूर्ण विचारक डॉ0 नामवर सिह जी है, जिन्होंने भारतीय जनता पार्टी के पोखरण विस्फोट तथा अग्नि–2 मिसाइल कार्यक्रमो को सवर्ण मानसिकता से जोड़ते हुए यह क्षोभ व्यक्त किया है कि– "जबकि राष्ट्रवाद के बाकी रूप या अंग मसलन आदिवासी या देश में आजादी के बाद रह गए गरीब मुसलमान जो कि क्षेत्रो में ही पीड़ित होते बल्कि समाज के भैद–भाव से भी पीड़ित हैं वे सब भी तो आखिर इसी राष्ट्र के अग है। इसाइयों के साथ बर्बरता बरती जा रही है।"[16]

डॉ0 नामवर की नजरों में स्पष्टतया फिलवक्त –

(1) सत्ता ही सामाजिक भेद–भाव का कारण है।

(2) सभी धर्मों को एक ही राष्ट्र मे बराबरी से जीने का हक है और यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो – "एक रोज में भयावह संत्रास छा जायेगा। दमन भी एक आतंकवादी प्रक्रिया लेकर आएगा।"[17] चूंकि सत्ता 'हिन्दूवादी फासिस्तों' की है, अत जाहिरा तौर पर जो 'प्रतिक्रियावादी आतंकवाद' आने वाला है वह मुसलमान और ईयाइयो की ही ओर से 'स्पान्सर्ड होगा। अब फिर पीछे अर्थात् 'शिवाजी महाराज का पत्र' की ओर लौटा जाय। वहाँ सत्ता अर्थात् दिल्ली पर आधिपत्य किसका है? औरगजेब का। बर्बरता किससे हो रही है? हिन्दुओ से। इसका अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि औरगजेब क्रूरता और 'रिजिडनेस' का प्रतीक है और

शिवाजी उदारता तथा मानवता का जिसके प्रमाण मे औरगजेब के इतिहासकार खाफी खाँ को लिया जा सकता है। खाफी खाँ ने लिखा है कि शिवाजी स्त्रियो तथा मुस्लिम धर्मग्रन्थ और उसके पूजा घरो (मस्जिदों) का बहुत सम्मान करता था।"[18]

इसी से मिलता-जुलता वक्तव्य अग्रेज इतिहासकार "रौलिसन" का है उसने लिखा है कि "शिवाजी कभी भी जान-बूझकर अथवा उद्देश्यहीन होकर क्रूरता नही करता था। स्त्रियो, मस्जिदो एव लड़ाई न लड़ने वालो का आदर करना युद्ध के बाद कत्ले-आम बन्द कर देना- ए निश्चय ही साधारण गुण नहीं है।"[19]

कॅवल भारती पहले ऐसे भारतीय 'मनीषी' है जिन्होने पहली बार इतने महत्व का अनुसन्धान किया कि समतामूलक समाज का मूल स्त्रोत रावण राज्य था। जिसका मतलब यह है कि 1789 मे फ्रास की जिस क्रान्ति को पहली बार जनवादी-मूल्यों-समता, स्वतन्त्रता और न्याय जैसे सिद्धान्तों का श्रेय दिया जाता है वह रावण के दरबार से ही चल कर आया था न कि रूशो' के प्रभाव से जेसा कि आज तक के देशी-विदेशी-विद्वान मानते चले आ रहे हैं। और उस रावण के खिलाफ 'अन्यायी असामाजिक' राम ने छल-बल और अधर्म के बल पर जेहाद छेड़कर ब्राह्मणवादी-सस्कृति की स्थापना की। उनकी प्रगति-शीलता तब और 'प्रखर' प्राप्त करती है जब वे दलितो के साथ होने वाले अत्याचार को आकस्मिक तौर पर रावण के साथ राम द्वारा किये जाने वाले 'अत्याचार' से जोड़ते है। चूँकि रावण का प्रसंग आ ही गया है तो लगे हाथ मुक्तिबोध द्वारा लिखी कविता "लकड़ी का बना रावण" की भी जाँच कर ली जाय। जैसा कि नामवर सिंह ने इस कविता के प्रसंग में लिखा है कि - "ऊपर से देखने पर यह व्यवस्था चाहे जितनी भयानक हो, पर है वस्तुत 'लकड़ी का रावण' ही। इस व्यवस्था के आन्तरिक खोखलेपन की ओर मुक्तिबोध ने जगह-जगह संकेत किया है।"[20] यह तो हुई आलोचक की बात, जिसमे वह रावण को एक खतरनाक

तंत्र का प्रतीक मानता है और इस तंत्र की चिन्ता की ओर जैसा कि मुक्तिबोध ने स्वय इशारा किया है कि

बढ न जायं,

छा न जाय

मेरी इस अद्वितीय

सत्ता के शिखरो पर स्वर्णिम

हमला न कर बैठे खतरनाक

कुहरे के जनतंत्री/वानर ए नर ए।।"21

कहने की आवश्यकता नही है कि अभी तक प्राच्य भारतीय चिन्तन मे वानरो को राम का संगी–साथी, मित्र–सहचर घोषित किया गया है। इस सारे प्रकरण का उद्‌देश्य मात्र यह दिखाना था कि हिन्दी–साहित्य का नई दिशा देने का दावा करने वाले हमारे मान्य आलोचक भी अपनी–अपनी चकबन्दी–शैली, की आलोचना मे कितने बेचारे हैं, कबीर ने ऐसा ही बेलाग वक्ताओं के खिलाफ कभी कहा था – "हिए तराजू तौलिए तब मुख बाहेरि आन'।

मुक्तिबोध की रचनाओ को और मनोरचना को समझने के लिए जैसा कि डॉ0 रामविलास शर्मा ने प्रस्ताव किया है कि– "उन दी बिम्ब–योजना पर ध्यान देना आवश्यक है। बिम्बों का प्रतीकार्थ बौद्धिक स्तर पर बदलता रहता है किन्तु बिम्ब स्वयं बहुत कम बदलते हैं। इसका कारण यह है कि बिम्ब चेतना के जिस स्तर पर उभरते हैं, वह बौद्धिक नहीं है।"22

जैसा कि इस निबन्ध मे पहले ही प्रस्तावित करने का प्रयास किया गया है कि मुक्ति–बोध की बिम्ब रचना को समझने के लिए लेखक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को कविता के साथ लेकर चलना पड़ेगा क्योंकि उनकी कविता 'टोटल इन्वॉल्वमेन्ट' की कविता है, शैली उनकी असदिग्ध रूप से भाववादी है, लेकिन चीजो को देखने की शैली बहुत ही जागे हुए होश की है। जेसा कि उन्होंने अपनी कविता की रचना–प्रक्रिया के सन्दर्भ मे समझाया भी है, प्रसग दो मित्रों के बीच कविता को लेकी बहस की है जिसमे एक तो स्वयं कविवर है, दूसरा है उनका ही

प्रतिरूप, मित्र या उनसे इत्तेफाक रखने वाला हर पाठक। तो जैसा कि सवाद सूचित करता है "अगर तुम्हारी कविताए किसी को उलझी हुई मालूम हो तो तुम्हे हताश नही होना चाहिए मैं तुम्हारी कविताए ध्यान से पढता हूँ। × × × × × × ×तुममे और मुझमे एक बडा अन्तर यह है कि विचार मुझे उत्तेजित करके क्रियावान कर देते है। विचारो को तुम तुरन्त ही सवेदनाओ मे परिणित कर देते हो। फिर उन्ही सवेदनाओं के तुम चित्र बनाते हो। विचारो की परिणति संवेदनाओ में और सवेदनाओ की चित्रों में। इस प्रकार तुममें ए दो परिणतियाँ हैं।"[23]

लेकिन दिक्कत उन आलोचको को होती है जो पहले ही यह मानकर चलते हैं कि मुक्तिबोध के विचार ही अमूर्त हैं। हालाँकि उन्होंने अपनी शैली के विषय में परोक्षत यह बताने का उपक्रम किया है कि उसमें विभाव पक्ष ही मात्र सूचित है तथा वर्तमान से एक दूरी भी स्थापित की गई है।[24] लेकिन डॉ0 रामविलास शर्मा ने उनके विभाव पक्ष को सत्य मानते हुए भावपक्ष को ही अमूर्त कर दिया तथा उनकी कविता कला को पाश्चातय 'ऐलगरी' (जो कि डॉ0 शर्मा की नजरो में एक घटिया कला है) से जोड़ते हुए लिखा है कि· "इस कला की विशेषता है, किन्ही अमूर्त विचारो व भावनाओं के लिए मूर्त पात्रो और वस्तुओ को निश्चित करना।"[25] एक बहुत ही सीधा सवाल उठता है कि यदि कवि के विचार ही अमूर्त है तो आलोचक जो कविता में रहस्यवाद, अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद का समन्वय पाता है वह कहाँ से मिला? दरअसल डॉ0 शर्मा का मुक्तिबोध विषयक दृष्टिकोण बहुत जगह अन्तर्विरोध से ग्रस्त है, इसका एक छोटा उदाहरण प्रस्तुत है प्रसग है मुक्ति बोध की कविता में प्रयुक्त बिम्बो द्वारा, कविता के आधार पर कवि–मनोरचना का संज्ञान तथा इस शुभकार्य के सम्पादन के लिए उन्होने (डॉ0 शर्मा) जिस कविता का चुनाव किया वह है बगाल के अकाल पर लिखी उनकी कविता– 'अपने कवि से' और जो आलोचक की नजरों में कवि की सम्पूर्ण मनोरचना जाँचने की 'अनयतम' दस्तावेज है। कारण यह कि इस कविता मे प्रयुक्त बिम्ब – "चिमगादड़, भूत, घुटती हुइ चीख, विहगिनी × × × × × ×

श्याम नाग, श्यामल जटाओ वाले बुजुर्ग दरख्त यानी बरगद आदि के बिम्ब मुक्तिबोध की बाद की रचनाओ मे भी मिलते है। इनका सम्बन्ध पाप-स्मृति, भय, दु स्वप्न अपराध-बोध आदि से है।[26] लेकिन इसी कविता को ही उल्लिखित करते हुए जब मुक्तिबोध से 'लघु मानव के सिद्धात' तथा 'आधुनिकता बोध' वाले सिद्धान्त का खण्डन करते हुए एतद्विषयक अपनी राय जाहिर की, (जो उनकी पुस्तक नई कविता का आत्मसंघर्ष के निबंध 'काव्य एक सास्कृतिक प्रक्रिया पृष्ठ-16 पर उल्लिखित है) तो डॉ0 शर्मा एकदम से गद्गद हो उठते है। ऐसा इसलिए कि इन सिद्धान्तो द्वारा जहाँ विजयदेव नारायण साही पर प्रहार होता है वहीं पर 'प्रगतिवादी रेजीमेण्टेशन' की पुष्टि भी होती है। कहने का कुल मतलब यह है कि एक ही कविता जहाँ बिम्ब के स्तर पर, भाषा और विचार के सतर पर पाप-बोध, अपराध-बोध आदि-आदि अनुभवों से जुड़ी है वही पर वह कल्याणकारी भी है। इसी तथ्य का उल्लेख डॉ0 शर्मा ने नामवर सिह को नसीहत देते हुए यो किया है "आवश्यकता इस बात की थी कि प्रगतिविरोधियो की इस प्रकार आलोचना को 'कविता के नए प्रतिमान' मे नामवर सिंह और विकसित करते। किन्तु उन्होंने जिन सूत्रो को विकसित किया, वे मुक्तिबोध के नहीं विजयदेव नारायण साही के हैं। मुक्तिबोध के नाम का उपयोग उनहोने इस ढंग से किया है कि साही की स्थापनाएं सही जान पड़ने लगें।"[27]

काव्य-भाषा के सृजनात्मक तत्वो में हमने बिम्ब, प्रतीक तथा मिथक को विशेष स्थान दिया गया है। चौथा तत्व 'फैटेसी' का है।

मुक्तिबोध के अलावा जिन भी कवियों ने इतिवृत्त अथवा मिथिकीय सन्दर्भों के आधार पर अपनी कविताएं रची हैं उनके लिए 'फैंटेसी' भाषा का ही एक अंग हो सकता है, लेकिन मुक्तिबोध हिन्दी के पहले ऐसे कवि है जिन्होंने अपनी कविताओ मे इतिवृत्त का झीना सा सूत्र भी नहीं ग्रहण किया है। वे स्वय कविता में कथानक का निर्माण करते हैं, जिसमे बहुधा व्यक्ति मन और समष्टिमन के द्वन्द्व को दिखाया जाता है। ऐसे मे सन्दर्भ अभाव के कारण उनकी कविताए दुरूह और खण्डित सी जान पड़ती हैं। इतिवृत्त को आधार बनाकर चलने वाली

कविताओं मे यह दुरूहता इसलिए नही पाई जाती क्योंकि पहली बात तो कथा–सूत्र का एक पूरा विन्यास कही न कही से पाठक तथा आलोचक को अनायास ही प्राप्य है, और जो कुछ नवीन अर्थ–सधान आलोचक द्वारा किया जाता है कविता में कवि के अन्तर्व्यक्तित्व या व्यकित्त्व का प्रक्षेप से हल कर लिया जाता है। दिक्कत वहाँ पैदा होती है, जिन कविताओ का कोई आख्यान न तो पुराणों मे है और न ही इतिहास मे। लेकिन किसी इतिवृत्त के अभाव के बावजूद भी मुक्तिबोध की कविताओ का अपना एक कथानक है जो उन्ही के शब्दो मे – 'आत्म–सभवा' है। अपनी कविताओ के कथानक निर्माण के प्रति उन्होंने स्वयं लिखा है कि – "मै हर कविता पर एक कहानी लिखूँ। क्या यह असम्भव है? साफ बता दूँ कि मैने वैसा कभी करके नहीं देखा है। फिर भी सोचता हूँ कि वैसा करूँ। क्यों? अब क्या बताऊँ कि इस तरह मुझे गद्य लिखने की आदत तो पड़ जायेगी। लेकिन उससे बड़ी बात यह होगी कि अगर कविता नहीं तो कविता की आत्मा को, कहानी के रूप में ही सही, मान्यता प्रदान करा सकूँगा। यह मेरी अभिलाषा है।"[28] स्पष्ट रूप से कवि कविता के कथानक को काव्य की 'आत्मा' मानता है जो कि प्रकारान्तर से काव्य वस्तु या कथ्य ही है। दरअसल मुक्तिबोध की कविताएं विचार और आवेग की मिली–जुली द्वन्द्वात्मकता से प्रसूत है, जिसमें विचार गद्य से और आवेग मन की अनुभूति से जुड़े हैं। इसीलिए उनकी कविताओं में जितनी 'सपाट बयानी' है उतनी बिम्बात्मकता भी। यह आकस्मिक नहीं कि टी0 एस0 इलियट ने इसी विचार प्रधानता और अनुभूति प्रवणता के आधार पर ही प्रगति और नाटकीय कविता का अन्तर किया है। लेकिन इस बिन्दु पर मुक्तिबोध इलियट से इत्तेफाक नही रखते, बावजूद इसके कि वे स्वय नाट्यधर्मी कलाकार हैं।

मुक्तिबोध के लिए 'फैन्टेसी' उसी प्रकार एक कला–प्रकारहै, जैसे "प्रबन्धक मुक्तक" अथवा "लम्बी कथात्मक कविताएं" और इसी फैंटेसी को ही साकार करने के लिए वे बिम्बों, प्रतीकों तथा मिथकों का रचनात्मक प्रयोग करते हैं।

जैसा कि मुक्तिबोध ने फैटेसी की व्यापकता की ओर सकेत किया वह सूत्र-रूप मे इस प्रकार है-

(1) "फैटेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्राप्त है इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है।"[29]

(2) फैटेसी मे- "मन की निगूढ़ वृत्तियो का, अनुभूत जीवन-समस्याओ का इच्छित विश्वासो और इच्छित जीवन स्थितियो का प्रक्षेप होता है।"[30]

(3) फैटेसी के अन्तर्गत कवि-कल्पना जीवन की सारभूत-विशेषताए प्रकृट करते हुए, एक ऐसी चित्रावली प्रस्तुत करती है जिससे वह तथ्यात्मक जीवन, जिसकी कि स्वानुभूत विशेषताए प्रोद्भाषित की गई हैं, अधिकाधिक प्रच्छन्न, गौड और नेपथ्यवासी हो जायँ।"[31]

सवाल उठता है कि मुक्तिबोध ने इस तरह की पेंचीदी शैली ही क्यो चुनी? कहा जा सकता है कि मानव-जीवन को उसके समस्त परिवेश और परिस्थिति से आवयविक रूप से सम्बद्ध करके देखने का जो उपक्रम कवि ने किया है, वह एक मिथक अथवा दो चार बिम्बो के माध्यम से नही व्यक्त किया जा सकता था। इसीलिए वे एक ऐसा शिल्प इजात करते हैं जो कवि के अनुभूत सश्लिष्ट वास्तव को संप्रेषित कर सके। मुक्तिबोध ने प्रेमचन्द की तरह कला में जीवन की सह-सम्बद्धता को बहुत महत्व दिया है। लेकिन दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता के बाद आये सामाजिक गिरावट, ढलते हुए नैतिक मूल्यों ने देश को इस कदर ढक लिया कि बहुत संवेदनशील लोगों को अनुभव के नाम पर 'भयानक-अनुभव' होने लगा। यह आकस्मिक नहीं कि स्वतन्त्रता-सग्राम के दौरान जिस 'दूध-पानी समाजवादियों' का उल्लेख सुभाष चन्द्र बोस ने किया था, उसी छद्म को साहित्य में मुक्तिबोध ने बहुत ही स्पष्ट तरीके से व्यक्त किया। उन्होने अनेको जगह साहित्य पर बहस करते-करते अचानक ही समाज के बारे में ऐसी-ऐसी टिप्पणियाँ की हैं जो अद्वितीय है। इसके कुछ उदाहरण सूत्रवत् इस प्रकार हैं:-

(क) पहले तो इस उलझन में रहा कि उसका स्वागत करने स्टेशन जाऊँ या घर की मनहूसियत दूर करने के उपाया खोजूँ। × × × ×× × सकट-काल मे मेहमान दुश्मन होता है।

(ख) 'मारो-खाओ, हाथ मत आवो के इस जमाने मे उस जैसे आदमी की क्या चलती।

(ग) 'मनुष्य को अपनी आर्थिक और भौतिक उन्नति के लिए ही कार्य करना चाहिए × × × × × × × इसलिए मुझे सलाह दी गई कि मै उपन्यास लिखूँ और अपना दलिद्दर मिटाऊँ।

(घ) मेरी स्त्री मेरी टेबिल के साथ आकर खड़ी हो जाती है, और उदास होकर मुझसे कहती है कि तुम क्या कर रहे हो? अच्छा, कविता, इस पर कितने रूपये मिलेंगे।"[32]

इन उदाहरणो का उद्देश्य मुक्ति-बोध द्वारा निरूपित 'त्रिकोणात्मक जीवन के उस कोण को दिखाना है जिसकी भुजा कवि के शब्दों में 'अन्तरंग-जीवन' है जो डॉ0 रामविलाश शर्मा की नजरों में 'आत्मगृस्तता' का एक रूप है, जबकि वह वस्तुत बेहद आत्मीय 'आत्मपरकता' है। इसके कुछ और उदाहरण उनके पत्रों में मिलते हैं, जो उन्होंने समय-समय पर अपने मित्रो को लिखा था। जैसे

(क) अपने-अपने स्वभावों को लेकर तजर्बे अलग-अलग होते हुए भी वर्तमान असामन्य परिस्थितियाँ सब की एक हैं- एक सा भले ही न हो। हालत तो खराब है। भौतिक सफलताओं की चट्टानो पर टकराकर भी, हिम्मत नही हारा हूँ। खुदा की फज्ल से चार बच्चे हैं। सबके प्यार हैं। लिखाई खूब चल रही है डटकर, भले ही प्रकाश में न आए।"[33]

(ख) "अब घिघियाने की मेरी उम्र भी नही रही। सिर्फ एक ही महत्वाकाक्षा है। लेक्चररी मिल जाये जरा अच्छे ढंग की। मारा-मार न फिरूँ। वैसे मै नागपुर एकदम छोड़ूँ भी कैसे। बाल-बच्चे दार आदमी होने

के अलावा मेरे माता–पिता भी है और मुख्यत कर्ज लदा है। इस कर्ज को कैसे अदा करूँ।। इसी धुन मे रहता हूँ। पठानों से कर्ज लेते–लेते जब हिन्दुओ से लेने लगा तो पाया कि वे पठानों से भी बुरे होते है। बड़े हरामी बड़े पाजी। कुछ न पूँछो।"[34] अब दूसरी भुजा जो बाह्य जगत को इगित करती है और जहाँ से सामाजिक मूल्यो का जन्म होता है इसी को अपने शब्दों मे कवि ने "देश और जाति की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति कहा"[35] कहा है। लिखते है कि:

(क) इस प्रकार के वातावरण मे फिट होने के लिए हमारी समझदारी का यह तकाजा होता है कि किसी न किसी तरह शैतान से भी समझौता करके गधे भी को काका कहो। बडे–बड़े आदर्शवादी आज रावण के यहाँ पानी भरते है। जो व्यक्ति रावण के यहाँ पानी भरने से इकार करते हैं उनके बच्चे मारे–मारे फिरते है।"[36]

(ख) "जो व्यक्ति फटेहाल और फटीचर है, उसे मान्यता देने को कोई तैयार नहीं, चाहे वह कितना ही नैतिक क्यो न हो।"[37]

(ग) "लेकिन आज का जमाना कैसा है कि बुलबुल भी चाहती है कि वह उल्लू क्यों न हुई।"[38]

अब जीवन की तीसरी भुजा यानी कवि की चेतना जो कि बाह्य ससार और आतरिक संसार के बिना अपना वजूद नही बना पाती। चेतना कुछ ऐसी कि जिसके विषय मे डॉ0 रामविलास शर्मा तक को कहना पड़ा– "मुक्तिबोध अपने जीवन में बहुत ही विनम्र नि स्वार्थ और परदु ख कातर थे। साथ ही अहकार की मात्रा उनमें निराला से कुछ ही कम थी। वे जानते थे कि समाज मे आमूल परिवर्तन किये बिना उनके और दूसरों के व्यक्तित्व की समस्याएँ हल नहीं हो सकती।"[39] ऐसी स्थिति मे जीवन और जगत की आलोचना को आत्मालोचन के माध्यम से सामने लाने का एक ही तरीका था, वह था 'फैटेसी' जिसमें भोगे गये जीवन की कटुता के साथ इच्छित विश्व को पुनसृजित करने का अनथक जज्बा भी है। यही कारण है उनके यथार्थ निरूपण में आई वस्तुएं न केवल विकराल और काली हैं बलिक उन्हीं के शब्दो में– 'विकृताकृति–बिम्बा' है। इस सन्दर्भ में श्री नरेश मेहता का यह कथन काफी युक्तिसंगत है कि– "मुक्तिबोध में

फैटासी का यह तत्व सबसे अधिक प्रबल है। वह काव्य की ऊँचाई प्राप्त करने के लिए उसकी गहराई मे प्रवेश करते है। इसीलिए उनमे आकाश-तत्व नही बल्कि पृथ्वी-तत्व की अधिकता होगी। शायद इसीलिए उनकी फंटासियो का यह ससार भयावह रूप से आदिम जैसा है।"[40]

मुक्तिबोध को समझने के लिए उनका यह वक्तव्य बड़े ही काम का है "रोमैंटिक कवियो की भाँति आवेश युक्त होकर, आज का कवि भावो के अनायास, स्वच्छ अप्रतिहत प्रवाह मे नही बहता। इसके विपरीत वह किन्ही अनुभूत मानसिक प्रतिक्रियाओ को ही व्यक्त करता है कभी वह इन प्रतिक्रियाओं की मानसिक रूप-रेखा प्रस्तुत करता है कभी वह रूप-रेखा में रग भर देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह व्याकुलता या आवेश का अनुभव नही करता है। होता यह है कि वह अपने आवेश या व्याकुलता को बाँधकर, नियत्रित कर ऊपर उठाकर उसे ज्ञानात्मक सवेदन के रूप मे या संवेदनात्मक-ज्ञान के रूप मे प्रस्तुत कर देता है। यह सबके अनुभव का विषय है कि मानसिक प्रतिक्रिया हमारे अभ्यंतर में गद्य भाषा को लेकर उतरती है, कृत्रिम ललित काव्य भाषा मे नही। फलत नयी कविता का पूरा विन्यास, गद्य भाषा के अधिक निकट है।"[41]

कहने की आवश्यकता नहीं कि मुक्तिबोध का समस्त रचना संसार 'विरुद्धों की एकता' पर टिका है क्योंकि सामन्जस्य के नाम पर ही उनको चिढ़ सी है क्योंकि सामञ्जस्य कहीं न कहीं समझौते का ही एक रूप है, जिसके विषय में मुक्तिबोध की निभ्रन्ति राय है कि –सांसारिक समझौते से ज्यादा विनाशक कोई चीज नहीं। खासतौर पर वहाँ जहाँ कसी अच्छी महत्वपूर्ण बात करने के मार्ग में अपने या अपने जैसे लोग आड़े आते हों। जतनी जबरदस्त उनकी बाधा होगी उतनी ही कड़ी लड़ाई भी होगी अथवा उतना ही निम्नतम समझौता भी होगा।"[42] तो इस 'विरुद्धों की एकता' में आत्मा के साथ बुद्धि भाव के साथ चेतना, आत्मपरकता के साथ वस्तुपरकता, आत्मचेतस् के साथ विश्वचेतस् आत्मलोचन के साथ समाजालोचल घनघोर अंधकार के साथ उम्मीद की एक किरण, अनुभूति-विचार, आवेश-संयम, स्थूल-सूक्ष्म आदि जाने कितने परस्पर विरोधी ऐक्य समाहित हैं। विरोधों की इस आकस्मिक एकता के कारण ही उनका समस्त

सृजन स परस्पर–खंडित जैसा आभास ेते हुए भी अपने आतरिक संघटन मे एक अखड है। कविताओ की पढते हुए कहानियो के कहानीपन का सा आनन्द, नाटक की नाटकीयता और पात्रो के द्वन्द्व को भी सिद्दत से महसूस किया जाता है।

मुक्तिबोध कला को एकागी रूप से नही लेते। ऐसे लेखको से उनका घनघोर विरोध है जो भाव (स्वानुभूत भाव) तथा भाषा को एक–दूसरे के एवज मे छोडते रहते है। उन्होने अपनी एक कविता में रचनानुभूत भावो, जो कि भोक्तामन का बहुत जरूरी अश है की 'भ्रूण हत्या' करके गौरवान्वित महसूस करने वाले लेखको की खबर लिया है –

"जीवन के ऊष्मामय पल से यूँ मुँह मोड़ो।
जिससे पापी अपराधी बदमाश न हम कहलाएं।
चर्चा का विषय हम क्यों बनें।
इसलिए हम करे भ्रूण हत्या भावो की।
भद्रपुरुष कहलाए।।"[43]

जाहिरा तौर पर वे भोक्तामन के वस्तु–तत्वो से भागते नहीं बल्कि उसे एक गरिमा प्रदान करते है।उन्होंने अपने अनेक लेखो मे साहित्य के ऐसे आलोचको को नकार दिया जो 'समुद्र दर्शन' के नाम पर लहरों के गिनने मे विश्वास करते हैं। क्योंकि बगैर जीवन को पूरी तरह जाने, उसकी हैरतनाक सच्चाइयों को समझे, उस तिक्त यथार्थ की व्याख्या करना या तो हवाई होता है अथवा सतही। इसलिए वे लेखक से अधिक, आलोचक को जिन्दगी से रूबरू होना जरूरीसमझते हैं।

उनका साहित्य भोक्ता के अनुभवों का ही मात्र निजी दस्तावेज न बन जाय, इस कलात्मक असंगति का उन्हे बराबर एहसास रहा। कला का सौन्दर्य भी बरकरार रहे अर्थात् वह कला के ही रूप मे व्याख्यायित हो न कि किसी व्यक्ति की मात्र जीवनी और उसके प्रश्नों और समस्याओ के रूप मे– और अनुभव का वैविध्य भी उसमें झलके इस चरित्र का एक अच्छा सयोग उनका साहित्य है। कहने की आवश्यकता नही कि कलात्मक सौन्दर्य और जीवनगत विविध अनुभवो को संयुग्मित करने का कार्य फैंटेसी ही सुकर करती है। यद्यपि यह भी है कि

वे कलात्मक सौन्दर्य को कला के स्वायत्त सौन्दर्य की अपेक्षा सापेक्ष सौन्दर्य के रूप मे देखने और समझने के आदी है। इस विषय में उनकी निभ्रांत धारणा है कि जीवन सौन्दर्य से हटकर कला का कोई सौन्दर्य सम्भव ही नही है।

फैटेसी कला की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है– वास्तविक जीवन तथ्यो का 'अन्डरग्राउण्ड' हो जाना। ऐसा इसलिए होता है कि कोई भी लेखक जिस दुनिया मे विचरण करता है वह किसी स्वप्निल दुनिया से कम नही होता, लेकिन जो भ्रष्टाचार अनाचार को तन्त्र का ही 'प्रापर चैनल समझते है अथवा जो रोज–ब–रोज की घटनाओ से एकदम आँखे मूँदे रहते है उन्हे यही दुनिया ही वास्तविक महसूस होती है। इस दुनिया को सीधे–सीधे समाने लाना जान–जोखिम में डालने जैसा है। इसे वर्तमान सन्दर्भ में तसलीमा नसरीन, सलमान रश्दी आदि के प्रकरण से अच्छी तरह महसूस किया जा सकता है। यह आकस्मिक नहीं कि शब्द आज के सन्दर्भ में जितने निरीह और डरे–सहमे है उतना इससे पहले कभी नहीं थे। दुनिया को उपस्थित भी करना है, अपने को हत्यारों से बचाना भी है तो इस चीज को केवल "फैटेसी" जिसमें सब कुछ सच होते हुए भी झूठ लगता है, वहन कर सकती है। एक कारण और भी सच है कि सुविचारों की भूमिगतता के सम्बन्ध में वह यह कि कोई भी व्यक्ति एक समय में एक ही काम कर सकता है। जीवन को जीते हुए उसे संवेदनात्मक रूप से संक्षेपित करते जाना भी असभव है अत: लेखक को उसे ढाँचा प्रदान करने के लिए अपने में फिर–फिर डूबना पड़ता है। इस प्रक्रिया में जाहिरा तौर पर बहुत सी नई बातें हाथ लगती है जबकि बहुत सी बातें अस्पष्ट ही रह जाती हैं।

जैसा कि हमने शुरू में ही बताने का प्रयास किया है कि भाषा के सृजनात्मक तत्वो– बिम्ब, प्रतीक, मिथक का विश्लेषण उसकी कथनशैली के सापेक्ष ही की जा सकती है। जैसे निराला के बिम्बो, प्रतीकों, मिथकों को समझाने के लिए हमे पुराण, कथाओं तथा आख्यानो तथा कवि की निजी जिन्दगी में भी झाँकना पड़ता है वैसे ही मुक्तिबोध के भाषिक–सृजनात्मक–तत्वों को समझने के लिए उनके द्वारा सृजित काव्यात्मक–ससार में पूरे तौर पर घुसना पडेगा।

इस दृष्टिकोण से चूँकि फैटेसी ही उनकी कथन शैली मे है जिसमें एक 'मायालोक' का सृजन होते हुए भी 'बहुत प्यारी मानवी अन्त कथाओं' की ही वास्तविकता है। अत वास्तविकता को समझने के लिए माया के उस आवरण को भेदना आवश्यक है जिसे फैंटेसी कहते है। मुक्तिबोध लम्बी कविता का शिल्पकार है जिसमें कविता के विन्यास मे समाहित कथा-तन्तु का अप्रतिम है और यह आकस्मिक नही कि कथानक को बढ़ाने मे जितना महत्व वर्णन का है उतना बिम्बो का नहीं। नयी कविता के सन्दर्भ मे उन्होने अपनी भाषिक संरचना को 'गद्यात्मक भाषा' के कही अधिक नजदीक पाया। पचास के दशक मे नव्य-समीक्षा का जब अमेरिका मे ही नवअरस्तूवादी आलोचको ने विरोध करना शुरू किया तो उस विरोध के मूल मे लम्बी कविताओं की 'कथानक-सरचना' की समस्या ही रही है। एलेन टेट ने तो पचास के दशक के पहले ही यह प्रस्तावित किया था कि- 'लम्बी कविता की समस्या कुछ अलग किस्म की होती है।"[44] जेसा कि छोटी कविता या 'प्रगीत' जिसमे बिम्बों के सहारे कथन की मितव्ययिता की बात की जाती है, उसी कलात्मक मितव्ययिता के सवाल को मुक्तिबोध ने 'फैंटेसी' के द्वारा हल करने का प्रस्ताव किया है, लिखते हैं कि - "लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है।"[45]

जैसा कि बिम्बों के विषय मे तमाम आलोचको का मत है कि भावों को व्यक्त करने के लिए जिन 'मूर्त ऐन्द्रिय चित्रों' को कवि सामने लाता है वे बिम्ब कहे जाते हैं। मुक्तिबोध के बिम्ब अपनी बिम्बात्मकता से आगे बढ़कर प्रतीक का रूप ले लेते है क्योंकि उन्होंने जिन बिम्बो को अपनी कविताओं मे लिया है। वे अनेक कविताओ मे बारम्बार कसी न कसी सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। मिथको का सम्बन्ध तो ऐतिहासिक-पौराणिक आख्याओ से होता ही है।

जिस संश्लिष्ट जीवनानुभव को मुक्तिबोध ने अपनी कविताओ मे लिया है उसमे कवि ने समाज और निजी जिन्दगी के बाह्य वातावरण वर्गीय स्थिति तथा सामाजिक राजनैतिक परम्परा को लेते हुए लेखक की अन्तश्चेतना को महत्व दिया है। इस त्रिकोणात्मक जीवन की जिन तीन भुजाओं की अंत:संगति को कविता में

उकेरा गया है उसके अनुसार कवि द्वारा प्रयुक्त बिम्बो, प्रतीकों तथा मिथको का ससार इस प्रकार से हो सकता है

(1) <u>प्रथम भुजा</u> – वर्ग जगत जिसके अन्तर्गत कवि एवं समाज का बाह्य जगत, उसके मूल्य, सामाजिक और वैयक्तिक आदर्श, समाज की राजनीतिक स्थिति आती है। इस भुजा के अनुसार लेखक ने जिन प्रतीको को अपनी कविताओ मे लिया है उसमे वर्ग-जगत के दोनो पक्षो शोषक को और शोषित वर्गों के बिम्ब तथा राजनीतिक और सामाजिक स्थितियो के बिम्बआते हैं। शोशक वर्ग के बिम्बो में जहाँ सम्पूर्ण 'सत्ता' है वहीं पर शोषित बिम्बों मे वह 'जन' है जिसे कायदे से दो जून की रोटी भी मयस्सर नही है। सत्ता का यह प्रतीक कही तिलस्तमी ऐयार चाँद तो कही भयानक डाकू है। इसी को सांस्कृतिक लफंगा, लकड़ी का रावण काला सागर आदि के रूप में दर्शाया गया है– राजनैतिक, सामाजिक प्रतीको में, गौरवशाली राजनीतिक परम्परा के प्रतीक– गाँधी, तिलक, टॉलस्टाय हैं। बाह्य जगत के बिम्बों मे– अँधेरा, गुहा, सूखी बावड़ियाँ, खोह आदि जहाँ पर आंतरिक नैराश्य के प्रतीक है वही पर सामाजिक गहन संकट के भी। बाह्य जगत के बिम्बों मे 'बगला' का बिम्ब कई कविताओ मे आया है। जो लाभ-लोभ की अर्थवादिनी सत्ता का प्रतीक है।

(2) <u>दूसरी भुजा</u> – के अन्तर्गत लेखक ने आतरिक जीवन को माना है वह जीवन जो बाह्य से क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ या तो बाह्य सेस सामंजस्य स्थापित करता है अथवा उसके विरुद्ध खड़ा होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वयं लेखक द्वारा बाह्य के विरुद्ध एक विद्रोही के रूप मे खड़ा है, यही कारण है कि लेखक में इस बाह्य समाज को बदल डालने की एक तीखी अकुलाहट है। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो बिम्ब और प्रतीक लिए है उनमें संघर्ष के बिम्ब मुख्य हैं। जिसमें प्रमुख रूप से– पुकारती हुई पुकार, आत्मसम्भवा अभिव्यक्ति, श्यामतन लुहार, कैदकर लाया गया ईमान, रक्तालोक स्नात पुरुष, ब्रह्म राक्षस, शिशु, बरगद, साँवली हवा, तथा प्रकृति के जितने

भी चित्र –पेड़, पुष्प, वाटिका के चित्र जो कि 'अँधेरे' मे कवितान्तर्गत आए हो या 'चम्बल की घाटी में'। जैसा कि मुक्तिबोध ने इन प्राकृतिक चित्र–प्रतीको के विषय मे लिखा है कि – सामाजिक क्रान्ति को युद्ध और सघर्ष को प्राय प्राकृतिक विप्लव द्वारा ही सूचित किया जाता है।"[46]

कही न कही इन प्राकृतिक चित्रो का प्रतीकार्थ–क्रान्ति सन्नद्ध जनों की भी है इसे अँधेरे मे कवितान्तर्गत अच्छी तरह से समझा जा सकता है। काव्यनायक 'रक्तालोकस्नात पुरुष' को देखकर जा पहले– "सजिल के तम–श्याम शीशे मे कोई श्वेत आकृति के रूप मे दिखाई देता है उसे देखते ही

तालाब के अँधेरे में वन–वृक्ष

चमक–चमक उठते है हरे–हरे अचानक

वृक्षों के शीश पर नाच–नाच उठती है, बिजलियाँ,

शाखाएँ, डालियाँ झूमकर झपटकर

चीख, एक दूसरे पर पटकती है सिर।"[47]

या कि

"अब मुझे खोजने होंगे साथी,

काले गुलाब व स्याह सिक्ती,

श्याम चमेली,

सँवलाए कमल जो खोहों के

जल मे/ खिले हुए कब से भेजते

हैं संकेत/सुझाव संदेश भेजते रहते

इन 'वन–वृक्षों' को 'चम्बल की घाटी' मे एकदम गुपचुप सा दिखाया है, लेकिन–

'लाल–लाल उजाले में खड़े हुए

खून–सने पेड़

अँधेरें में खड़े हुए पेड़ों को देखते है भयभीत।'[48]

लेखक का आंतरिक व्यक्तित्व, जिसका कि उनकी कविताओं में 'मैं' और 'वह' के रूप में प्रतिनिधित्व हुआ है– के बिम्ब बहुत ही महत्व के हैं। कविताओं मे 'मैं' जहाँ पर सत्य–असत्य, अकर्मक–सकर्मक आया आदि शुभाशुभ भावो का पुञ्जीभूत वही पर 'वह एक ऐसे व्यक्तित्व का स्वामी हे जो केवल शुभ–पक्ष का ही प्रतीक है जो अपने मानवीय धरातल पर समग्रता से निरूपित है। उसकी

का अपराध बोध ही उसे अधिक मूर्त यथार्थ का प्रतीक साबित करती है। इस दृष्टिकोण से मुक्तिबोध के 'समग्र मानव' की अवधारणा प्रेमचन्द से बहुत मिलती जुलती है जिसके विषय मे मुंशी जी की निर्भ्रान्त धारणा थी कि : "बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमे कहीं देवता अवश्य छिपा होत है- "यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।"[49] इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के कारण ही वे यथार्थ को शुद्ध अन्धकार नहीं मानते है। आदर्श को शुद्ध प्रकाश माना जा सकता है। उनकी यथार्थ की परिभाषा आकस्मिक रूप से उसी समग्रता से जुडी है जो उनके मानव-सम्बन्धित विचार है। लिखते है कि- "यथार्थ केवल अन्धकार नही है वह अन्धकार से प्रस्फुटित प्रकाश और प्रकाश पर छाता हुआ अन्धकार को बोध है।"[50] मुक्तिबोध ने लगभग इसी यथार्थ को अपनी कविताओ में पकड़ा है। मुक्तिबोध के इस काव्य नायक "मैं' को भाष्यकारों ने अतिवादी ढग से देखने का उपक्रम किया है, चाहे वे डॉ0 नामवर सिह हो अथवा डॉ0 रामविलास शर्मा। डॉ0 रामविलास शर्मा की नजरों में मुक्तिबोध की मनोरचना अर्थात् अन्तजर्गत की जानकारी का मुख्य स्त्रोत 'आत्मसंवाद' और 'अपने कवि से' नामक कविताएं हैं जिसमे 'आत्मसंवाद' की इस पंक्ति पर उनका विशेष जोर है-

हृदय मे घुन सा लगा रहता
(पाप यह दारुण जगा रहता)[51]

दरअसल भाष्यकार की असली समस्या यही शुरू हो जाती है जब वह ऐसी लाइनो को छाँट-छाँटकर कवि मुक्तिबोध से सम्बद्ध करने का बीड़ा उठाता है। इस समय जाहिरा तौर पर उसकी निगाह से वह जीवनगत तनाव महत्वहीन हो जाता है जो कि कविताओं में बड़ी ईमानदारी से व्यक्त किया गया है। यदि 'आत्म वक्तव्य' की प्राथमिक गद्य टिप्पणी को सही माना जाय तो जो पंक्तियाँ- "कोष्टक मे है वे यथार्थवादी आत्मस्वीकृतियाँ हैं, और जो उसके बाहर है, वे उनके यथार्थ रैशनलाइजेशन है।" लेकिन फिर भी कहना पड़ेगा कि 'इस जगे दारुण पाप का साहित्यिक औचित्य क्या हो सकता है? यों देखा जाय तो 'चंबल की घाटी' का जो काला, मोटा दस्यु है वह भी :

तुम्हारी ही फैल-मुटाई हुयी सूरत,
तुम्हारी ही आकृति।"[52]

लकिन ऐसा क्यों? ऐसा इस लिए कि

बुराई की उपेक्षा,
अपने ही कारण,
जिसको कि अनदेखा
करते ही रहने का धन्धा है तुम्हारा
उसको बढाने मे तुम्हारा ही योग है।
पाताली समझौता उसी से है गहरा
ऐसी उन भयानक गतियो का कारक
अस्तित्व
स्वय है,
तुम्हारे निजत्व का
वृहत्तर स्मारक।"[53]

इसी तरह "औराग उटाग' भी करीने से सजे हुए संस्कृत प्रभामय अध्ययन गृह मे जब विचारधाराओ पर बहस छिडी होती है तभी अपना यह 'नग्न मन'। अर्थात् आतरिक वास्तविकता ﴾मनुष्य, की समाज का﴿ का दर्शन होता है। संस्कृत-'सम्भाषणो मे रत' "मै को यह खौफ सताता हे कि –

हाय-हाय और न जान लें
कि नग्न और विद्रूप
असत्य शक्ति का प्रतिरूप
प्राकृत ओरांग उटॉंग यह
मुझमे छिपा हुआ है।"[54]

लेकिन इन 'महत्कृत बिम्बों' और असत्य शक्ति के प्रतिरूपों सें "मैं' नजात पाना चाहता है। 'हवाएं' सलाह देती हैं कि "लुढको मै तुम्हे देता हूँ धक्का, ﴾गति और वेग/वक्षासीन उस दस्यु को लेकर चले जावो पहाड़ी उतार पर,﴾वह पीस जाएगा"﴿। 'ओरांग-उटाँग' केवल "मैं" का ही प्रतिरूप नही है वह उन सभी का प्रतिरूप है जो सांस्कृतिक-सामाजिक मुबाहसे में शामिल है

इसका सकेत कविता मे इस प्रकार है–

और मेरी आँखे उन बहस करने वालो के

कपडो में छिपी हुई

सघन रहस्यमय लम्बी पूँछ देखती।।

और मै सोचता हूँ -

केसे सत्य है–

ढाँक रखना चाहते है बड़े–बड़े

नाखुन।।"[55]

बात जाहिर सी है कि मुक्तिबोध किसी भी ऐसे सत्य को ढ़कने का प्रयास नही करते हैं जो कि खतरनाक हों। चाहे वह व्यक्ति की आंतरिक अप्रशस्ताओं का सच हो चाहे वह सामाजिक विसंगतियो का यही कारण है कि समाज की दुर्दशाओं में स्वयं को भी एक भागीदार मानते है यही उनकी मानवीय उदात्ता की पहिचान भी है सीमा भी।

इन दोनो ही भुजाओं, अर्थात् वर्ग जगत और आन्तरिक जगत की चराचर टकराहट से जिस तीखे तनाव का जन्म होता है और उसे अपनी चेतना के आधार पर जो दिशा देते हैं वह इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि :

हमारी हार का बदला चुकाने आएगा,

संकल्पा–धर्मा चेतना का रक्त प्लवित स्वर

हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर

प्रकट होकर विकट हो जाएगा।।"[56]

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर' और 'संकल्प" धर्म चेतना का रक्त प्लावित स्वर उस अन्तर्निहित आत्मिक शक्ति के ही प्रतीक हैं, जो प्रत्येक जन में होती है लेकिन इस शक्त का हम तब तक पता नहीं लगा पाते जब तक हम अपने को झूठी वास्तविकता द्वारा बरगलाया करते हैं। इस भ्रम–परिहार का एक ही रास्ता है कि हम जितने अपने सत्य से वाकिफ हों उतना ही सत्यभासों से भी तभी हम सच को समग्रता से पकड़ सकते हैं।

मुक्तिबोध हिन्दी के तमाम लेखको में पहले ऐसे कवि है जिन्होने अपनी कविताओ का कथानक खुद गढ़ा है इसलिए मुक्तिबोध के मिथको मे वैदिक और ऐतिहासिक मिथको के अलावा स्वसृजित मिथक भी है। वैदिक मिथको मे –

वैदिक ऋषि शुन शेप के,
शापभ्रष्ट पिता अर्जागती समान ही
व्यक्तित्व अपना ही, अपने से खोया हुआ,
वही उसे मिलता था अकस्मात् रात मे।[57]

(ख) 'आई यादे उपनिषिदिक प्रवधि याज्ञवल्क्य की' यह याद किसी आध्यात्मिकता को लेकर नही है बल्कि "कौन तुम"? जैसे बुनियादी मानवीय–सवालो को लेकर है, क्योंकि इसी पहचान मे ही नायक अपनी वर्गीय स्थिति और और पक्षधरता को जान सकता है। कथा–विस्तार क्रम में जब 'संघष–विवेको की प्रतिभा, अनुभव गरिमाओ की आभा का सवाल उठता है तो उस समय 'मर्मी कबीर[58] से बेहतर मिथक कौन हो सकता है। कीमती 'विचारो की मणियों की कथावस्तु 'काव्यात्मक फणिधर' के मिथकीय सन्दर्भ से जुड़ा है। कृष्ण का मिथक 'जीवन के आत्मज सत्यों से जुडा है

जाने कितने कारावासी–वसुदेव
स्वयं अपने कर में शिशु –आत्मज ले
× × × × × × × × × × × × × ×
जीवन के आत्मज सत्यो को
किस महाकेश से भय खाकर गहरा–गहरा
भय से अभ्यस्त कि वे उतनी
लेकिन परवाह नही करते।।'[59]

मिथकीय सन्दर्भों से मुक्तिबोध की जो कविता सर्वाधिक जुड़ी है, वह है 'डूबता चाँद कब डूबेगा' जिसमे ब्रह्म राक्षस, गाँधी, पन्ना धाय, शिवाजी, तुलसीदास के पौराणिक, ऐतिहासिक कथावस्तु "फैंटेसी" से हिल–मिल गये है तथा अंतिम रूप से लेखक के मन्तव्य को ही घनीभूत बनाते हैं।

अनुक्रम	सपादक/लेखक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ
1	गजानन माधव मुक्ति बोध	एक साहित्यक की डायरी	20
2	स0 सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन (अज्ञेय)	तारासप्तक	7
3	मुक्तिबोध	कामायनी एक पुनर्विचार	110
4	उप0	चाँद का मुँह टेढा	259
5	जयशकर प्रसाद	कामायनी	114
6	डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी	हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास	272
7	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	21
8	उप0	कामायनी एक पुनर्विचार	12
9	स0 डॉ0 निर्मला जैन	नई समीक्षा के प्रतिमान	12
10	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	20
11	स0 डॉ0 राजेन्द्र कुमार	अभिप्राय(अक्टूबर–99)	13
12	उप0	उप0	192
13.	उप0	उप0	193
14	उप0	उप0	187
15.	श्री दूधनाथ सिंह	निराला आत्महंता आस्था	181
16.	सं0 डॉ0 राजेन्द्र कुमार	अभिप्राय(निराला,स्वाधीनता अक)	29
17.	उप0	उप0	29
18.	डॉ0 रमेश चन्द्र मजूमदार	भारत का वृहत् इतिहास–II	234
19.	उप0	उप0	234
20	डॉ0 नामवर सिंह	कविता के नये प्रतिमान	232
21	मुक्तिबोध	चाँद का मुँह टेढ़ा	50
22	डॉ0 रामविलाश शर्मा	नई कविता और अस्तित्ववाद	247
23.	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	20
24.	उप0	कामायनी एक पुनर्विचार	9
25	डॉ0 राम विलास शर्मा	नई कविता ओर अस्तित्ववाद	151

अनुक्रम	लेखक/सपादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ
26	डॉ0 रामविलास शर्मा	नई कविता ओर अस्तित्ववाद	247
27	उप0	उप0	173
28	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	32
29	डॉ0 नामवर सिह	कविता के नए प्रतिमान	224
30	गजानन माधव मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	21
31	उप0	कामायनी एक पुनर्विचार	8
32	उप0	उप0	9
33	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	30
34	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–6	339
35	उप0	उप0	350
36	उप0	कामायनी एक पुनर्विचार	7
37	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	33
38	उप0	उप0	34
39	उप0	उप0	67
40	डॉ रामविलास शर्मा	नई कविता और अस्तित्ववाद	26
41	श्री नरेश मेहता	मुक्तिबोध:एक अवधूत कविता	12
42	मुक्त बोध	नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध	11
43	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	60
44	उप0	मुक्तिबोध–रचनावली–1	244
45	सं0 डॉ0 निर्मला जैन	नई समीक्षा के प्रतिमान	14
46	मुक्तिबोध	कामायनी:एक पुनर्विचार	12
47	उप0	उप0	13
48	उप0	चाँद का मुँह टेढ़ा है	255
49	उप0	उप0	243
50	डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी	हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास	164
51.	सं0 राजेश्वर गुरू	गोदान की समीक्षा	31
52	डॉ0 रामविलास शर्मा	नई कविता और अस्तित्ववाद	247

अनुक्रम	लेखक/संपादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ
53	मुक्तिबोध	चाँद का मुँह टेढ़ा है	250
54	उप0	उप0	251
55	उप0	उप0	45
56	उप0	उप0	'46
57	उप0	उप0	33
58	उप0	उप0	269
59	मुक्तिबोध	चाँद का मुँह टेढ़ा है	178
60	उप0	उप0	72

षष्ठ अध्याय

मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि

सैद्धान्तिक समीक्षा के बिन्दु . मुक्तिबोध

मुक्तिबोध नई कविता आन्दोलन के अभिन्न रूप से जुडे रहे, किन्तु कुछ विभिन्नताए रखते हुए। इस आन्दोलन के वे इकलौते कवि थे जिन्होने नई कविता धारा के आत्मसघर्ष का बहुत बारीक विश्लेषण किया है। अपनी कविता को समझने-समझाने के सारे सूत्र प्रदान किए, फिर भी "जटिल" "दुरूह" और "समझ मे न आने वाले" कवि ठहराए गए। यदि सन्दर्भ मुक्तिबोध हो तो प्रगतिवाद और नई कविता आन्दोलन के बीच बहुत स्पष्ट विभाजन रेखा नही है। क्योंकि जिस वैचारिक आधार को प्रगतिवाद ग्रहण करता है उसे ही बहुत कुछ नई कविता के कवि मुक्तिबोध ने भी पकड कर "नव प्रगतिवाद" का सृजन किया। नव प्रगतिवादी कवियों, चिन्तको मे मुक्तिबोध का स्थान विशिष्ट है। उन्होने मार्क्सवाद को अपना वैचारिक आधार तो बनाया लेकिन साहित्य के एकागी सिद्धान्त के रूप मे ही नहीं बल्कि उसे बहुत कुछ परिवर्द्धित करते हुए समग्र मानवीय गरिमा तथा साहित्यिक समग्रता का सिद्धान्त बनाया।

किसी भी कवि की समग्र रचना-प्रक्रिया को बिना जाने उसकी आलोचना करना कही से भी उचित नहीं जान पड़ती। और इस रचना प्रक्रिया के मूल मे कवि का जीवन है। उसकी परिस्थितियाँ और परिवेश है। क्योंकि रचना जो कि कवि के लिए अन्तिम वस्तु है, तथा इसके अनन्तर है, वह आलोचक या पाठक के पास उनकी रायशुमारी के लिए आती है। लेकिन रचना के अन्तिम बनावट और उसके प्रारम्भ के बीच ऐसे बहुत से सोपान है जिसे जानना अत्यन्त जरूरी हो जाता है। आलोचक को जो रचना प्राप्त हुई है वह किन-किन खरादो से गुजर कर अपना अन्तिम रूप प्राप्त कर सकी है? यह सवाल जब गैर जरूरी लगता है, एक आलोचक को, तो वह स्वाभाविक रूप से किसी भी कवि या रचना के साथ न्याय नहीं कर सकता।

आलोचक को मुक्तिबोध ने जो "साहित्यिक दरोगा" ठहराया है वह यह लक्षित करने के लिए ही कि जैसे दरोगापने के चस्मे से हरेक भलमानस भी अपराधी सा दिखता है और पूरे समाज को एक ही डण्डे से हॉकता है कुछ वैसे ही समीक्षक की स्थिति भी है और यह "दरोगापना" आज समीक्ष्य कवियो के विषय मे एकदम खुल चुका है। आचार्य शुक्ल का कबीर एव छायावाद सम्बन्धी दृष्टिकोण, डॉ0 राम विलास शर्मा का नई कविता विषयक दृष्टिकोण, विशेष कर मुक्तिबोध सम्बन्धी दृष्टिकोण डॉ0 नामवर सिह का "अज्ञेय" सम्बन्धी दृष्टिकोण और शुरू-शुरू के प्रगतिवादी समीक्षको का "तुलसीदास" विषयक दृष्टिकोण इसी साहित्यिक दरोगापने का सांगोपाग उदाहरण है। इन आलोचको के एतद् विषयक दृष्टिकोणों के आधार पर यह तथ्य साफ होता है कि – "पूर्वाग्रही समीक्षकों" का अपना एक वैचारिक आधार होता है जिसे मुक्तिबोध के शब्दो मे "बोधहीन बौद्धिकता" कहा जा सकता है जिसे लॉघना उन्हें यथेष्ट नहीं होता। यह भी एक विचित्र संयोग है कि तथा कथित साहित्यिक मानदण्डो की जो कसौटी इन समीक्षको ने बनाई उससे एक इच भी न डिगना जहॉं इनके द्वारा निर्मित प्रतिमानों के प्रति प्रतिबद्ध दृढता का परिचायक है, वही पर एक "व्यर्थ जिद्दीपन" का सबूत भी है।

आज जब कि मुक्तिबोध को गुजरे लगभग दो दशक बीत चुके है और बहुत कुछ उनकी साहित्यिक समझ तथा कविताओ के कथ्य को स्पष्ट किया जा चुका है तो भी डॉ0 राम विलास शर्मा का दृष्टिकोण कवि के प्रति वैसे का वैसा ही है जो उनके जीवन काल में हुआ करता था। इसका एक छोटा सा उदाहरण – सन् 1998 की त्रैमासिक "अभिप्राय" के "जनवरी–फरवरी मार्च अंक मे देखा जा सकता है।

<u>प्रश्न :– डॉ0 विजय कुमार शर्मा</u> इधर कहा जा रहा है कि निराला में आधुनिक चुनौतियो के उत्तर उतनी सार्थकता के साथ नही मिलते जितने मुक्तिबोध मे मे मिलते है। यानी आज की पीढ़ी मुक्तिबोध को आदर्श मानती है।

आपका क्या कहना है?

<u>उत्तर – डॉ0 रामविलास शर्मा</u>

इन प्रश्नो का उत्तर देने की कोई जरूरत नही है। (फिर थोडी उत्तेजना से कहते है) ये लोग नही जानते कि मुक्तिबोध किसान आन्दोलन से कटे हुए थे। उनकी कृति "अधेरे में" असामान्य मनोदशा की रचना है। यह बात उनके प्रशसको से बेहतर मुक्तिबोध खुद जानते थे। अब कोई "एबनार्मलिटी" को मार्क्सवाद की उपलब्धि कहें तो हम इसे कैसे स्वीकार कर सकते है।

इसके विपरीत निराला अपने समय से सामाजिक सरोकारो से सर्वाधिक रूप से कवियो मे सर्वप्रथम ठहरते हैं। उग्र पथी लोग बताए मुक्तिबोध ने किसानो के बारे में कहाँ कितना लिखा है जबकि निराला न केवल किसानो की अगुवाई करते है बल्कि उनके सघर्ष को स्वर देते है।

<u>प्रश्न :–</u> डॉ0 साहब, मुक्तिबोध के बारे में इतने वर्षों तक आपने अपनी धारणाए नहीं बदली हैं?

<u>उत्तर</u> – मुक्तिबोध ही नही मै किसी भी मुद्दे पर बहुत सोंच–समझकर ही कोई राय कायम करता हूँ और उसके बाद नही बदलता। मुक्तिबोध कही भी निराला के समक्ष नही ठहरते।"[1]

बेशक डॉ0 शर्मा का यह मत सही है कि मुक्तिबोध ने किसानो को अपने काव्य का केन्द्रीय वस्तु नही बनाया है। लेकिन यह भी एक तथ्य है कि स्वतन्त्रता के बाद और उसके कुछ पहले की जिन सामाजिक समस्याओ को उनकी कविताओं में उठाया गया है। शमशेर बहादुर सिंह की नजरो में – "एक -वह—ही- दहकता इस्पाती दस्तावेज" है और जिसमें – "देश की धरती, हवा, आकाश, देश की सच्ची मुक्ति, आकांक्षी नस–नस" फड़क रही है।"[2]

निराला की कविताओ, तुलसीदास, जागो फिर एक–बार, दिल्ली,

राम की शक्ति पूजा या भारती–वन्दना मे परतन्त्र भारत के प्रति एक तीखी अकुलाहट भरी है और कही न कही से इस गुलामी से छूटने की कामना भी व्यक्त की गई है मुक्तिबोध की कविताओ मे राष्ट्र की स्वतन्त्रता से आगे बढ़ कर जन की "स्वतन्त्रता" की बात की गई है। निराला की कविताओ मे जहाँ – बृहन सास्कृतिक सकट का घटाघोप है वही पर मुक्तिबोध की कविताओ मे सामाजिक संकट, जो कि नेताओं की नैतिकताविहीनता और भ्रष्टाचार, अवसरवाद आदि का पूरक ही है, देखा जा सकता है संक्षेप मे यह कि निराला ने अपनी "काव्य यात्रा जहाँ खत्म की है वहीं मुक्तिबोध का प्रस्थान बिन्दु है। अत यह कहना कि किसानो को जो लक्षित नही कर सका उसकी प्रगतिशीलता उसकी वैचारिकता संदिग्ध है, नहीं माना जा सकता। ऐसे ही आलोचकों के लिए मुक्तिबोध ने लिखा है कि – "उस पीढ़ी का जीवन, जो आगे आ रही है और लिख रही है इन समीक्षकों के लिए तभी तक महत्वपूर्ण है, जब तक वह "प्रगतिवादी भावों को उन्ही के ढर्रे पर प्रकट करे। उस पीढ़ी की असली जिन्दगी के संघर्ष, कष्ट और सवेदनाओं से उन्हें कोई मतलब नही।"[3]

मुक्तिबोध एक कवि थे कोई, पेशेवर आलोचक नहीं, लेकिन जब उनकी कविताओं तथा उस काव्यान्दलोन (जिसकी वो उपज थे) को खारिज करने का प्रयास किया गया तो स्वाभाविक रूप से अपनी बात को और तद्वत अपनी काव्य समझ को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने पत्रकारिता के रूप में राजनीतिक प्रतिक्रियाओं के साथ साहित्यिक प्रतिक्रियाओं को भी व्यक्त किया, जो समय–समय पर विभिन्न पत्रो–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुयी। आज हमारे पास सैद्धान्तिक समीक्षा के रूप में जो पुस्तकें प्राप्य हैं। उनमें "नई कविता का आत्म सघर्ष और अन्य निबन्ध" (प्रकाशन वर्ष – 1964) "एक साहित्यिक की डायरी" (प्रकाशन वर्ष–1971) हैं। इन तीनों ही पुस्तकों में मुख्य रूप से "नई कविता" पर ही अनेकश विचार किया गया है जो निबन्ध "नई कविता" शीर्षक से अपना तादात्म्य नहीं बना सके हैं उसमे भी दृष्टिकोण मुख्य रूप से नई कविता वाला ही है। इस प्रकार के निबन्धों में "मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू" मुख्य कहा जा सकता है। इस निबन्ध में भक्ति आन्दोलन के अपघटन पर बाकायदे विचार

किया गया है। दृष्टिकोण मार्क्सवाद ही है। लेकिन इस निबन्ध में भक्ति आन्दोलन के पैदा होने को लेकर जो एक बहस सर ग्रियर्सन आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने समय-समय पर चलाई उन बहसों पर मुक्तिबोध की पक्षधरता आचार्य शुक्ल के साथ है, यह एक प्रीतिकर आश्चर्य ही है। इस विवेचन को "कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी" का ही एक और उदाहरण समझा जा सकता है। जो बहस ग्रियर्सन" से चलकर नामवर सिंह और रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा अपने पूरे वेग से बहती चली आयी हो, और जिसमे आलोचक प्रवरो का खेमेबाजी और "डिफेन्डेन्ट" तैयार करने का अपना-अपना प्रयास बराबर चला आ रहा हो उसमे एक घोषित "अन्य दलीय" मुक्तिबोध का यह मत कि - "यद्यपि पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक है कि भक्ति की धारा बहुत पहले से उद्‌गत होती रही और उसकी पूर्व भूमिका बहुत पूर्व से तैयार होती रही, किन्तु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नहीं मालुम होता कि मध्य युगीन भक्तो की भावना में जनता के सांसारिक कष्टो के तत्व नहीं हैं। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन मे हमें पर्याप्त सत्य मालूम होता है कि भक्ति आन्दोलन का एक मूल कारण जनता का कष्ट है।"[4]

मुक्तिबोध ने कभी भी तथ्यों की अनदेखी नहीं की या कि उन्होंने जीवन और साहित्य में किसी भी सिद्धान्त को नही थोपा। वे सहज जीवन और उसकी चैतन्यता के कायल थे। बनावटीपन चाहे वह कला के क्षेत्र में हो अथवा जीवन मे उन्हे कभी भी स्पृहनीय नहीं रहा। साहित्य में "कलात्मक फ्राड" की बात यो ही नहीं उठाते बल्कि उसका एक आधार है, और वह आधार है अपने लेखक होने का बोध और लेखकीय जिम्मेदारी। समाज में रचना का प्रभाव तो होना ही होता है। यह अलग बात है कि वह समाज को कौन सी दिशा देती है। रीतिकालीन साहित्य किस तरह से अपने युग को प्रतिबिम्बित करता है और उसके बहुतेरे लेखकों (कवियों) की दिशा क्या थी? इस पर आज बहुत बहस की जरूरत नहीं है। इस प्रकार के साहित्यिक सृजन तथा उसके सामाजिक प्रभाव को लेकर कभी , आचार्य महावीर प्रसाद, बहुत ही झुंझलाए थे, तब से लेकर आज तक उन पर "नैतिकतावादी" जैसे - "लेबल" चस्पा हो गए

और उनके युग के साहित्य को "द्विवेदी युगीन" नैतिकता से आक्रान्त कहा गया लेकिन यह "कलात्मक नैतिकता" जो कि साहित्य का सर्वोच्च मूल्य है, जिस दिशा मे समाज को, युवको को, ले जाता है वह निश्चय ही उन क्षयी प्रवृत्तियो से तो बेहतर ही है, जो कि "रीतिकाल" जैसे युग में देखने को मिली। संक्षेप में यह कि साहित्य जिस युग को प्रतिबिम्बित करता है। वह जिस सामाजिक गतिविधियों का पुञ्जीभूत होता है। अपने सृजनोपरान्त वैसे ही समाज का समानान्तर निर्माण भी कराता है। इसीलिए मुक्तिबोध के लिए जो लेखक होने का तकाजा है वह उनकी दृढ़ ईमानदारी का पक्का सबूत है। उन्होंने लिखा है कि – "यदि लेखक आज ईमानदार है तो उसे अपने प्रति और अपने युग के प्रति अधिक उत्तरदायी होना होगा।"[5]

मुक्तिबोध के संदर्भ में यह प्रश्न प्राय. उठाया जाता है कि यदि वे "क्रान्तिकारी कवि" हैं और उनका साहित्य "जनता" का साहित्य है, तथा वे एक व्यापक समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं तो वजह क्या है कि उनको समझ मे न आने वाला कवि ठहराया जाता है? जहाँ तक इस सवाल का प्रश्न है वह केवल मुक्तिबोध ही नहीं पूरे हिन्दी साहित्य का संभवत. सबसे ज्वलंत सवाल है। और वह सवाल पूर्वोक्त अंश को घुमा–फिरा कर ही यह है कि – एक बड़ा पाठक वर्ग क्यों हिन्दी साहित्य से दूर है? इसके अनेकों कारण हो सकते हैं, मसलन : किताबों की उच्च कीमत, पाठकों अथवा प्रेक्षकों की सद्य. मनोरञ्जनवृत्ति, रूचिकर साहित्य का अभाव, मीडिया का क्रान्तिकारी प्रभाव। लेकिन इन कारणों पर टेली जाने से पहले सबसे पहला सवाल यह उठता है कि वह "बड़ा पाठक वर्ग" आखिर है क्या? और उसमें शामिल कौन–कौन लोग हैं। जहाँ तक हिन्दी साहित्य के विशाल पाठक वर्ग का सन्दर्भ है वह आकस्मिक रूप से साहित्य के विद्यार्थियों का ही है। इस स्तर पर यह स्वाभाविक हो जाता है कि हिन्दी साहित्य का मतलब उसके विश्व–विद्यालीय कोर्स से ही समझा जाता रहा है। कह सकते हैं कि हिन्दी–विद्यार्थियों के अलावा भी कुछ लोग साहित्य के अध्येता हैं, लेखक हैं और आलोचक भी? लेकिन ऐसे लोगो

का कितना परसेन्ट है? यह किसी से छुपा हुआ नहीं है।

तमाम साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओ ने साहित्य को जन–सामान्य तक पहुँचाने की जो मुहिम छेडी है वह भी लगभग असफल है। जिसका मतलब है हिन्दी साहित्य में तुलसीदास से लेकर प्रेमचन्द तक की जो एक लम्बी श्रृंखला है, सम्प्रति उन्हे भी हिन्दुस्तानी आबादी का चन्द प्रतिशत ही पढ़ता है। फिर मुक्तिबोध के सन्दर्भ मे इस सवाल का औचित्य समझ से परे है। मुक्तिबोध ने बेशक क्रान्तिकारी रचनाए की हैं लेकिन जिसके लिए की है वह वर्ग था तो बड़ी मात्रा मे अशिक्षित है अथवा साक्षर होकर नोन–तेल–लकड़ी के इंतजाम मे नधा पड़ा है। इसीलिए वे इस समस्या को लक्ष्य करके ही लिखते है कि – "जो लोग "जनता का साहित्य" से यह मतलब लेते हैं कि वह साहित्य जनता के तुरन्त समझ मे आए, जनता उसका मर्म पा सके यही उसकी पहली कसौटी है – वे लोग यह भूल जाते है कि जनता को पहले सुशिक्षित और सुसंस्कृत करना है। वह फिलहाल अन्धकार में है। जनता को अज्ञान से उठाने के लिए हमें पहले उनको शिक्षा देनी होगी।"[6]

ओर इस बुनियादी शिक्षा के अभाव मे किसी देश को क्या–क्या भुगतना पड़ता है यह सब उन–उन देशों मे बाकायदे देखा जा सकता है जिनकी साक्षरता प्रतिशत में आज भी कोई विशेष इजाफा नही हो सका है। चाहे वह राजनीतिक या धार्मिक अथवा आर्थिक सामाजिक कोई भी बिन्दु क्यों न हो सबमें जो प्रचण्ड गिरावट देखी जा रही है उसके मूल में अशिक्षा ही है। राजनीति के क्षेत्र मे जातिवाद, भाई–भतीजावाद, सम्प्रदायवाद जैसी बुराइयों ने जिस तेजी से जगह बनाई है वह अकारण नही है। इसका तार्किक आधार है – लोगों मे जनचेतना की व्यापक कमी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस जनचेतना में गिरावट के पीछे हमारी सोच है और इस सोच के पीछे हमारी शिक्षा और प्रविधि है। सामाजिक क्षेत्र में यह माँग आम जनता द्वारा जो समय समय पर की जाती है कि फिल–वक्त इस संत्रास से छुटकारा कैसे मिलेगा? तो घूम–फिर कर एक ही बिन्दु पर बात आकर टिक जाती है कि जब तक

देश का बहुतायत कायदे से शिक्षित नही हो जाएगा, तब तक इस जद्दोजहद से मुक्ति मिलनी असभव है। क्योंकि मुक्ति के लिए विचारो की आवश्यकता है। ऐसे विचारो की जो मानसिक गुलामी की जंजीरो को तड़ातड़ कर तोड़ सके। इसीलिए स्वाभाविक तौर पर एक जागरूक लेखक और मनुष्य के नाते मुक्तिबोध यही सोचा करते थे कि साहित्य ऐसा हो जो समाज के विचारों को बदल दे और उसे अग्रगामी तथा प्रगतिशीलता की दिशा में सचरित करे। स्त्री क्रांति, जानवाद आदि के परिप्रेक्ष्य मे वे राज्य स्तर पर विभिन्न राज्यों से होने वाले स्त्री–मुक्ति आन्दोलनों तथा जनवादी सुझावो की व्यापक जॉच पड़ताल करते हैं। वह मराठी उपन्यासकार "हरि नारायण" आप्टे तथा बंगाली उपन्यासकार शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपनी राय बनाते है कि – "महाराष्ट्रीय स्त्री अन्य प्रान्तीय स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है चाहे वह निरक्षर ही क्यों न हो।"[7]

इस सारी साहित्यिक तफ्तीश के पीछे गहन ऐतिहासिक समाज–शास्त्रीय चिन्तन छुपा है जो हर एक कार्य के पीछे कारणों की बगैर जॉच किए अपना निर्णय नहीं देता, क्योंकि एक विशेष प्रकार का साहित्य एक विशेष वर्ग और विशेष समय में ही क्यों जन्म लेता है जब तक उसके कारणों पर न बहस हो तब तक साहित्य के असली स्रोत को नहीं जॉंचा जा सकता। शरच्चन्द्र के उपन्यासों के किरदार खास तौर पर स्त्रियॉं आखिर क्यों इतनी निरीह और मानसिक अंकिंचनता का शिकार है? उनकी "स्त्रियॉं" एक उदास सौन्दर्य की ही क्यों प्रतीक हैं? इन सबके पीछे वह बनावटी सभ्य समाज है जो प्रत्येक व्यक्ति को सलीका सिखाने के नाम पर कठिन बन्धनों में जकड़ देता है। मुक्तिबोध लिखते हैं कि – "इन सबके पीछे बंगाल की जमींदारी प्रथा से आक्रांत मध्यम वर्ग की सामन्ती लौह श्रंखलाएं"[8] हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि भाग–1 में संकलित अपने प्रसिद्ध निबंध "कविता क्या है?" के उपशीर्षक "कविता" और सृष्टि–प्रसार के अन्तर्गत "भोग–लिप्सु" और "तमाशबीन" जैसे दो कवि–कोटियों का उल्लेख किया

है वह एक तरह से "जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि" की ओर ही सकेत हैं, जिनका जिक्र मुक्तिबोध ने अनेकश किया है। हिन्दी साहित्य द्वारा नई कविता तक की हालाँकि एक लम्बी दूरी तय की गई, लेकिन "भोगलिप्सुओं" और "तमाशबीनों" से साहित्य को छुटकारा न मिला। चूँकि आचार्य शुक्ल ने "सच्चे कवि" से उपरोक्त कवि–कोटियों को अलगाया है, अत सच्चे कवि को शुक्लीय परिभाषा से रूबरू होना आवश्यक हो जाता है, लिखते है कि – "प्रकृति के साधारण असाधारण सब प्रकार के रूपों से रमाने वाले।"[9] वर्णन कर्ता, जिसमे उन्होंने भवभूति, बाल्मीकि और कालिदास को परिगणित किया है। इन कवियो ने वैविध्यमय जीवन के सभी उपादानों को काव्य का विषय बनाया है, न कि किसी खास विषय की, किसी खास कारण की वकालत की हो। मुक्तिबोध ने भी माना है कि – "मनुष्य जीवन का कोई अग ऐसा नही है जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो। जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि एक विशेष शैली को एक दूसरी विशेष शैली के विरूद्ध स्थापित करती है।"[10]

मुक्तिबोध यद्यपि ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय चितक हैं लेकिन वे स्थूल समाजशास्त्रिय विवेचकों की इस पाँत मे नहीं आते जो मार्क्सवाद के नाम पर केवल वस्तु वाद को ही तरजीह देते है। उनकी आलोचना में मानव मूल्यों तथा मनुष्यता के सामान्य तकाजों के अनिवार्य सूत्र इस तरह संगुम्फित हैं कि कभी–कभी यह लगता ही नहीं है कि साहित्य का विवेचन किया जा रहा है अथवा समाज का। उनके प्रायः निबन्धों में कलात्मक –विवेचन के साथ सामाजिक अगतिकता की प्रसगबद्धता उनकेआलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है। कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध की आलोचना केवल साहित्यिक मूल्यों और मानदण्डो की ही नहीं बल्कि मानव–जीवन के मूल्यों और प्रतिमानो की पक्षधर है। वे ऐसे मार्क्सवादी चिन्तक हैं जो बगैर किसी पूर्वाग्रह के अपने ही खेमे की जड़ीभूत चिन्तनधारा की तीव्र आलोचना करते हैं लिखते हैं कि – "साहित्य की केवल ऐतिहासिक अथवा स्थूल समाजशास्त्रीय विवेचना कर चुकने में जो आलोचक अपनी इतिकर्त्तव्यता समझ लेते हैं, वे न केवल एक पक्षीय अतिरेक करते हैं,

वरन् वे, मनुष्य का विवेचन करने के स्थान पर, केवल उसके अस्थिपजर को ही पाठको के सामने करके यह कहते है कि देखो मनुष्य जो कुछ है वह यही है।"[11]

यही वजह है कि वे ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय चिन्तन को दो भागों मे बाँटते है, जिनमे एक का सम्बन्ध सैद्धान्तिक मानदण्डो के आधार पर साहित्य का विवेचन होता है जब कि दूसरे प्रकार की वह समीक्षा है जिसमे – "जीवन यथार्थ की कसौटी पर कसकर उनका मूल्याकन तथा प्रभाव मापन"[12] किया जाता है। यह दूसरी समीक्षा ही मुक्तिबोध के अनुसार – "बहुत बड़ा काम" है क्योंकि इसमें साहित्य विवेचन के दौरान कलात्मक विवेक सम्बन्धी जो प्रश्न उठते है उनकी भी जवाबदेही आलोचक की होती है।

मुक्तिबोध अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा चिन्तन मे "नई समीक्षा" के जनवादी सरोकारो से सर्वाधिक प्रभावित रहे हैं। यद्यपि यह सही है कि नई समीक्षा का अंततः पर्यवसान शुद्ध रूपवाद में हुआ लेकिन "कला की स्वायत्तता" के सवाल को उठाने के बावजूद भी यह समीक्षा कहीं न कहीं साहित्य के आस्वाद्य और साहित्य में मानवीय या नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा से ही जुड़ी है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि नई समीक्षा के आलोचकों के मन में, गहन सांस्कृतिक संकट, जो कि प्रथम विश्वयुद्ध से प्रसूत था, और उस संकट मे मानवीय सत्रास से निज़ात पाने के लिए जो मानवीय आस्था जरूरी थी, उसका इन्होंने पालन किया। हालाँकि हर जगह इन समीक्षकों के विचारों में सहमति नही है, जैसे – साहित्य के सन्दर्भ में की गई मूल्यो की व्याख्या, परन्तु मानव और सभ्यता के सम्बन्ध में उन सभी के मन मे चिंता है। मुक्तिबोध जब अपने लेखों में मूल्यों की स्थापना की बात करते है तो उसका एक स्रोत नई समीक्षा का वह मूल्यवादी रूझान ही है, जिसमे बताया गया है कि हम साहित्य का पठन–पाठन इस लिए करते हैं कि साहित्य मे जीवन के मूल्य समाहित होते हैं और साहित्य के प्रति श्रद्धा या अश्रद्धा का सवाल भी उसी

जीवनगत मूल्यो से ही जुडा है।

हालाँकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य में अपनी उपयोगितावादी दृष्टिकोण के कारण "हिन्दी साहित्य का इतिहास" मे इस बात से आगाह किया था कि – "योरोप मे अनेक प्रकार के वादो की उत्पत्ति प्रतिवर्तन रिएक्शन के रूप मे ही हुआ करती है। अत हमे सामञ्जस्य बुद्धि से काम लेकर अपना स्वतन्त्र मार्ग निकालना चाहिए।"[13]

लेकिन इस सवाल की ओर ध्यान नही दिया गया तथा योरोपीय साहित्य से उधार लिए गये नाना वादो को या काव्यशास्त्रीय प्रतिमानो को प्रतिष्ठित करने का सफल असफल प्रयत्न किया गया, मुक्तिबोध ने यूँ ही नही लिखा है कि – "स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त, भारत मे एक ओर अवसरवाद की बाढ आई। शिक्षित मध्यवर्ग में भी इसकी जोरदार लहरे पैदा हुईं। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह में बहे और खूब ही बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद, स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि में, नई कविता के क्षेत्र में पुराने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किए गए और कुछ सिद्धान्तों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गई। ये सिद्धान्त और उनके हमले वस्तुतः उस शीत युद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लन्दन और वासिंगटन से ली गई थी।"[14]

स्पष्ट रूप से यह उद्धरण बताता है कि समाज की अगतिकता के साथ–साथ साहित्य में भी प्रतिक्रियावाद को बल मिलता है। ये प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त जनता को उसके वास्तविक लक्ष्यो से न केवल हटाते है बल्कि प्रेरणा के नाम पर उनके साथ छद्म भी करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोचे के "अभिव्यञ्जनावाद" तथा ब्रेडले के "कलावाद" का खण्डन करते हुए नई समीक्षा के पुरोधा आचार्य आई.ई. स्पिनगार्न का भी नाम लिया है। यह वही स्पिनगार्न हैं जिन्होने 1910 में अमेरिकी और अंग्रेजी साहित्य का विवेचन करते हुए "न्यू क्रिटिसिज्म" जैसे पदबन्ध का सर्वप्रथम प्रयोग किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि नई समीक्षा मे "कला की स्वायत्ता" तद्वत उसकी अद्वितीयता का जो सवाल खड़ा किया गया वह प्रकारान्तर से ब्रेडले और

क्रोचे से ही जुडा है जिसमें कला को केवल रूपवादी ढाँचे तक ही सीमित सा कर दिया गया और जिसमे तत्व के नाम पर शून्यता पायी जाती है। काव्य मे जिस वस्तु या भाव को सम्प्रेषित किया जाता है उसका इन कला सिद्धान्तो मे कोई महत्व नही है। महत्व है तो केवल कहने की उस "अनूठी शैली" या "रूप" की जिसे इन कलावादी आचार्यों से भी पहले भारतीय काव्य शास्त्र मे "कुन्तक" ने प्रस्तुत किया था। वक्रोक्तिकार ने स्पष्ट लिखा है कि - "वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। की दृशी? वैदग्ध्यभगीभणिति.। वैदग्ध्य विदग्धभाव., कवि कर्म कौशले, तस्य भगी विच्छिति. तया भणिति। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।।"[15]

कुन्तल ने भी विदग्धता (वैदग्ध्य) को "कवि कौशल" ही माना है जिसमे भी तत्ववाद का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। जोर है तो केवल कवि की कुशलता पर। किन्तु जो "साहित्य मे सोद्‌देश्यता" को महत्व देते हैं उनके लिए कवि कौशल का मतलब है जीवन मे साहित्य की प्रतिष्ठा और साहित्य में जीवन की प्रतिष्ठा। जो कि निश्चित तौर पर न तो कुन्तल के साथ होगा और न ही क्रोचे के साथ, जिन्होंने कलात्मक सौन्दर्य को केवल इतना ही मानते हैं कि - An Aesthetic fact is 'form and nothing else."[16]

कुन्तल के वक्रोक्तिवाद मे यहाँ तक तो सही है कि "वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यं" लेकिन जब यही विदग्धता खिलवाड़ का रूप ले लेती है और काव्य वस्तु को अलक्षित करते हुए उसके कथन शैली को ही महत्व देती है तो सारी गड़बड़ शुरू होती है। नि सन्देह कोई भी कवि अपनी विदग्घता के कारण ही दूसरे कवि से अलग है लेकिन जब उसी कवि का मूल्याकन करना समीक्षक शुरू करता है तो उसे अद्वितीयता के लिहाज से नही बल्कि पूरी साहित्यिक परम्परा में और व्यापक मानवीय सन्दर्भों में ही करता है। कविता की इसी ठोस समझ के कारण ही शुक्ल जी ने नवीन चन्द्रसेन को खारिज किया जिन्होने कवि कौशल द्वारा परम्परित खल चरित्र "मेघनाद" की "व्हाइट वासिग" का प्रयास किया।

मुक्तिबोध ने शीतयुद्धकालीन जिन प्रक्रियावादी साहित्य-सिद्धान्तों को परिगणित किया है उनमे - (1) सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवनानुभवो की समान्तर गति" का सिद्धान्त

(2) "कला की ऑटोनामी" का सिद्धान्त

(3) आधुनिक भावबोध का सिद्धान्त

(4) लघु मानव की अवधारणा

(5) व्यक्ति स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त",[17] मुख्य है। उन्होंने इन सभी की कड़ी भर्त्सना की और इन सिद्धान्तो के मूल मे जनवाद के मुखर विरोध को लक्षित किया। इन सभी सिद्धान्तो का मुख्य स्रोत "कला की ऑटोनामी" का ही सिद्धान्त है। लेकिन स्वायत्ता के इस सवाल को आई0ए0 रिचर्ड्स, जान क्रो रैसम तथा एफ0 आर0 लिविस की स्वायत्ता सम्बन्धी समझ से अलग कर ही देखा जाना चाहिए। क्योंकि इन तीनो ने ही काव्य वस्तु की व्याख्या करने के लिए "बाह्य सन्दर्भों" को एकदम गैर जरूरी नहीं समझा, इस तरह से "नई समीक्षा" मे भी दो खेमे हो जाते है एक - वह जो कला की स्वायत्ता को लेते हुए उससे भी अधिक प्रमुखता कहीं न कही जनवादिता तथा मानववादी अवधारणाओ के विरोध को देता है जबकि दूसरा खेमा जिसके नेता आई0ए0 रिचर्ड्स थे साहित्य का मूल्याकन मूल्यो के आधार पर करने की पुरजोर वकालत करते है। इतना तो निश्चित है कि मूल्यो की कसौटी समाज है, कला स्वय नहीं है। अत. इस दृष्टिकोण से कला की समीक्षा के लिए कला से बाहर जाना अनिवार्य हो जाता है।

आई0 ए0 रिचर्ड्स को हिन्दी साहित्य मे प्रतिष्ठापित करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। इस सन्दर्भ मे देखने की बात यह है कि नई समीक्षा का ध्येय वाक्य "कला की स्वायत्ता" के पुरजोर समर्थक आई0 ए0 रिचर्ड्स को शुक्ल जी ने कलावादियो की "कला की स्वायत्ता" जिसका मूल मंत्र "आर्ट फार आर्ट सेक" था, का खण्डन करने के लिए ही किया, रिचर्ड्स ने स्पष्ट लिखा है कि - "यह सिद्धान्त कविता को जीवन से अलग समझने का आग्रह करता है। x x x x x x x x x x x x x x

जो कुछ काव्यानुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। काव्य जगत की शेष जगत से भिन्न कोई सत्ता नही है और न उसके कोई अलौकिक या विशेष नियम है। उसकी योजना बिल्कुल वैसे ही अनुभवो से हुआ करती है जैसे और सब अनुभव होते है।"[18]

इसका मतलब यह है कि नई समीक्षा के मूल्यवादी समीक्षको की कला की स्वायत्ता की अवधारणा, एकदम वही नही है जो उसके अन्य समीक्षको अथवा कलावादी सिद्धान्तकारो, जैसे क्रोचे एव ब्रैडलेड स्वायत्ता सम्बन्धी समझ। इन्ही मूल्यवादी समीक्षको मे ही मुक्तिबोध का स्थान भी निर्धारित किया जा सकता है। उन्होने समाज एव साहित्य के ढहते मूल्यो पर जहाँ गहरी चिन्ता जताई है वहीं वे उभरते जनवादी मूल्यो तथा ताकतो के प्रति आश्वस्त और प्रसन्न भी है लिखते हे कि "सामान्य जनो की अपार आध्यात्मिक और बौद्धिक क्षमता मे यदि हमारा विश्वास है, हमारी आस्था है तो हम अपने ही पिता के सच्चे पुत्र होगे।"[19]

मुक्तिबोध ने शीत युद्धकालीन जिन साहित्य सिद्धान्तों को लक्षित किया उनके व्यापक प्रभाव के कारण – "हिन्दी मे एसे समीक्षक–विचारक भी सामने आए जिन्होने न केवल प्रगतिवादी विचारकों की भूलों का फायदा उठाया, वरन् वे साहित्य मे ऐसी विचारधारा का विकास करने लगे, जिसका उद्देश्य लेखक को उस वास्तविक जीवन–सघर्ष में प्राप्त जीवन–मूल्यो से हटाकर, सम्पूर्ण व्यक्ति केन्द्र बनाने का था।"[20]

ऐसे सिद्धान्तकारों, जिनका प्रभाव प्रगतवादी आन्दोलन को क्षीण करके उनके साहित्य के मार्ग को अवरूद्ध कर देना था, के वैचारिक गुरू नई समीक्षा के जनक टी एस.इलियट हैं। जैसा कि डॉ0 निर्मल जैन ने "नई समीक्षा के प्रतिमान" में टी एस इलियट के निबन्ध संग्रह "सेक्रेडवुड" (1920) ई0 से ही नई समीक्षा की शुरूआत मानी है। लेकिन दिलचस्प यह है कि उसे चार साल बाद आए आई ए रिचर्ड्स "प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म" (1924) ई0 हिन्दी मे पहले प्रवक्ता हुए, वही पर तब तक नई समीक्षा के जनक

की कोई पहचान हिन्दी – जगत मे नही हो सकी। इलियट को हिन्दी मे प्रतिष्ठित करनि का श्रेय "अज्ञेय" को है, क्योंकि चालीस के दशक मे अज्ञेय द्वारा "शेखर एक जीवन" की जो प्रकल्पना तीन भागो मे की गई, उसकी भूमिका मे इलियट का नाम बडे ही आदर के साथ लिया गया है। लिखते है कि – "ऐसे व्यक्तियो के लिए टी एस इलियट की उस उक्ति का कोई अर्थ नही होता, जो वास्तव मे इसका एकमात्र उत्तर है

"There ıs always a separatıon between th e man who suferrs and th e artıst who creates and the grater. The artıst the grater the separatıon.
(भोगने वाला प्राणी और सृजन करने वाले कलाकार – मे सदा एक अन्तर होता है, और जितना बडा कलाकार होता है, उतना ही भारी यह अन्तर होता है) × शेखर मे मेरापन कुछ अधिक है, इलियट का आदर्श (जिसकी महानता मै मानता हूँ) मुझसे नही निभ सका है।"[21]

यह आकस्मिक नही कि जिस समय इलियट के नाम की चर्चा हिन्दी जगत मे हुयी लगभग उसी समय की निराला द्वारा रचित कविता "कुकुरमुत्ता" मे इनके ऊपर स्पष्ट व्यंग्य किया गया। कुकुरमुत्ता का रचना काल 40 से लेकर 41 के बीच का है, हालाँकि इस रचना की ठीक–ठीक रचना तिथि 3–4–41 दी हुई है"[22]
निराला ने लिखा कि

कही का रोडा कही का पत्थर,
टी एस इलियट ने जैसे दे मारा
पढने वालो ने भी जिगर पर रखकर
हाथ, कहा, "लिख दिया जहाँ सारा।"[23]

यह भी महज सयोग नहीं है कि कला की स्वायत्ता के नाम पर साहित्य समीक्षा के लिए लेखक के परिवेश और उसकी जीवनी दोनो से ही मुँह मोड़ लेने की "नई समीक्षा" वालो ने सुझाव दिया जिसका मतलब साफ

था कि कवि के भोगे गए जीवन को कलात्मक – जीवन से पृथक कर देना। लेकिन यह भोगा गया जीवन रचनाकार को दूसरे रचनाकार से जहाँ विलगता है, वही पर उसके अनुभव को और भी अधिक गझिन बनाता है। क्या वजह है कि कबीर अपने समाज की इतनी तीव्र आलोचना करते हैं? तुलसी के सामने जो सामाजिक मर्यादावादी मुहिम थी, क्या उसमे जीवनगत कटुताओ का भी हाथ नही था? घनानन्द की प्रेम की पीर के पीछे कौन सा "स्रष्टा मन" और "भोक्तामन" का पार्टीशन बोल रहा है? प्रेमचन्द के कथा साहित्य और अज्ञेय के कथा साहित्य मे आए चरित्रों के पीछे क्या लेखक का वास्तविक यथार्थ (भोग गया) नही है? इन सभी प्रश्नो का हमे कवि–जीवन में ही गहरे झाँकने पर मिल सकता है? अत कला मे वास्तविक धार लाने के लिए दृष्टाभाव तथा भोक्ताभाव का ऐक्य अपरिहार्य है। "अज्ञेय" जैसे कलावादियो ने भी "कलात्मक क्षण" तथा इलियट के "इण्डिविजुवल टैलेन्ट" से बेहद प्रभावित होने के बावजूद भी "शेखर . एक जीवन" को उस आत्मपरकता से बाहर नही निकाल पाए जिसे वे सैद्धान्तिक तौर पर साहित्य के लिए घातक मानते रहे और अन्ततः यह लिखने पर मजबूर हुए कि – "शेखर निस्सदेह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज है"[24] और भी तमाम बातें है जो अज्ञेय को आत्मपरक शैली का कथाकार घोषित करने के लिए काफी हे जैसे – "वेदना मे शक्ति है, जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह दृष्टा हो सकता है।" × × × × × × × × × × × × × × × × × और कौन जाने, आज के युग मे जब हम, आप सभी संश्लिष्ट चरित्र हैं, तब आप पाए कि आपके भीतर भी कही पर एक शेखर है।"[25] उपरोक्त पहले कथन "वेदना" का जो जिक्र है वह आत्मपरक होने के बावजूद कही न कहीं समाज प्रदत्त भी है। अब यह अलग है कि वेदना का जो स्वरूप अज्ञेय ने अपने संवेदनात्मक उद्‌देश्य के अनुसार खड़ा है वह उनकी निजी जिन्दगी, वर्गीय स्थिति से बहुत गहरे जुड़ा है? संक्षेप मे यह कहना है कि जिस आत्मपरक साहित्य साहित्य के खिलाफ यह सिद्धान्त ("भोक्तामन" एवं "स्रष्टामन" के पार्टीशन) वाला) हिन्दी जगत मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न हुआ वह हद तक असफल रहा। और हो भी क्यो न, जब नव्य–समीक्षा के काल मे ही परवर्ती नव्य

समीक्षको को "कला की स्वायत्ता" का सवाल कमजोर और अतिवादी लगा तो क्लीथ ब्रुक्स ने कहा – "यदि हम कविता के तनावो और समाहितियों को सही ढग से समझना चाहते है तो हमे कविता के बाहर जाने के लिए बाध्य होना पडेगा।"[26]

मुक्तिबोध ने लिखा है कि – "वर्तमान युग, मूलत आलोचना का युग है। अपनी–अपनी चेतना के अनुसार, और चारित्रिक गुणो के अनुसार, यह आलोचना चलती रहती है। मन ही मन जीवन व्याख्या के सूत्र चलते रहते है – विशेषकर, दु ख, संताप, कष्ट, भयानक निराशा और असतिकता की स्थिति मे ऊपर के अज्ञेय–कथन मे आए वेदनात्मक और इस उद्धरण में आया दु ख विफलता, का वेदनावाद वही नही है बल्कि इसकी व्याख्या मे "अपनी चेतना" और "चारित्रिक गुणों" का योग है, जो कही न कहीं प्रतिबद्धता और मानवीय आस्था के सवाले से गहरे जुडा है। मुक्तिबोध के साहित्यिक चिंतन में प्रतिबद्धता का सवाल वे "पक्षधरता" के रूप में भी व्याख्यायित करते है बडे ही महत्व का है। क्योंकि उनकी साहित्यिक–सम्यक और साहित्य के विषय मे उनकी चिन्ता का धरातल यही और यहीं से शुरू होता है कि– "पार्टनर आप है कहाँ? किस ओर खडे हैं? यही वह बिन्दु है जहाँ वे दार्शनिक तौर पर मार्क्सवादी तथा मानववादी हैं। उनकी पक्षधरता जिसे वे "साहित्यिक–विवेक" भी कहते है – मूलत "जीवन–विवेक" से ही जुडा हुआ है। मुक्तिबोध की यह पक्षधरता केवल हिन्दी–क्षेत्र तक ही सीमित न होकर ससार के विस्तृत साहित्यिक धरातल को छूती है। जैसे – आचार्य शुक्ल ने परिवारवादी, लोकधर्म, राष्ट्रधर्म से होते हुए विश्व धर्म तक पहुँचे नायक को महानायक या "मर्यादा पुरूषोत्तम" माना है कुछ वैसा ही मुक्बिोध के आत्मचेतस और विश्वचेतस् की भावना भी है। उनकी आत्मचैतन्यता जहाँ अपने ही देश के विविध भाषा–भाषी लेकिन मानवीय–प्रतिबद्धता से स्नात लोगों से जुडी है वहीं पर वे ससार के किसी भी क्षेत्र किसी भी भाषा से जुडे रचनाकार अथवा मनुष्यो से अपनी गहरी सहानुभूति जताते है, जो कही न कही मानवता की हित चिन्ता मे दत्तचित्त हैं। उनके साहित्य सृजन और चिन्तन मे इस पक्ष

धरता का मोल तब और भी समझ मे आता है, जब वे लिखते है कि – "सक्षेप मे हम सब एक प्रवृत्ति हैं, एक धारा है – भावधारा, विचारधारा, जीवनधारा – और, हम सब उसी धारा के अग है और हम इसी धारा के पक्षधर है। और, हम, बिना इस पक्षधरता के, अपने आप को, अपूर्ण मूल्यहीन और निरर्थक पाते है।"[28]

ध्यान देने की बात यह है कि वह केवल "विचारधारा" को ही अपनी प्रतिबद्धता मे शामिल नही करते बल्कि उनका जो मूल स्रोत है "जीवन धारा उसको भी शामिल करते है। जिसका मतलब है कि विचारधारा के रूप मे किसी चीज को, सिद्धान्त को अपनाना और बात है जबकि जीवन मे उस विचार की व्यावहारिकता लाना दूसरी बात है। अत साहित्य की मूल्य वत्ता और पूर्णता के लिए जो सबसे जरूरी बात है वह जीवनगत और कलागत सिद्धान्तो का ऐक्य।

मुक्तिबोध ने एक जगह लिखा है कि – "आलोचना दो प्रकार की होती है, एक रूप की दूसरी तत्व की। महत्वपूर्ण बात यह है कि रूप अपनी स्थिति के लिए तत्व पर ही अवलम्बित होता है। तत्व अपने प्रकट होने की प्रक्रिया मे रूप निर्धारित और विकसित करता है। इसलिए तत्व की आलोचना रूप की आलोचना से अधिक मूलभत है। आपत्ति की जाएगी कि यह तत्व, जो समीक्षा का विषय है, साहित्यिक तत्व है (साहित्य में प्रकट तत्व है) न कि जीवन मे जिया जाने वाला तत्व। जीवन मे जिए जाने वाले तत्व साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र से बाहर की चीज है। यह आपत्ति एकदम निराधार है। साहित्य मे प्रकट तत्व की सत्यता की जाँच की कसौटी क्या है? सिद्धान्त? समीक्षक की कल्पनाएं? नही, बिल्कुल नही। साहित्य मे प्रकट तत्व की जाँच की कसौटी है – वास्तविक जीवन में पाए जाने वाले तत्व। इसी कसौटी के आधार पर हम कह सकते हैं कि अमुक कवि के आँसू वास्तविक करूणा नहीं, करूणा की विकासपूर्ण कल्पना है। x x x x x x x x x x x x x x x x x x x पात्रों की चरित्र

स्वाभाविकता या कृत्रिमता हम वास्तविक जीवन के अपने अनुभवो से ही घोषित करते है।"[29]

इस लम्बे उद्धरण मे मुक्तिबोध का जो मूल आशय है वह यह कि कलावादी विचारको द्वारा कृति की निर्विकल्पना स्वतन्त्रता की बात एक दम निरर्थक है, क्योकि रूप अर्थात् कला की वस्तुगतता उसके तत्व अर्थात् कथ्य पर ही निर्भर है। इस सन्दर्भ मे वह छायावादी आलोचको की खबर भी लेते जान पडते है जिसमे कथ्य को रूप से तद्‌वत सत्य को सौन्दर्य से पृथक करके देखने की एकागी समीक्षा पद्धति शुरू की गई। यद्यपि मुक्तिबोध ने "तत्व" को "रूप" से अधिक महत्वपूर्ण माना है, लेकिन उनके कहने का आशय यह है कि तत्वानुसार ही "रूप" अपना स्वरूप ग्रहण करता है। इसलिए वे कला की "ऑटोनामी" के नाम पर कला की निर्विकल्पक
स्वतन्त्रता की मुखालफत करते है। उन्होने कला की "सापेक्ष स्वायत्तता" को अधिक महत्वपूर्ण माना है लिखते है कि – "कला का अपना स्वायत्तता क्षेत्र है, किन्तु उसकी यह स्वतन्त्रता जीवन सापेक्ष्य है।"[30]

अपनी इस युक्ति के लिए उन्होने प्रकृति का जो रूपक प्रस्तुत किया है उसमे उन्होने बताया हे कि प्रकृति मे जैसे फल और फूल की अपनी स्वयत्तता होती है, लेकिन इस स्वायत्तता को अभिसिञ्चत करने के लिए वृक्ष के प्रत्येक अवयव को अपना योग देना होता है, दूसरे शब्दो मे फूल अपने अस्तित्व के लिए सारे वृक्ष पर निर्भर करता है, उसी प्रकार कला की स्वायत्तता, जीवन पर निर्भर करती है। इसीलिए वे कला की समीक्षा के लिए जीवन के संवेदनात्मक ज्ञान को अधिक महत्वपूर्ण मानते है। जब तक समीक्षक मे इसका अभाव होगा, साहित्य की समीक्षा या तो मात्र सैद्धान्तिक होगी अथवा खोखली।

डॉ0 नामवर सिह ने मुक्तिबोध साहित्य के मूल मे जो "निषेधो का निषेध" अथवा "हर तरह के अलगाव की विरूद्धता" लक्षित की है वह एकदम युक्तिसगत है, क्योकि मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक साहित्य को कभी भी

एकागी अर्थों मे नही ग्रहण करता, बल्कि उसको पूरी समग्रता में ही देखने, परखने का हिमायती है। जबवे लिखते है कि – "साहित्य समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन मे तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होने वाले ज्ञान सवेदना और सवेदनात्मक ज्ञान मे ही है। इस ज्ञानसवेदन और सवेदन ज्ञान के परे जाने वाली "समीक्षा" मे न "ईक्षा" यानी देखना या दृष्टि है और न सम्यकता।"[31]

तो जाहिरा तौर पर वे यह भी कह रहे है कि साहित्य को विवेचित करने वाली ऐसी खडित दृष्टि नही चलने वाली है जिसमे चेतना को बुद्धि से तथा सवेदना या भावना को हृदय से जोड कर देखा जाता है। दरअसल उन्हे "ज्ञानात्मक सवदेन" और "सवेदनात्मक ज्ञान" जैसे सश्लिष्ट पद गढ़ने की जरूरत भी इसीलिए महसूस हुई कि वे बुद्धि और हृदय के द्वैत को मानने वालो मे से नही थे। उन्होने इनकी मूल एकात्मता का न केवल अन्तर्महत्व समझा, बल्कि उस समीक्षा को भी सर्वश्रेष्ठ माना जो – "सवेदनात्मक जीवन के सत्य उद्घाटित करते हुए लेखक को अपने वस्तुसत्यों से अधिक परिचित सचेत करती है।"[32] दरअसल मुक्तिबोध हमारी उस गौरवशाली आलोचना परम्परा की एक कड़ी है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से प्रारम्भ हुई थी। आचार्य शुक्ल ने भी जीवन से निरपेक्ष किसी साहितय की कल्पना नही मानी। यही वजह है कि वे अपने निबन्ध "साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद" में प्रसिद्ध योरोपीय कलावादी विचारक "डटन" के "ड्रामैटिक आब्स्ल्यूट विजन" का खण्डन करते हैं। डंटन महोदय ने अपनी काव्य मीमांसा मे यह बताने का प्रयास किया था कि साधारण कवि लोग "सापेक्ष दृष्टि" से अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, चरित्रो का चित्रण करते है अर्थात् यह कि प्राय कवि या नाटककार अपने सृजित पात्रो की उक्तियो की कल्पना अपनी परिस्थितियो तथा वर्गीय आधार पर ही करते हैं। कविगण वास्तव मे यह अनुमान करते है कि यदि वे उक्त पात्र की जगह होते तो कैसा बर्ताव करते। जिसका मतलब यह है कि डंटन की दृष्टि मे कवि पात्रो के विकल्प के रूप में प्रस्तुत होता है। लेकिन वे ऐसे असाधारण (अद्वितीय) कवियो को भी मानते है जो समस्त सांसारिक गतिविधियो से निरपेक्ष रहते हुए एक ऐसे संसार का सृजन करते है

जो नरक्षेत्र मे नही पाया जाता, "इसी अद्वितीय प्रकृति के चित्रण" को डटन ने कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि

का सूचक और काव्य–कला का चरमउत्कर्ष माना है।"[33] कहने की आवश्यकता नही कि साहित्य मे यह निरपेक्षता न तो तब ही वरेण्य थी और न अब ही।

मुक्तिबोध ने आलोचना के केन्द्रीय तन्तु के रूप मे जिस "ज्ञानात्मक सवेदन" और "सवेदनात्मक ज्ञान" की एका को लक्ष्य किया है शुक्ल जी ने इसका सकेत बहुत पहले ही दिया था, उन्होने लिखा है कि – "ज्ञान–प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार होता है। आरम्भ मे मनुष्य की चेतनसत्ता अधिकतर इन्द्रिय ज्ञान के समष्टि के रूप मे ही रही। फिर ज्यो–ज्यो अत:करण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई त्यो–त्यो मनुष्य का ज्ञान बुद्धि व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञान क्षेत्र बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अत उसके विस्तार के साथ हमे अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा।"[34]

मुक्तिबोध ने कामायनी की व्यावहारिक आलोचना करते हुए जिस आलोचनात्मक हथियार को लिया है वह "फैटेसी" है जिसके विषय में उनका मानना है कि यह एक भाववादी शैली है, लेकिन इसी भाववाद के माध्यम से उन्होने कामायनी की जो तहकीकात की है वह अद्‌भुत है। इस माध्यम से मुक्तिबोध ने दिखाना चाहा है कि भाववादी तरीके से भी वस्तुवाद की समीक्षा की जा सकती है, जो कि मुक्तिबोध का सैद्धान्तिक समीक्षा में एक बडा योगदान है।

****

षष्ठ अध्याय

मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि

मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि

व्यावहारिक समीक्षा –

जैसा कि मुक्तिबोध ने अपनी एक पुस्तक की भूमिका मे लिखा है कि – "मै, मुख्यत. विचारक न होकर केवल कवि हूँ। किन्तु, आज का युग ऐसा है कि विभिन्न विषयो पर उसे भी मनोमन्थन करना पड़ता है। अपने काव्यजीवन की यात्रा में मुझे जो चिन्तन करना पड़ा, वह विज्ञ पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। उन्हे, सभवत , शास्त्रीय दृष्टिकोण से पूर्ण सुसंगत नही माना जा सकता फिर भी, नवीन युग की नवीन साहित्य–प्रक्रियाओं को, उनके प्रेरक तत्वो और उनके प्रति मेरा वैचारिक प्रतिक्रियाओ को मैने इन निबन्धो मे विभिन्न प्रकार से प्रकट किया है।"[35]

यह सन्दर्भ वस्तुत उनकी नेकनीयती का ही सबूत है जिसमे उन्होंने "विचारक" होने का दावा नही किया है बावजूद इसके कि मध्यकालीन भक्ति साहित्य से लेकर नई कविता तक के कई आयामों पर उन्होने विधिवत विचार किया है। यद्यपि वे अपने विचारों मे "शास्त्रीय सुसगमता" का भी दावा नही करते किन्तु यह एक तथ्य है कि समीक्षा के क्षेत्र मे उनके द्वारा जो भी विचार किया मया है वह एक तार्किकता एवं संगति की ही खोज है। दरअसल किसी भी ऐसे सिद्धान्तो से, जो या तो तथ्यो पर पर्दा डालते हों अथवा वस्तुओ की व्याख्या एकागी करते हो, अपनी चूल न बिठा पाने के कारण ही उन्हे बराबर "मनोमन्थन" करना पडा जो जाहिरा तौर पर निष्कर्ष के रूप में न केवल विचारोत्तेजक बल्कि सत्य के कही अधिक नजदीक है। वे आलोचक को "साहित्य का दरोगा" मानते है।[36] लेकिन . आलोचना के क्षेत्र मे साहित्यिक दरोगापने के खिलाफ हैं। यद्यपि यह एक बड़ा दायित्व है, किन्तु जिस हिसाब से यह दायित्व बड़ा है, उसके लिहाज से शायद आलोचक मे उरुका बोध नही है। आलोचक कभी भी यह नही सोचता कि वह जो कुछ अमुक साहित्य के विषय मे कह रहा है, अथवा उसकी जो धारणा है, उसके अलावा भी दृष्टि हा सकती है, औ॰ बहुत बार तो यही दृष्टिभेद साहित्य मे

विवादो को जन्म देती है, लेकिन इन सबमे जो बात अधिक जरूरी है, वह कवि या लेखक के साथ न्याय उसकी रचनाओ मे न्याय। रचनाओ से न्याय का मतलब लेखक की हाँ मे हाँ मिलाना नही बल्कि मानवता के सचित आलोक मे पूरी निगरानी से उसकी जाँच। इस निगरानी के लिए आलोचक मे जिस गभीर तैयारी की महती भूमिका होती है वह कभी-कभी उसके ही द्वारा गढ़े गए सिद्धान्तो से उसके पूर्वाग्रहो से टकरा कर खण्ड हो जाती है। जबकि इसके विपरीत लेखक या कि – "एक सच्चा लेखक जितनी बडी जिम्मेदारी अपने सिर पर ले लेता है, स्वय को उतना अधिक तुच्छ अनुभव करता है। उसे अपनी अक्षमता और आत्म सीमा का साक्षात बोध होता है। × वह खूब जानता है कि उसने जो कुछ वस्तुत सम्पन्न किया है उससे भी अच्छा किया जा सकता था।"[37]

पीछे के उद्धरण मे मुक्तिबोध द्वारा जिस "वैचारिक–प्रतिक्रिया" का जिक्र आलोचना के सन्दर्भ मे आया है उसके लिए "वस्तु तत्व" का महत्व असंदग्धि है जिसमे कवि का दृष्टिकोण भी शामिल होता है। सक्षेप मे यह कि कवि या लेखक अपने दृष्टिकोण से ही किसी वस्तु "तथ्य" के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया करता है। आगे वे इस तथ्य को कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी से जोडते हुए लिखते हैं कि – "व्यक्तिगत ईमानदारी वह जहाँ लेखक वस्तु का वस्तुमूलक आकलन करते हुए उस आकलन के आधार पर वस्तु तत्व के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया करे।"[38]

असल मे आलोचना के सम्बन्ध मे "व्यक्तिगत ईमानदारी" तब और भी जरूरी हो जाती है जबकि – "आलोचना हमेशा तटस्थ और निष्पक्ष नहीं हुआ करती। वह बहुधा दृष्टि की बजाय मात्र एक भावावेश होती है और दिल का किमियागर उस भावावेश पर बनावटी आँखे जड़ देती है। उसकी किमियागरी इतनी भयानक होती है कि वह हमारी सूरत बन्दर जैसी बना देती है जब कि हम खुद अपनी इस समझ के गिरफ्त मे रहते है कि हमारा चेहरा बहुत सुन्दर है। मतलब यह कि मेरा ख्याल है कि अधी श्रद्धा से अन्धी आलोचना एक भयकर चीज है।"[39]

मुक्तिबोध के वैचारिक विरोधी तक उनके व्यक्तित्व की सहजता तथा सरसता के कायल है। तथा यह स्वीकार करने मे किसी को गुरेज नही हो सकता कि – "एज ए ह्यूमन बीइंग उनमे अनेक बातो के बावजूद ग्रेटनेस के लक्षण थे × × × × × × × × × × × × × व्यक्तिश आइडिलिस्टिक थे फैक्चुवल नही। विचारत बौद्धिक और विश्लेषक। इस प्रकार एक टेंशन बनता था, सेल्फ एलिएनेशन घेरता था।"[40]

तो जिस "आईडियल" और "फैक्चुवल" की बात उनके अनुज शरच्चन्द्र जी करते हैं – "उसकी जाँच जिन्दगी के खाँचे मे ही करनी जरूरी हो जाती है। आइडियल का "फैक्ट" के साथ क्या अन्त सम्बन्ध है? और क्या फैक्ट का आइडियल से कोई द्वन्द्व भी है? ऐसे प्रश्नो का जवाब दुनियादार होकर ही दिया जा सकता है। यदि हम बुद्धि को इतनी घटिया चीज न माने जो पग–पग पर समझौता करती चलती है, तो उसका आदर्श से कोई द्वन्द्व नही हो सकता किन्तु जिन्दगी में कुछ पाने के लिए, तथाकथित सफलता ही पाने के लिए बुद्धि को यदि गिरवी रखना पड़े तो व्यक्ति और समाज के इस "फैक्चुवलनेस" को किस बात का प्रतीक कहा जा सकता है? निराला के सन्दर्भ मे दूधनाथ जी ने सच्चे रचनाकार और रचना की जिस अन्त-सूत्रता की ओर ध्यान दिया है वह बेशक कलाकार की समझौता परस्ती को खारिज करती है "मुझे लगता है कि एक बार पूरी तौर पर रचना के प्रति अपने समर्पण के बाद, व्यक्ति कोई भी दूसरी जिम्मेदारी सच्चो मायनो मे और मुकम्मल तौर पर नहीं निभा सकता। वह कोशिश कर सकता है, वह एक सन्तुलन बनाए रखने का उत्कट प्रयत्न कर सकता है, लेकिन अक्सर वह अपने को इसमे असफल पाता है। इसके लिए उसे दोषी भी नही ठहराया जा सकता। कला रचना के प्रति एकान्त समर्पण के प्रति एकान्त समर्पण की अंतिम परिणति यही होती है। यह जीभ पर अपने ही खून का स्वाद लगने की तत्परता है, यह लगातार, अनवरत, निरन्तर अपने को ही खाते रहना है।"[41]

तो जिन अर्थों मे हम "समझदारी" को आँकते और समझते है उसका एक अर्थ है – सच्चाई से एकबारगी मुकर जाना, जरा सा दबाव पडा कि झुक जाना, शक्तिशाली की हाँ मे हाँ मिलाना और गाहे–बगाहे भडैती करना। इस सम्बन्ध मे मुक्तिबोध का यह उद्धरण काफी दिलचस्प है – "तो इस प्रकार के वातावरण मे फिट होने के लिए हमारी समझदारी का यह तकाजा होता है कि किसी न किसी शैतान से समझौता करके गधे को भी काका कहो। बडे–बडे बडे–बड़े आदर्शवादी आज रावण के यहाँ पानी भरते है, और हाँ मे हाँ मिलाते है। बडे प्रगतिशील महानुभाव भी इस मर्ज मे गिरफ्तार है। जो व्यक्ति रावण के यहाँ पानी भरने से इकार करता है उसके बच्चे मारे–मारे फिरते है। और आप जानते है कि ख्याति प्राप्त यशोदीप्त प्रगतिशील महानुभाव भी (मैं सबकी नही कह सकता) उन पर हँस पडते है या कभी–कभी तुच्छ के प्रति दया के भाव से परिलुप्त हो उठते है। तो, सक्षेप मे, जो व्यक्ति फटेहाल और फटीचर है, उसे मान्यता देने के लिए कोई तैयार नही चाहे वह कितना ही नैतिक क्यों न हो।"[42]

तो जिस "टेशन" और "सेल्फ एलियनेशन" की बात शरच्चन्द्र मुक्तिबोध करते है वह एक विशेष टाइप के लोगो मे ही हो सकता है, जिनमें हृदय और बुद्धि का समन्वय नही है, जो बुद्धि को हृदय से अलग कर एक जगह आते है, तो दूसरी जगह हृदय की बुद्धि से।

मुक्तिबोध की समीक्षात्मक दृष्टि के विश्लेषण मे उनके जीवन और परिवेश का तथा उसके विषय मे उनकी सोच का एक हल्का सा "टच" अवान्तर प्रसग नही है बल्कि रचनाकार को उसकी समग्रता से विश्लेषित करने का उपक्रम है।

मुक्तिबोध ने "नई कविता" का "आत्मसघर्ष" तथा "नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र" "एक साहित्यिक की डायरी" जैसी पुस्तको मे जो कुछ भी मनोमन्थन किया है वह "सैद्धान्तिक समीक्षा" का एक पहलू कहा जा सकता

है। अलावा इसके विभिन्न कवियो पर जैसे – पत, शमशेर, सुभद्रा कुमारी, त्रिलोचन, हरिशकर पारसाई, भारत–भूषण अग्रवाल, धर्मवीर भारती, कान्ता भारती तथा "दिनकर" पर जो अपनी लेखनी चलाई वह एक तरह से सैद्धान्तिक समीक्षा का ही व्यावहारिक पक्ष है। ऐसा इसलिए क्योंकि सिद्धान्तो के तहत वे जिस "मानव–मुक्ति" की बात अनेकश चलाते है वही जब विवेचित कवियो मे नही मिलता तो एक स्वाभाविक खीझ उनमे उठती है। यो तो साहित्य को विवेचित करने के विभिन्न दृष्टिकोण हो सकते है और होते भी हैं, किन्तु अपने सम्पूर्ण कलावादिता, मनोरञ्जन प्रधानता, के अलावा जो उसका सदेश है वह ही सही कसौटी कही जा सकती है। यह "सदेश" अपने पूरे प्रभाव मे तथा अतिम निष्कर्षों मे क्या है, उसी से मालूम होता है कि साहित्यकार ने वह जीवन दृष्टि कहाँ से प्राप्त की है, जो उसके सृजन मे स्पन्दित है। इस लिहाज से मुक्तिबोध की आलोचनात्मक पद्धति, चाहे वह सैद्धान्तिक हो अथवा व्यावहारिक, कोई घालमेल नहीं है उसमें भी उनके जीवन और साहित्य विषयक अवधारणा का अद्वैत ही है।

सबसे पहले, कामायनी! क्योंकि इसकी मुक्तिबोध ने कई बार छिटपुट रूप से लेकर विस्तृत पुस्तकाकार समीक्षा की है। इसके पहले कि "कामायनी : एक पुनर्विचार" को विश्लेषित किया जाय। डॉ0 राम विलास शर्मा के उस वक्तव्य की जॉच आवश्यक हो जाती है, जिसमे उन्होने प्रसाद और मुक्तिबोध के सम्बन्ध को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है, और दिखाया है कि मुक्तिबोध का प्रसाद से जो भी सम्पर्क है उसके पीछे समर्थन और विरोध दोनो एक साथ चलता है। इस सन्दर्भ मे उन्होने मुक्तिबोध को ही उद्धृत किया है कि – "क्या यह नही जानना चाहिए कि परिवार मे जिस व्यक्ति से प्रेम का प्रगाढ़ सम्बन्ध होता है (कभी–कभी बहुत बार भी) उसी से हृदय विदारक संघर्ष होते है।"[43] प्रगाढ़ प्रेम–सम्बन्ध और हृदय विदारक सघर्ष, दोनो का सह–अस्तित्व सम्भव है।

दूसरा उद्धरण जो डॉ0 शर्मा ने लिया है – "उसका ठडापन, उसके

फलस्वरूप हम दो के बीच की दूरी, दूरी का सतत भान और इस भान के बावजूद हम दोनो का नैकट्य परस्पर घनिष्ठता और इसके विपरीत दूरी के इस भान के कारण मेरे मन मे केशव के विरूद्ध एक झख मारती हुई खीझ और चिडचिडापन" इन सब बातो से मेरे अन्त करण मे, केशव से मेरे सम्बन्धो की भावना विषम हो गई थी। सूत्र उलझ गए थे। मै केशव को न तो पूर्णत स्वीकृत कर सकता था न उसे अपनी जिन्दगी से हटा सकता था।"[44]

इन उद्देश्यो से डॉ0 शर्मा ने इस मतलब का अनुसधान किया कि मुक्तिबोध द्वारा जो प्रसाद कृत कामायनी की समीक्षा है वह अन्तत "खीझ और चिडचिडापन" का ही एक नतीजा है। दूसरा यह कि जिस भी व्यक्ति से दिल लगाया जाय उसकी आलोचना जुबाँ पर क्या, दिल मे भी लाना एक गुनाह ही है। किन्तु जैसा कि मुक्तिबोध ने स्वय अपने एक कल्पित मित्र (सयोग से डॉ0 शर्मा के उद्धरण मे भी "केशव" नामक मित्र का जिक्र आ चुका है) का पुनर्सजन किया है जो एक "एम्बी बैलेन्स" का शिकार है और "एक ही व्यक्ति से तीव्र स्नेह और घृणा एक साथ"[45] करता है।

किन्तु इसके आगे का वाक्य खण्डो में कितना गहरा व्यग्य है यह कोई भी समझ सकता है लिखते है कि – "इस समय मेरे मित्र का चेहरा कटु और कठोर हो रहा था। मुझे यह साहस ही नही हुआ कि मैं उसके मित्र का नाम–धाम पूछूँ। वे उसके परम श्रद्धेय है। वह उन्हें लात मार सकता है, मैं नही।"[46] ऐसा इसलिए कि – "श्रद्धेय की आलोचना करना भारतीय सस्कार के इतने विपरीत है कि कुछ मत पूछिए। हम अपने मन की सज्जनता को भीतर के आलोचक से अधिक प्रतिष्ठित बनाए रखते है। यह कितनी बडी आत्मवचना है। इस आत्मवंचना का कोई पार नही।"[47]

तो जैसा कि मुक्तिबोध "कामायनी" के विषय मे स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि – "पिछले बीस वर्षों से मैं कामायनी का पठन–पाठन और अध्ययन करता आया हूँ।"[48]

यह उनके प्रसाद और कामायनी के प्रति "श्रद्धा" का परिचय है जबकि "कामायनी एक पुनर्विचार" उनके द्वारा उस "आत्मवंचना" से निकलने का एक उपाय है जो कामायनी के प्रकाशनान्तर विभिन्न भाववादी आलोचको ने फैलाई।

"कामायनी" के प्रकाशनान्तर आठ वर्षोपरान्त मुक्तिबोध की अक्टूबर सन् 1945 तथा सितम्बर सन् 1946 मे तीन खण्डो मे "कामायनी कुछ नए विचार" नामक शीर्षक से लेखमाला "हस" में प्रकाशित हुयी, जिनमे केवल "श्रद्धा" और "मनु" पर ही विचार किया गया। इस लेखमाला मे "फैटेसी" का कही कोई जिक्र नही है, जिसे बाद मे आधार बना कर मुक्तिबोध ने कामायनी का सर्वाग विवेचन किया। फिर भी, वे उस जमाने मे भी कामायनी के "रूपकों" को नही पचा पाए। जैसा कि प्रसाद जी "कामायनी" के मुख्य पात्रो को मन, ह्रदय और बुद्धि का प्रतीक मानते है वैसा मुक्तिबोध को गवारा नही था। वे इन पात्रो के प्रतीकत्व से इकार नहीं करते, बल्कि इनको आधुनिक सभ्यता के – "किसी मूर्त यथार्थ के प्रतीक"[49] मानते हैं।

इस मूर्त यथार्थ को आगे बढ़ाते हुए उनका मानना है कि – "निस्संदेह श्रद्धा वर्तमान समाज मे पाई जाने वाली सन्तोषमयी तथा आत्म सतोषमयी सरल–मना स्त्री की ही छाया है। तथा इड़ा दूसरे प्रकार की, सक्रिय कर्म, बुद्धिमती स्त्री का ही प्रतीक हो सकती है।

स्पष्ट रूप से वे श्रद्धा मनु तथा इडा को वैदिक आख्यान में विवेचित पात्रो से भिन्न कामायनी – पात्रों को मानते है इसीलिए वे इसको "देव–सभ्यता" की विवेचना भी नही मानते। जैसा कि नन्द दुलारे बाजपेयी जैसे आलोचको का सुझाव है। मुक्तिबोध जी का मानना है कि एतिहासिक पात्र अपनी पूरी जीवन्तता मे कथा–प्रसंग से अनुस्यूत होते है, वह जिस कालखण्ड की कथा होती है। जब कि कामायनी मे वर्णित पात्रो की स्वाभाविकता, ऐतिहासिक पात्रो का पूरी तौर पर प्रतिनिधित्व नहीं कर

पाती, इसीलिए वे कहते है कि – "मान लीजिए, मनु मनु नही, सूबेदार है या मन्नालाल। स्वस्थ, शिक्षित, तरूण। श्रद्धा और इडा के स्थान पर कोई दूसरे आधुनिक नाम रख लीजिए। मुख्य बातो को रखकर, तथा इन नामो को वही चरित्र प्रदान करके, कहानी बढाइए। मालूम होगा कि कहानी सर्वथा आधुनिक है। ऐसे चरित्र सुप्राप्त है। घटनाए (मुख्य) सुप्राप्य है तथा मनु की ट्रैजिडी बहुत जगह मिल जाएगी।"[51]

यह आकस्मिक नही कि इतिहास मे रूपक का जब भी घोल मिलाया गया है उसका स्वाद अवश्य ही बेतुका हो गया। कामायनी के पहले "पद्मावत" मे इस तरह का वाकया साहित्यिक तौर पर घटित हो चुका है। ध्यातव्य है कि पद्मावत का पूर्वार्द्ध काल्पनिक है, और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक। हालाँकि ऐतिहासिकता का भी कोई पुख्ता प्रमाण नहीं है, सिवाय पात्रो के नाम के। क्योंकि पद्मावत मे अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड पर आक्रमण का उद्देश्य जिस पद्मावती के मदमस्त सौन्दर्य को ठहराया गया है उसको अलाउद्दीन का राज–कवि अमीर खुसरो कही भी वर्णित नही करता, यदि इस तथ्य को यह कह कर कि – इससे अलाउद्दीन की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचती, खारिज करने का प्रयास किया गया, तो इस तथ्य को भी याद रखना जरूरी है कि उसी अमीर खुसरो ने देवल देवी और अलाउद्दीन के पुत्र के विवाह के अवसर पर एक "आशिका" लिखी थी। अत हम कह सकते है कि समकालीन खुसरो द्वारा युद्धकालीन स्थिति के कारणो पर विचार न करना, जबकि उसके चार पाँच सौ साल बाद जायसी द्वारा इस कथा प्रसग की उद्भावना, निश्चित ही पद्मावतकार का कोई हेतु ही था। पद्मावत कार का उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यो का निरूपण नही था, बल्कि लौकिक सत्ता के माध्यम से अन्योक्ति पद्धति द्वारा अध्यात्म की व्याख्या ही करना था। कारण यह कि जायसी के विषय मे यह असंदिग्ध है कि वे कुछ चमत्कारी व्यक्तित्व के स्वामी थे तथा उनका मान–सम्मान एक सूफी संत के तौर पर भी होता रहा है। मध्यकालीन कवियो का जो भी काव्य सृजन है, वह

बहुत कुछ अलौकिक सत्ता के प्रति प्रपत्ति का ही भाव है। काव्य–तत्व तो उसमे बाद की बात है। अत तुलसी और सूर से पहले के कवि जायसी का उद्‌देश्य केवल ऐतिहासिक अथवा अध्यात्मिक तत्व–विवेचन से लगा कर ही ऐतिहासिक तथ्य निरूपण, कुछ असमजस उत्पन्न करता है।

जब 16वी सदी मे जायसी द्वारा पद्‌मावत की कथा का सदेश अतत "सूफीज्म" का ही निरूपण था, तो बीसवी सदी मे प्रसाद जी द्वारा ऐतिहासिक तथ्यो वह भी "देव–सभ्यता" का विवेचन तब किया जाना, जबकि हमारा स्वतन्त्रता आन्दोलन अपने पूरे उफान पर था, मानना एक असगत स्थिति मे डालता है। कामायनी की व्याख्या यदि "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" के आधार पर किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि 20वी सदी मे प्रसाद का उद्‌देश्य "शैविज्म" के "आनन्दवाद" की प्रतिष्ठा ही थी।

"कामायनी" को "कामायनी एक पुनर्विचार" के रूप में व्याख्यायित किया जाय, इससे पहले कथा के ऐतिहासिक स्रोत की एक जॉच अत्यन्त जरूरी हो जाती है। वह कौन सा आख्यान हे, जहॉं कामायनी की जड़े फैली है।

यो तो "श्रद्धा" और "मनु" का प्रथमोल्लेख "ऋग्वेद" मे मिलता है तथा मनु को "मानवो का पिता" कहा गया है। किन्तु वहॉं "श्रद्धा" और "मनु" को भाववाची संज्ञा ही माना जा सकता है। ऋग्वेद में "मनु" को प्रथम यज्ञ के सम्पादन का भी श्रेय है। किन्तु जिस "प्रलय" और "मनु" के अन्तस्सम्बन्ध को "कामायनी" का आधार बनाया गया है। वह कथाखण्ड "यजुर्वेद" के "शतपथ ब्राह्मण" में संक्षेप मे इस प्रकार है – "मनवे ह वै प्रात । अवनेग्य मुदक माजहु – यथेदं पाणिभ्यामवनेजलाय आहरत्ति एवम्। तस्या वनेनिजानस्य मत्स्य, पाणी आपेदे। स हास्मै वाचमुवाद – बिमृहि मा पारयिष्यामि त्वा" इति। × × × × × × × × × × × × × – बहु प्रजया पशुभिर्भविष्यसि मामु भया काञ्चाशिषमाशासिष्यसे, सा ते सर्वासमर्द्धिष्यतें" इति।।"[52]

जिसका हिन्दी भावार्थ निम्न होगा – "एक सुबह मनु प्रार्थना से पहले हस्त प्रक्षलनार्थ पानी मँगवाते है। जिस लोटे मे पानी डाला जाता है उसमे एक लघु–मत्स्य को यह कहते सुन कर कि "तुम मुझे पालो मै अमुक समय पर होने वाले भीषण जल प्लावन से तुम्हारी रक्षा करूँगा" आश्चर्य होता है। मनु ने वैसा ही किया जब उस भयकर जल–विप्लव की घडी आ गयी तो वह "महाझष" अपने वायदे के मुताबिक मनु की प्राण रक्षा करता हुआ हिमालय की उत्तुग चोटी पर ले जाकर छोड़ देता है। मनु अपने एकाकी जीवन को तथा भयानक जल–विप्लव को अवाक देखता रहता है। वह सन्तानोत्पत्ति के लिए उसी जल मे पाक यज्ञ का आयोजन करता है। अनन्तर एक स्त्री का धृत क्षरण करते हुए उस जल से ही उदय होता है। सर्वप्रथम उसे मित्र और वरूण मिले जिनके प्रश्न के उत्तर मे वह कहती है कि मै मनु की पुत्री हूँ क्योंकि उसी के द्वारा किए गए पाक–यज्ञ से मेरा उद्भव हुआ है। मनु से वह इसके बाद मिलती है तथा उससे यह कहती है, कि तुमने मुझे उत्पन्न किया है अत मै तुम्हारे लिए आशी (आर्शीवाद) हूँ। तुम मेरा प्रयोग करो। यदि तुम मेरा प्रयोग यज्ञ में करोगे तो बहुत से धन–धान्य तथा पुत्रवान हो जाओगे। जो कुछ तुम मुझसे माँगोगे वह सब कुछ तुम्हे प्राप्त होगा।"

इस सक्षिप्त कथा की कामायनी से तुलना करने पर मालुम होता है कि "चिन्ता सर्ग" मे आया प्रलय और मनु (एक पुरूष) की चिन्ता हूबहू मिलती है जब कि प्रसाद द्वारा दो सर्गोपरान्त "कामायनी" (श्रद्धा) की अवतारणा उनकी मौलिक कल्पना तथा श्रद्धा के प्रति सहानुभूति का ही प्रदर्शन है, क्योंकि विश्व प्रलय की स्थिति में मनु को जो सर्वप्रथम स्त्री मिलती है वह है "इडा" जिसने अपने को "मनु" की पुत्री कहा है। कामायनीकार ने इसी इड़ा को मनु की द्वितीय संगिनी के रूप मे पर्यवसित करने का प्रयास किया है। जो श्रद्धा, कामायनी मे गधार देश की राजकुमारी के रूप मे चित्रित है उसे ही "महाभारत" मे धर्म की पत्नी"[53] कहा गया है।

इस पूरे विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने मुख्य पात्रो की केवल ऐतिहासिक मरीचिका ही खडी की है जो समग्र रूप से न तो ऐतिहासिक सुसंगतता को प्राप्त करते है और न ही अपने भाववादी रूपो मे ही सगति स्थापित कर पाते है। कारण यह कि यदि पात्रो का भाववादी सज्ञा के तौर पर प्रयुक्त माना जाय तो उनके द्वारा सम्पादित कार्यों की वास्तविक सगति बाधित होती है, और यदि उन कार्यों को ही महत्व दिया जाय तो उनकी ऐतिहासिकता सदग्धि होती है। अत केवल पात्रो के खण्ड चित्रो के आधार पर कामायनी को ऐतिहासिक महाकाव्य सिद्ध करने का उपक्रम कुछ वैसा ही है जैसे उसके प्रारम्भिक सर्गों के नामकरण –चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा कर्म तथा ईर्ष्या के आधार पर मनोवैज्ञानिक कहना, या कि उसके अतिम सर्गों के आधार – निर्वेद, दर्शन, रहस्य, आनन्द, के आधार पर दार्शनिक सिद्ध करना। जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी बहुत पहले ही माना था कि – "यदि हम इस विशद काव्य की अन्तर्योजना पर न ध्यान दे, समान्वित रूप मे कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढे, श्रद्धा, काम, लज्जा, इडा, इत्यादि को अलग–अलग ले तो हमारे सामने बडी रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यजना की अत्यन्त मनोरम पद्धति आती है।"[54]

इसमे उन्होने स्पष्ट तौर पर कामायनी की अंत संगति की स्थिति और अन्तत उसके निष्कर्षों अर्थात् "आनन्दवाद" की स्थापना में भी असगति ही दिखाई देती है। यह असंगति दरअसल कामायनी की भूमिका से शुरू होती है जिसमे प्रसाद जी लिखते है कि – "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ भी अभिव्यक्त करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्षो हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमश श्रद्धा और इडा से सरलता से लग जाता है।"[55]

इस वक्तव्य मे जिस भ्रम को प्रसाद जी ने सृजित किया है वह किसी भी रचनाकार के रचनात्मक उत्तरदायित्व हीनता का प्रबल दस्तावेज

है। क्योंकि वे जब यह कहते है कि "इतिहास मे रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है" तो स्पष्ट रूप से वह यह भी कह रहे है, कि यह मिश्रण स्वय लेखक ने नही किया है। हलाँकि ऐसा होना, किसी भी बडे कलाकार की कला–हैम्नियत को कम करता है, किन्तु यदि इसे भी कुछ ही पलो के लिए मान लिया जाय तो भी यह साबित होता है कि प्रसाद जी ने जिस सभ्यता और मानवीय इतिहास की समीक्षा प्रस्तुत की है उसका कुल उद्‌देश्य स्पष्ट तौर पर वायवी ही रहा। मुक्तिबोध इसे भी "कलात्मक फ्राड" का दूसरा नमूना मानते है, लिखते है कि – "यह फ्रॉड तब होता है, जब लेखक यह जानता ही नही कि वह फ्रॉड कर रहा है। लेखक को पूरा विश्वास होता है कि जो बात वह कह रहा है, सही कह रहा है। अर्थात् जहाँ लेखक ईमानदारी से मूर्ख होता है। लेखक को यह भी विश्वास होता है कि उसकी बात केवल सच्ची ही नही वरन् वह सुन्दर भी है और कल्याणकारी भी। लेखक पूर्णनिष्ठा के साथ बात कर रहा है। फिर भी उसकी निष्ठा फ्रॉड को जन्म देती है या जन्म दे सकती है।"[56]

इसीलिए मुक्तिबोध ने "कामायनी" की उस दृष्टि से व्याख्या नही करनी चाही। जिससे इस भ्रम को बराबर विस्तार मिलता रहे, बल्कि उसकी असंगतियो को ध्यान मे रखकर वे इसे एक "फैटेसी" के रूप में समझने का सुझाव रखते हैं जो कही न कही काव्य के सत्यत्व को अधिक तार्किक और सुसगत तरीके से व्याख्यायित करता है।

कामायनी जेसी कृति को व्याख्यायित करने का मसूबा, मुक्तिबोध ने बडा लम्बा–चौड़ा बाँधा था जो इस प्रकार से होना चाहिए था – "प्रथम भावानुभूति आकलन और उसके साथ कथावस्तु और पात्र चरित्र से उस भावानुभूति की संगति या असगति की खोज का प्रयास, द्वितीय उस जीवन–तथ्य खोज जो लेखक का अपना जीवन–तथ्य है, अर्थात् काव्यानुभूति के आत्म–चरित्रात्मक रग खोजने का प्रयास, तृतीय उस जीवन–तथ्य को भूगोल और इतिहास अर्थात् दिक्कत, और इस दिक्कत के प्रति कविकृत प्रतिक्रियाएं

और उन प्रतिक्रियाओ के भीतर झलकाते हुए जीवन—मूल्य और जीवन दृष्टि, चतुर्थ उस जीवन—तथ्य का प्रसादकृत आलोचन और इन सब बातो पर स्वय की टिप्पणी।"[57]

किन्तु ऐसा आलोचक द्वारा किया जाना सम्भव नही हो सका क्योंकि – "जिन्दगी ने मुझे कभी इतनी सुविधा ही न दी कि मै अपने समय का सुन्दर उपयोग कर सकूँ। इस कारण मन की बाते मन मे ही धरी रह जाती है। प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत, जैसा मन में उतरता चला गया, लिखता गया। यदि वैसा न करता, तो व्यवस्थित रूप से लिखने की व्यवस्था का इतजार करते हुए मै खत्म हो जाता।"[58]

इस वक्तव्य की मार्मिकता तब और गहरी हो जाती है जब अपने ही विषय मे की गई भविष्यवाणी को दश एक वर्षों मे ही लेखक साबित कर देता है, बहरहाल। "कामायनी . एक पुनर्विचार" के लेखन के समय ही आलोचक को इस बात की पूरी आशका थी कि – "अगर मेरी इस रचना की ओर आलोचको का ध्यान गया तो निश्चय ही मतभेदों की टंकार सुनाई सुनाई देगी।"[59] यह आवश्यक भी है। किंतु ऐसा होना मुक्तिबोध इसलिए जरूरी मानते हैं क्योंकि कामायनी उसके (आलोचकों के) लिए मूल्यवान ग्रन्थ है जिसमे "मतभेदो की सक्रियता द्वारा ही हम मतैक्य का विकास कर सकेंगे।"[60]

कामायनी के विषय में उनकी निर्भ्रान्त धारणा है कि – "कामायनी उस अर्थ में कथा काव्य नही है कि जिस अर्थ मे साकेत है। कामायनी की कथा केवल एक फैन्टेसी है। जिस प्रकार एक फैन्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का अनुभूत जीवन समस्याओं का इच्छित विश्वासो और इच्छित जीवन—स्थितियो का, प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार कामायनी में भी हुआ है। कामायनीकार के हृदय मे चिरकाल से संचित (किन्हीं विशेष बातो के सम्बन्ध में), जो संवदेनात्मक प्रतिक्रियाएं हैं, जो तीव्र दंश है, जो निगूढ़ आघात हैं, उन सबमे एक जीवन—आलोचनात्मक व्याख्यान के सूत्र हैं। ये सब

प्रतिक्रियाये, ये सब दश और आघात, जीवन–आलोचनात्मक वेदना से मुक्त होकर उस फैटेसी मे प्रकट हुए है जिसे हम कामायनी कहते है। दूसरे शब्दो मे प्रसाद जी के अन्त करण मे जो एक जीवित और जीवन्त, छटपटाती हुई, दुखती हुई ग्रन्थि है – वह आभ्यतर ग्रन्थि, अपने पूरे आवेग और अपने सम्पूर्ण भाव और भाव के उलझाव के साथ कामायनी मे प्रकट हुयी है। इस आभ्यतर ग्रन्थि का प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र है मनु। मनु मानव–मात्र का, मन का, मानव–मात्र के मन का, प्रतीक नही, वह केवल उस मन का प्रतीक है जो प्रसाद जी का अपना या उन जैसा मन है। इस बात को हम दूसरे शब्दो मे यो कहेगे कि मनु उस जीवन समस्या का प्रतीक है, कि जो जीवन–समस्या, किसी न किसी अश मे, प्रसाद जी की अपनी समस्या रही है। इस जीवन समस्या पर प्रसाद जी चिरकाल चिन्तन करते रहे। प्रसाद जी ने स्वयं इस जीवन समस्या को मानव–सभ्यता सम्बन्धी प्रश्नो से जोड़ दिया, उसे मानव–आदर्शों और जीवन मूल्यो–सम्बन्धी प्रश्नों से सलग्न किया। इतना ही नही, वरन् उन्होने उस जीवन समस्या का एक दार्शनिक निदान भी प्रस्तुत किया।"[61]

मुक्तिबोध का मानना है कि कामायनी उस अर्थ मे कथा–काव्य नही है जिन अर्थों मे "साकेत" और "प्रियप्रवास" है बल्कि इसमे आया कथानक और पात्रों की स्थिति केवल लेखक के मूल भावो को व्यक्त करने वाला एक माध्यम है – जो जाहिरा तौर पर लेखक के इच्छित विश्वासों और उसके सवेदनात्मक उद्देश्यो को कही भी लाँघ नही पाता। ऐसा लगता है कि ये पात्र जिनकी स्वाभाविक स्थिति, कथा–काव्य मे, कुछ अधिक ही स्वतन्त्रता लिए हुए होती, कामायनी मे आकर केवल कठपुतली से लगते है जिनका वास्तविक सूत्र लेखक के हाँथ मे है और वह मनमाने तरीके से इनको साहित्यिक रंगमच पर नचाता है। "फैटेसी" विवेचन के क्रम मे मुक्तिबोध मानते है कि– "फैंटेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है।"[62]

जिसका दूसरा अर्थ है कि वह अनुभव, जो लेखक अपने बाह्य और आन्तरिक प्रतिक्रिया के दौरान हासिल करता है, अर्थात् वह जिसे भोगता है अथवा अन्यो के माध्यम से भी जिसे जानता है अथवा महसूस करता है। जाहिरा तौर पर "फैटेसी" की अवधारणा मुक्तिबोध के लिए बहुत व्यापक है जिसमे किसी भी लेखक की सवेदनात्मक उद्देश्य – जो कि "फैटेसी" का मर्म है या कि जिसके कारण फैन्टेसी एक जडवत चीज न होकर सम्पूर्ण गव्यात्मक विजन भी शामिल है, जो सृजन के प्रारम्भिक क्षण अर्थात् जीवन का अनुभव से लेकर वृत्ति के बनने तक बराबर गतिशील रहता है। दूसरे शब्दो मे – "फैन्टेसी के अन्तर्गत कवि कल्पना जीवन की सारभूत विशेषताएं प्रकट करते हुए, एक ऐसी चित्रावली प्रस्तुत करती है कि जिसमे वह तथ्यात्मक जीवन जिसका कि स्वानुभूत विशेषताए प्रोद्भाषित की गई है अधिकाधिक प्रच्छन्न गौड और नेपथ्यवासी हो जाय। सक्षेप मे फैन्टेसी के अन्तर्गत भाव–पक्ष प्रधान गौड और प्रच्छन्न तो होता ही है, साथ ही साथ यह भाव पक्ष कल्पना को उत्तेजित करके, बिम्बो की रचना करते हुए, एक ऐसा मूर्त विधान उपस्थित करता है कि जिस विधान मे उस विधान के ही नियम होते हैं। इस मूर्त विधान में विभाव पक्ष मात्र ध्वनित होता है। किन्तु, उस नेपथ्यवादी मूलाधार के बिना, उस अण्डरग्राउण्ड – भूमिगत– विभाव – पक्ष के बिना, उस मूर्त विधान का जीवन–महत्व प्रोद्भाषित ही नहीं हो सकता।"[63]

जब मुक्तिबोध फैन्टेसी को "अनुभव की कन्या" मानते हुए उसकी स्वतन्त्र इयत्ता की बात करते हैं, तो वह प्रकारान्तर से साहित्य के विषय में उस सूत्र को भी फेकते चलते है जिसमें उन्होने – "कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुर्नरचना" माना है जिसमे यद्यपि जीवनानुभव सारत एक होता है किन्तु कलाकृति हू–बहू जीवनानुभव ही नहीं है बल्कि उससे भी आगे एक रचनात्मक आयाम है जिसे जिन्दगी मे पूरा नही किया जा सकता। आगे वे मानते भी है कि – "कामायनी जीवन

की पुर्नरचना है।" इस पुनर्रचना का आधार है "मनु" जो महाकाव्य का नायक, और यदि पुरानी शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो "श्रद्धा" और "इडा" दोनो का भोक्ता भी है। कामायनी मे मनु को लेकर बडा विवाद रहा है, उसके देवत्व को लेकर तद्वत उसे लेकर प्रसाद के दृष्टिकोण पर भी। टकराव का मुख्य मुद्दा उसके "प्रतीकत्व" को लेकर है मुक्तिबोध का अभिमत है कि – "प्रसाद जी इडा, श्रद्धा, मनु आदि की ऐतिहासिक सत्ता भले ही स्वीकार करे, काव्य ग्रन्थ मे इन तीनो का जो मानव चरित्र प्रस्थापित हुआ है, उसी के आधार पर कामायनी की व्याख्या की जा सकती है।"[65]

कामायनी पर विचार करते हुए उन्होने प्रसाद जी की विचार–धारा गाधीवादी अर्थतन्त्र तथा उसका भावी भारतीय अर्थ–व्यवस्था तथा औद्योगिकीकरण की दिशा मे पडने वाले प्रभावो, तथा "श्रद्धावाद" की अवधारणा तथा इनके समन्वित प्रतिफलन "पूँजीवादी – व्यक्तिवाद" की गहरी छान–बीन की है।

प्रसाद जी की विचारधारा पर सामाजिक तौर पर सामन्ती और आध्यात्मिक तौर पर "नवअद्वैतवादी" विचारो का प्रभाव था, जो कामायनी मे अपनी पूरी स्फुरता से विद्यमान है। मनु द्वारा अपने विगत वैभव की याद जहाँ उसकी गतप्राय सामाजिक स्थिति की ओर इशारा करती है वही पर निजी मुक्ति की समस्या और उसकी जैसे–जैसे प्राप्ति नवअद्वैतवादी रूझानों को ही स्पष्ट करती है। कहना आवश्यक नही कि प्रसाद जी का जन्म उत्तरप्रदेश की जिस सामती पृष्ठभूमि में हुआ था उसमे आज भी – "उनके सुख वैभव की चर्चाएं भी होती रहती है। साहब वो कैसे थे? ऐसे थे।"[66] उसका प्रभाव कुछ न पड़ा हो। जब मुक्तिबोध मनु को मानवमात्र का मन का, अथवा मनन का प्रतीक मानने से इंकार करते हे तो उसके पीछे – यही भाव था, क्यों मनु जिस विशेष सामाजिक–ऐतिहासिक भूमि की उपज है वह वैदिक मनु से कही भी मिलती नही वह तो एक "टाइप" है – "उस वर्ग का टाइप जिसकी शासन सत्ता तथा ऐश्वर्य छिन गया हो।"[67]

इस मनु मे इस वर्ग की समस्त प्रवृत्तियाँ यथा – अहकार, विलासिता, आत्मश्लाघा, निर्बन्ध उच्छृखलता, गहन व्यक्तिवाद तथा गहन, आत्म विश्लेषण है जिसमे वह प्रलयकालीन स्थिति पर विचार करते हुए, अपने हत वैभव को याद करते हुए, झूठे सामरस्य मे पहुँच जाता है। पहुँच क्या जाता है, पहुँचाया जाता है, श्रद्धा द्वारा। प्रसाद जी ने जिस इच्छा, ज्ञान और कम्र के समन्वय की बात "आनन्दवाद" की स्थापना के लिए चलाई है, वह दरअसल इतना अधिक अस्पष्ट है कि कामायनी के प्रथम व्याख्याता आचार्य शुक्ल को भी कहना पडा कि – "जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अत मे सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रवृत्ति के कारण काव्य के भीतर नही होने पाया है। पहले कवि ने कर्म को बुद्धि या ज्ञान की प्रवृत्ति के रूप मे दिखाया, फिर अत मे कर्म और ज्ञान के बिन्दुओ को अलग–अलग रखा।"[68]

यही वजह है कि मुक्तिबोध की नजरो मे मनु एक ऐसा पात्र है जो "पराजय का पुत्र है, जो अपनी पराजय को पलायन से हाँकता है, तथा जबरदस्ती लाए गए सामरस्य छिपाता है।

मुक्तिबोध ने जब मनु को मनन का प्रतीक न मान कर यह, प्रस्ताव किया कि – "मनु को मन का, मानव–मात्र का, मनन का, प्रतीक घोषित करना भयानक अन्याय है, जब तक कि आप यह न माने कि मन स्वभावत ही मनु–जैसा टुच्चा, ओछा, अहग्रस्त, पाप–संकुल होता है।"[69]

तो कामायनी पर आलोचना लिखने वाले प्राय आलोचकों की देह जल–भुन गयी। चूँकि मुक्तिबोध को मनुष्य की गरिमा पर, उसकी सृजनात्मकता पर, उसके सघर्ष और अतिम विजय पर जबर्दस्त आस्था है अत उनके द्वारा मन को उपरोक्त विशेषणो से नवाजने के अतिरिक्त कोई चारा नही था। इस सन्दर्भ मे "राम की शक्ति पूजा" नामक कविता को लेकर, मन, मनु और मनुष्य मात्र की सुखद व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि जिस दशा को कामायनी का मनु–प्राप्त है लगभग वैसी ही दशा अर्थात् पराजित प्राय

मन स्थिति और भविष्य मे अपने विजय के प्रति सशयग्रस्तता, "राम" की भी है यद्यपि "राम" को मालूम है कि – "यह नही रहा नर–वानर का राक्षस से रण,/ उतरी मा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण/" तथा अन्याय जिधर, है उधर शक्ति।" कहते छल–छल हो गए नयन, कुछ बूँद पुन ढलके दृग जल,।।"[70]

"राम" शक्ति की आराधना शुरू करते है किन्तु शक्ति तो भी परीक्षा लेने को उतारू – "हस उठा ले गयो पूजा का प्रिय इन्दीवर"। फिर वही आत्मविश्लेषण वही आस–निराश की द्वन्द्व, एक किस्म का मनोमन्थन, जिससे राम के लिए सूत्र निकलता है –

"धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध।"[71]

इस प्रखर आत्म–भर्त्सना के बावजूद एक कसक, एक वेदना सीता के प्रति जो है वह यह कि – "जानकी। हाय, उद्धार प्रिया का हो न सका।" इस स्थिति मे यदि प्रसाद जी का मनु होता, तो हो सकता है कि वह आराधना–साधना छोड़–छॉड कर हिमालय की राह लेता (जैसा कि उसने लिया है) किन्तु यहाँ तो "राम" है, निराला के "राम", जो कहीं बहुत गहरे निराला जी की कठिनाइयों भरी जिन्दगी की माटी से पैदा हुए हैं, इसी लिए – "वह एक और मन रहा "राम का जो न थका" मनुष्य का यही वह "मन" है जो मानव मात्र मे पाया जाता है न कि मनु वाला मन को केवल कामायनी में ही प्रसाद जी का प्रतिनिधित्व करता है। ध्यातव्य है कि "निराला" ने भी कामायनी की रूपक – समस्या पर विचार करते हुए उसे "मन" का प्रतीक माना है। लिखते हैं कि – "मनु मन से बना है। मन की पैदा करने की ताकत – मनु बना देने की शक्ति पर ससार के मनुष्यो को जितना भी ताज्जुब हो, व्याकरण शास्त्र को बिल्कुल नही, इसी तरह मनुष्य और मानव मनु के बच्चे है, व्याकरण मानता है।"[72]

स्पष्ट रूप से निराला की दृष्टि "मनु" और "मन" की व्याकरणिक व्युत्पत्ति की ही ओर अधिक है न कि उसके किसी मानवीय चरित्र की ओर यह तब और स्फुट होता है जब वे कामायनी को केवल रूपकीय-स्थिति को ही न मानकर अन्य अर्थों को भी स्वीकृति प्रदान करते है। उन्होने लिखा है कि – "धातुगत भाव से और भी अर्थ आते है।"[73]

मन और "मनु" का यह प्रसादकृत घालमेल तब और अधिक खुलकर सामने आता है जब कबीर के सन्दर्भ मे मन और "मनु" का एक अद्वैत सा सामने आता है। कबीर साहब जब कहते है कि –

"मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होइ रे।
मै कहता हौ आँखिन देखी
तू कहता है कागद की लेखी,
मै कहता सुरझावन हारी
तू राख्यौ अरूझाइ री।"[74]

यहाँ जो "मनुआ" शब्द प्रयोग है वह मन का तो प्रतीक है किन्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मनु अभी विभिन्न लोगो मे विभिन्न किस्म का है, जो अपनी-अपनी चेतना एवं सामाजिक स्थिति के अनुसार है न कि मानव मात्र के मन का प्रतीक।

स्पष्ट रूप से मनु में कर्म क्षेत्र का व्यापक अभाव है। जैसाकि कि एक कर्मठ व्यक्ति का व्यक्तित्व होता है वह वैसा नही है जैसा कि उसने अपनी आत्म स्वीकृतियों में से, एक मे स्वीकार किया है –

"शैल निर्झर न बना हत भाग्य,
गल नही सका जो कि हिम-खण्ड।
दौडकर मिला न जलनिधि अक,
आह, वैसा ही हूँ पाखण्ड।
अथवा –
कहा मनु ने नभ – धरती बीच,
बना जीवन-रहस्य निरूपाय
एक उल्का सा जलता भ्रान्त

व्योम मे फिरता हूँ असहाय।"[75]

दोनो ही उद्धरणो से मुक्तिबोध ने मनु की असगतियो एव कार्य अक्षम व्यक्तित्व की जॉच की है। अपने को "उल्का" और पाखण्ड कहने का उसका तात्पर्य यह इगित करने के लिए काफी है कि उसमे जीवन–निर्माण कारी लक्ष्यो की ओर प्रवृत्त करने वाली कर्म भावना का अभाव है। मुक्तिबोध के लिए निर्माणकारी प्रवृत्तियॉ वे है जो मार्ग मे आनेवाली कठिनाइयो का खयाल न करके अपने अन्तिम विजय मे प्रतिबद्ध होती है। श्रद्धा भी यद्यपि विप्लवोपरान्त एकाकी और नि सर्ग है किन्तु वह अपने बारे मे ऐसे ख़याल कभी लाती भी नही बल्कि "मनु" के लिए कर्म की प्रेरणा बनती है। दरअसल वह मनु की वास्तविक गुत्थी समझती है, उसकी कायरता की गहराइयो से वह भली–भॉति परिचित है तभी वह कहती है कि

"दु ख के डर से तुम अज्ञात,
जटिलताओ का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बनकर अनजान।"[76]

स्पष्टतया मनु की अक्षमता की असली कुंजी है, कार्य की जटिलता और अपने असफल होने का बोध। इतिहास की यह अज़ीब विसगति है कि एक ही काल में लिखी जाने वाली दो महान रचनाओ "कामायनी" और "राम की शक्ति पूजा" के न केवल संघर्ष बल्कि उनके लक्ष्य भी एकदम अलग है। एक है राम जो घनघोर आत्मभर्त्सना और गहन निराशा के बीच अपने अंतिम विजय अर्थात् मानव होने के तकाजे को पुनर्जीवित सा करते हुए आकस्मिक रूप से बोल उठते हैं कि –

"यह है उपाय" कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन–
कहती थी माता मुझे सदा राजीवनयन।
दो नील कमल है शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर भाव. एक नयन।"[77]

तो दूसरी तरफ मनु है जो कर्म की जटिलताओ के अनुमान मात्र से सिहर उठता है। आत्म बलिदान का तो उसके व्यक्तित्व मे सवाल ही नही है जब कि यह आत्म–बलिदान ही वस्तुत अपने लक्ष्य के प्रति पूरे सर्मपण को दिखाती है। यही वह स्थल है जहाँ से मुक्तिबोध कह उठते है कि – "कार्य–जटिलताओ की प्रक्रिया मे जो कष्ट होते है, उनको सहन कर, बहुत धैर्य तथा साहस पूर्वक, अन्तिम विजय मे अपना विश्वास न खोते हुए, जो लोग आगे बढ़ जाते है, वे ही जीवन–निर्माण कर सकते हैं। अन्य जन इस कार्य–जटिलता से घबराते है, इसलिए किसी वास्तविक मूर्त्त लक्ष्य के प्रति अनुशासन–बद्ध गति से वे चल ही नही सकते।"[78]

यह तो हुयी मुक्तिबोध द्वारा "मनु" की चारित्रिक पड़ताल, किंतु यह तब तक अधूरी है जब तक कि डॉ0 राम विलास शर्मा के "मनु" विषयक दृष्टिकोण को न समझ लिया जाय। कहने की आवश्यकता नही कि यह मनु जिन भी वजहो से मुक्तिबोध को अप्रिय हे उसका उन्होने तार्किक विवेचन "कामायनी एक पुनर्विचार" मे दिखाया है। मनु– सामन्त व्यवस्था का पुत्र है, वह उस वर्ग का भी प्रतिनिधि है जिस वर्ग–वर्ण के प्रसाद जी थे" इत्यादि तमाम विशेषताओं से समन्वित मनु–विश्लेषण को देखकर डॉ0 शर्मा को – "मनु के बारे में मुक्तिबोध के विचार बेहद उलझे हुए"[79] लगे।

और इस कुहरिलता जिसका एक अर्थ अवैज्ञानिकता भी है, ऐसे में इस विवेचन को – "वैज्ञानिक विश्लेषण मानने मे कठिनाई"[80] भी डॉ0 शर्मा को है अत इस आलोक में यह जानना बेहद दिलचस्प और इतेहाँ जरूरी हो जाता है कि "मनु" की वे कितनी अर्थ–छायाओं को ग्रहण करते हैं। मुक्तिबोध के विषय मे डॉ0 राम विलास शर्मा के विचार, "नई कविता और अस्तित्ववाद" के उन निबन्धो में सकलित हैं, जिसको उन्होंने 1969 मे लिखा। अज्ञेय, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिह की रचनाओं पर लगे हाँथ विचार करने के बावजूद उनकी पैनी दृष्टि मुक्तिबोध पर ही विशेष

रही। "मनु" को उन्होने सर्वप्रथम "कामायनी" से पकडा अथवा "अंधेरे में" से, ठीक–ठीक नही कहा जा सकता किन्तु मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता मे आए "कौन मनु"? प्रश्न आते ही इसका तादत्म्य कामायनी के "मनु" से करते हुए उससे भी आगे "मुक्तिबोध" से भी उसका सम्बन्ध जोड़ते है "कामायनी के इस मनु से मुक्तिबोध की कविता के मनु की तस्वीर बहुत कुछ मिलती–जुलती है। कामायनी के मनु को मुक्तिबोध की निगाह से देखे, तो वह स्वय मुक्तिबोध से काफी मिलते–जुलते दिखाई देते है। अनेक दुर्गुणों के अलावा "ऐसा आत्मग्रन्त" निबिड आत्मविश्लेषण जो पराजय से प्रसूत होकर पराजयो की ओर ले जाता है, मनु की विशेषता है। यह विशेषता मुक्तिबोध की भी है और उनके आत्मविश्लेषण की इससे अच्दी व्याख्या किसी ने की नही है।"[80]

एक जगह यही "मनु" उनके पिता का भी प्रतिरूप है लिखते है कि – मनु मे उनके पिता की दोनो विशेषताए मौजूद है"[81] और अन्तत डॉ0 शर्मा ने "सुमित्रा नन्दन पन्त एक विश्लेषण" के "कोटेशन्स" को उद्धृत कर के साहित्य प्रेमियो को अपनी "प्रगतिशील सलाह" दी है कि – "प्रसाद की जगह मुक्तिबोध का नाम रखे, फिर निम्नलिखित वाक्य पढ़ें और देखे कि मुक्तिबोध ने प्रसाद जी के साथ तादात्म्य स्थापित किया है या नही।"[82]

तो सक्षेप मे यह कि मनु एक साथ ही "माधव मुक्तिबोध" "गजानन माधव मुक्तिबोध" तथा जयशंकर प्रसाद तीनो का प्रतिरूप है, और यह भी कि मुक्तिबोध की लम्बी कविताओ का असली कारण कामायनी के रूप में दूसरी कामायनी ही सिरजने का उनका प्रयास। डॉ0 शर्मा ने एक जगह लिखा है कि – "निराला ने लिखा था – वह रहा एक मन और राम का जो न था। यह मन निराला के पास था, मुक्तिबोध के पास भी। यह अपराजेय मन स्नेह का सम्बल पाकर, वर्षों तक मृत्यु से जूझता रहा।"[83]

किन्तु जो पिछले वक्तव्य का साराश है वह यह कि जैसे मनु की जीवन–यात्रा "पराजय से पराजय तक" की है, और चूँकि यह मुक्तिबोध का भी आत्मविश्लेषण है अत मुक्तिबोध भी पराजय से पराजय तक की ही यात्रा तय करते है। दोनो वक्तव्यो को यदि समानान्तर रखा जाय तो इनका समन्वित मजमून कुछ इस तरह होगा कि "मन की अपराजयेता" तथा "पराजय" मे कोई द्वन्द्व नही है। निराला के सन्दर्भ मे तो वे लिख भी चुके है कि – "राम के सघर्ष का चित्र जितना प्रभावशाली है उतना उनकी विजय का नही। कवि के जीवन मे सघर्ष ही सत्य रूप मे आया है। विजय की कामना अपूर्ण रही है।"[86] किन्तु मुक्तिबोध को निराला की अदम्य अपराजेयता से जोडना जैसे – डॉ0 शर्मा से अचानक ही हो गया, क्योंकि निराला मे संघर्ष तो वास्तविक है जबकि विजय की एक चिलकती मरीचिका ही है। जबकि मुक्तिबोध में सिर्फ और सिर्फ पराजय ही वास्तविकता है। सघर्ष तो कल्पना के तल पर है, उनका स्वनिर्मित।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" मे बुद्धिवाद के ऊपर जिस श्रद्धावाद की विजय को कामायनी के सन्दर्भ में दिखाया है, उससे यह भी ध्वनित होता है कि श्रद्धा (हृदय) और इडा (बुद्धि) परस्पर अलग–अलग स्वतन्त्र सत्ताएं हैं। अत एक की दूसरे पर विजय लेखक के किसी गहरे हेतु का ही निदर्शन है। उन्होने तो इस "श्रद्धावाद" को फ्रांस के दार्शनिक "अनातोले फ्रास" के उस आन्दोलन मे भी आभासित माना है जिसमे बुद्धि को "सत्य–साक्षात्कार" के लिए हेय माना गया है। मुक्तिबोध ने स्पष्ट रूप से कहा है कि – "श्रद्धा की अवधारणा हेतु मूलक है, प्रसाद जी ने मनु की मुक्ति के लिए ही मानो उसको उठाया हो।"[86]

बात एकदम सही भी है क्योंकि मनु ने कामायनी मे तीन भयानक अपराध किए है। पहला श्रद्धा परित्याग। दूसरा है इड़ा से घर्षण का प्रयास और तीसरा है अपनी ही प्रजा से युद्ध। वस्तुत इन तीनो कुकृत्यो

मे ही मनु की सम्पूर्ण चारित्रिक विशेषता झॉक उठती है। पहला अपराध, जो कि उसकी सामती प्रकृति का सूचक है (क्योंकि सामन्ती–सभ्यता मे सर्वाधिक तिरष्कार स्त्री जाति को ही उठानी पडती है) दूसरे और तीसरे अपराध मे उसकी भयानक व्यक्तिवादी धारणा का पूरा का पूरा आधार सामने आता है। जिसे सिद्धान्त के तहत व्यक्ति की स्वतन्त्रता की बात की जाती है जिसमें इस स्वतन्त्रता के पीछे स्वच्छन्दता की अनर्थकारी गुजाइश भी छुपी होती है। कहने की आवश्कयता नही कि व्यक्तिवाद और पूँजीवाद दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है। जैसे पूँजीवादी व्यक्ति अपने वैयक्तिक लाभ के लिए व्यापक समाज की हित–चिन्ता नही करता, वैसा ही गहन व्यक्तिवादी का ध्येय – "विश्व को, अन्य को, अन्य की मैत्री को, अन्य के सौन्दर्य को, अन्य के प्रेम को भी, अपना उपभोग्य समझना अर्थात् अपने सुख के लिए ही उसका उपयोग करना" होता है।

इसी "मनु" की जीवनसगिनी बनने का "सौभाग्य" "श्रद्धा" को मिला जो अपने प्रति किए गए मनुकृत गभीर अपराध के विषय मे न केवल मौन है, बल्कि "इडा" के द्वारा सपादित किंचित विरोध को भी उपहासात्मक तरीके से टालती है साथ ही साथ इडा को अपने उपदेश की घुट्टी भी पिलाती है –

तु क्षमा न कर कुछ चाह रही,
जलती छाती की दाह रही।

दरआसल इस "क्षमा–फिलॉसफी" मे बौद्ध दर्शन तथा गॉधी दर्शन का अद्‌भुत समाहार है। यह दर्शन बुद्ध से चल कर गांधी तक छनते हुए जयशंकर प्रसाद तक जिस रूप में पहुँचा है उसका प्रमाण श्रद्धा का चरित्र है। यहॉ गांधी जी के उस प्रसिद्ध सिद्धान्त का भी विवेचन प्रासंगिक हो जाता है, जिसमें वे "पाप से घृणा और पापी से प्रेम" की सलाह देते है। समझ में नहीं आता कि "पाप और पापी" के बीच गाधी जी कौन सा द्वैत देखते हैं? अगर पापी से प्रेम किया जाय तो उस निकृष्ट कर्म के प्रति

घृणा कैसे हो सकती है? क्योंकि जो कुकृत्य सम्पादित किया जा चुका है, वह "पापी महोदय" द्वारा ही किया गया है। फिर जब उस कुकृत्य के प्रति मनुष्य की घृणा होती है तो उस घृणा का वास्तविक हल क्या यही हो सकता है कि पापी को ऐरा साँड की भाँति फिर से दूसरो के खेत मे मुँह मारने के लिए छुट्टा ढील दिया जाय? स्पष्ट रूप से यह सिद्धान्त शकराचार्य जी के प्रसिद्ध अद्वैत दर्शन का ही राजनैतिक रूपान्तरण है, जिसमे "सर्व श्वाल्दि ब्रह्म" माना गया है। जब सब कुछ "ब्रह्म" ही है तो काहे का पाप और कौन सा पापी। सब ओर सामरस्य और आनन्द ही आनन्द है। इसी वजह से मुक्तिबोध "अद्वैव दर्शन" को एक "असामाजिक दर्शन" मानते है क्योंकि इससे केवल व्यक्तिवादी, सिद्धान्तो को न केवल बल मिलता है, बल्कि कमियो को ढाँकने के लिए एक मजबूत कवच भी मिल जाता है।

"कामायनी" मे श्रद्धा का चरित्र प्रथम सर्गों मे नि-सन्देह अधिक वास्तविक और मानवीय तथा सकर्मक है जो मनु की विषादग्रस्त मानसिक जमीन पर सावन की फुहार की भाँति है। किन्तु मनु के मिलनोपरान्त वही श्रद्धा जिस तरह से अपना व्यक्तित्वान्तरण करती है वह कामायनी की एक अबूझ विसंगति है। जो श्रद्धा "श्रद्धा सर्ग" मे मानवता के विजय का सदेश ले कर समुपास्थित है वही "निर्वेद सर्ग" मे प्रजासघर्ष के परिणाम स्वरूप घायल मनु से ही केवल अपनी सहानुभूति दिखाती है। प्रजाजनो की घायलावस्था की पीड़ा से जैसे उसको कुछ लेना देना ही न हो। जिन्हे वह कभी "शक्ति के विद्युत्कण" मानते हुए, मानवता के विजय में आस्था व्यक्त करते हुए, जिनके "समन्वय" को अत्यधिक महत्व देती थी, वही श्रद्धा बुझती हुई प्रजा रूपी चिनगियो के लिए एक बार भी अपने ममत्व का दुलार भरा आंचल नही लहराती। यह है "श्रद्धा" का असली मानवतावाद। डॉ0 गिरिजा राय जिन्होंने कि कामायनी पर की गयी अब तक समीक्षकों का सार-संग्रह किया है, मुक्तिबोध द्वारा प्रस्तावित श्रद्धा की इस बुनियादी कमी को यह कह कर अलक्षित करने का यत्न करती है कि "श्रद्धा कोई सामाजिक

कार्यकर्त्री" नही है जिसका अक्श मुक्तिबोध श्रद्धा-चरित मे देखते है। लेकिन विषय तब ओर चिन्त्य हो जाता है जब कि श्रद्धा का चरित्र कामायनी मे केवल प्रिया अथवा पत्नी का न होकर मसीहा और एक किस्म के दार्शनिक का भी है। फिर मानवता के जिस गहरे तकाजो को तद्वत जिस वास्तविक लक्ष्य को मुक्तिबोध अपने साहित्य मे विशेष महत्व देते है, वह केवल "मदर टेरेसा" जैसी सामाजिक कार्यकर्त्री मे ही हो, इसका कोई नियम नही है। फिर "मदर" जिस कर्त्तव्य भावना के ओत-प्रोत दीन-दुखियो की सेवा मे अहर्निश तत्पर होती रही है उसके पीछे जो सबसे जीवन्त पहलू है, वह है माँ की कोमल भावना। अतएव प्रसाद जी ने श्रद्धा द्वारा दु खीजनो के प्रति सहानुभूतिपूर्ण एक भी वाक्य न कहला कर उसके सम्पूर्ण चारित्रिक विशेषताओ का बटाधार ही किया है। अपराधी मनु को श्रद्धा जैसी स्त्री सतो द्वारा न केवल हानिप्रद ऊँचाई प्रदान की गयी है, बल्कि कल्याण और मगल-स्थापना के बहाने अकल्याण और अमगल को नए अवसर दिए गए है। इन व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्धो की वजह से ही आज हमारा समाज भयानक अगतिकता को प्राप्त है। यह किसी से भी छुपा नही हे कि अवसरवाद और पक्षपात का देश मे जो धुँवाधार विगुल बज रहा है उसके पीछे भाई-भतीजावाद, प्रिय-प्रियावाद और न जाने कितने ऐसे ही वाद वैयक्तिक प्रेमसम्बन्धो की कोख से ही जन्म पाते हे।

जो "श्रद्धावाद" हमारे यहाँ बरसो से चला आ रहा था वह कभी-कभी अन्धश्रद्धा में परिवत हो जाता है, जिसके तहत हृदयपक्ष की वकालत करके बुद्धि को मार गिराने का उपक्रम किया गया। यह श्रद्धावाद दरअसल उस भारतीय दर्शन का सार-सार है जो कि बेहद आत्मवादी तरीके से मानव-मुक्ति का व्यक्गित स्तर पर समाधान खोजता है। मुक्तिबोध का मानना है कि यह श्रद्धावाद सामाजिक वर्गीय स्थिति के अनुसार होता है। शोषक वर्ग का श्रद्धावाद स्पष्ट तौर पर व्यक्तिवाद को "प्रोटेक्शन" देता है, जब कि आम जनता प्राचीन परम्पराओं के प्रति आस्था को अपना श्रद्धावाद मानती

मानती है, तथा वैज्ञानिक सभ्यता से उत्पन्न अनेक विचारधाराओ के खिलाफ जिसका डिफेस खडा करती है। असमठन और अबुद्धि के चलते जनता यह सोचने मे अक्षम है कि, सामती शक्तियाँ चाहें वे हिदू हो अथवा इसाई और मुस्लिम, को हीदृढ और स्थापित करने के नाम पर सैनिक रूप मे उन्होने कितना खून एक दूसरे का बहाया है। क्या यह आज का नचा सच नही है कि शासन–व्यवस्था चाहे जैसी हो, भारत की शोषणी–व्यवस्था की निरन्तरता जस की तस है। इन्ही अर्थों मे हम कह सकते है कि इतिहास निर्वतमान है क्योंकि जो सतत् चालायमान है उसकी ऐतिहासिकता क्या और कैसी? मुक्तिबोध ने लिखा है कि – "कोउ नृप होइ हमै का हानी," वाली कहावत सिर्फ कहावत ही नही, सामन्त व्यवस्था के अन्तर्गत जनता की विशुद्ध वास्तविकता है।"[87]

विश्व–सभ्यता–समीक्षा के क्रम मे दो वर्गीय प्रकृत्तियाँ काम कर रही थी एक ओर मार्क्सवादी प्रवृत्ति जिसने 1917 मे रूस मे समतावादी समाज की स्थापना मे अपना अहं योगदान दिया था दूसरा वर्ग था भाववादी आत्मवादी जिसका सर्वप्रथम प्रणेता जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर, जिसके विषय मे प्रसिद्ध है कि वह भारतीय वेदान्त और दर्शन से प्रभावित था। उसी का अनुयायी "स्पेगलर" हुआ जिसकी आदर्शवादी तरीके से की गई पश्चिमी पूँजीवाद सभ्यता की आलोचना, जो कि "पश्चिमी सभ्यता का ह्रास" (डिंक ऑव वेस्टर्न सिविलिज़ेशन) नामक पुस्तक मे निबद्ध है – अत्यन्त प्रसिद्ध हुयी। प्रसाद जी इसी दार्शनिक से प्रभावित थे, ऐसा मुक्तिबोध का मानना है। हालाँकि "स्पेंगलर सामाजिक – सास्कृतिक – राजनैतिक, निराशा का दार्शनिक था। प्रसाद जी ने निराशा तत्व ग्रहण न किया। राष्ट्रवादी भारतीय स्थिति ही ऐसी थी कि घनघोर वास्तविकताओं के बावजूद भारतीय जनता अपने भविष्य के सम्बन्ध मे निराशाग्रस्त न थी, इसलिए कि वह अपने मुक्ति–संघर्ष में लीन थी।"[88]

इन्हीं दार्शनिक परिस्थितियों से प्रसाद की समाज–समीक्षा प्रसूत

है। कामायनी मे प्रसाद जी ने "समरसता" का जो दर्शन कामायनी मे दिखाया है और मानवता के विजय की घोषणा की हे उसका "आधार" मनुष्य का हृदय है। इसी हृदयवाद (श्रद्धावाद) जो कि मनुष्य के वैयक्तिक सद्‌गुणो के प्रयोग पर आधृत है, के आधार पर ही उदारवादी दृष्टिकोण को समाज मे कायम करके ही समतामूलक समाज की स्थापना सभव है, ऐसा प्रसाद जी मानते है। हालाँकि विश्व मे एक भी ऐसा उदाहरण नही है जहाँ हार्दिक गुणो के आधार पर इस ढग की समाज रचना हुई हो। किन्तु सोवियत सघ इसका एक उदाहरण अवश्य है जिसमे मार्क्सवादी पद्धति द्वारा इस ढग की समाज रचना हो चुकी है। आज जब कि सोवियत यूनियन टूट चुका है और उसकी वह व्यवस्था चरमरा चुकी है, तो यह प्रश्न बौद्धिको मे, साम्यवाद की पराजय के रूप मे देखा जा रहा है, किन्तु असली सवाल यह है कि किन कारणो से यह हश्र हुआ? ध्यातव्य है कि तत्कालीन सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने जिस उदारवाद को सर्वाधिक महत्व देकर मनुष्य की बुनियादी हार्दिकता को उभारने का "सत्प्रयास" किया वही उसके पतन का कारण साबित हुआ। भारत ही नहीं बल्कि विश्व सभ्यता मे इन लोगो की सख्या कुछ ज्यादा ही है जो सामाजिक असमानता को सृष्टि का अन्तर्नियम मानते हुए कही न कही इस आस्था के पुजारी है कि .

विषमता की पीडा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान।
यही दुख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।।

अतएव स्थिति मे किसी रद्दोबदल की अपेक्षा न करके चुपचाप अपने ही ख्यालो मे मस्त रहना चाहिए। दुनिया तो यूँ ही थी, आगे भी यूँ ही रहेगी। किन्तु लोग जब यही मान कर चल रहे है तो फिर सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्राय लोगों मे क्षोभ क्यो है?

इसका क्या यह अर्थ नही हुआ कि, हरके आदमी इस

फ़रेब से निजात पाना चाहता है किन्तु वह कौन सा रास्ता होगा, अभी इस पर मतवैभिन्यता है। हलॉकि सभी यह तो चाहते ही है कि मनुष्य को मनुष्योचित गरिमा मिलनी ही चाहिए।

श्रद्धा, मनु और इड़ा के त्रिकोण मे इडा को मुक्तिबोध ने एक चैतन्य और प्रखर कर्ममयी युवती पात्र माना है। उन्होने लिखा है कि – "कामायनी पढ जाने पर यह स्पष्टत प्रकट हो जाता है कि उस महाकाव्य मे जितने भी पात्र हे उनमे इडा का व्यक्तिगत चरित्र दृढतम और उज्ज्वलतम है।"[89]

कामायनी मे उसका अवतरण प्रसाद जी ने अत्यन्त चमत्कार पूर्ण ढग से करते हुए, उससे सम्बन्धित प्रथम पद्य खण्ड मे ही उसके व्यक्तित्व की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है जो सक्षेप मे इस प्रकार से है – (1) विचारों की, बुद्धि की, तर्क की प्रधानता, (2) प्रकृति पर विजिगिषु वृत्ति जिसको दो प्रवृत्तियो के रूप में देखा जा सकता है – (अ) विज्ञानवाद का विकास (ब) भौतिक सुख सम्पदाओ की अभिवृद्धि हेतु कर्म सगठन और कर्त्तव्य भावना।

मुक्तिबोध ने प्रलयकालीन स्थिति और उसमे "एकाकी पुरूष" की चिन्ता को जिस ढहती हुई सामन्तवादी प्रवृत्ति से जोड़ा है, उसका प्रतीक "मनु" इसी "इड़ा" के साथ नष्ट हुई पूर्व सरस्वत-सभ्यता के निर्माण को पूरा करता है। नियम और शासन का पुनर्प्रादुर्भाव होता है, किन्तु इसी मनु ने अपने ही बनाए नियमो को ताक पर रखकर वर्तमान सभ्यता को जिस तरह से विनाश के मुँह मे झोक दिया वह उसकी अहमन्युता की पराकाष्ठा है। साथ ही साथ इस बात का भी प्रतीक है, कि नियम जो शासक वर्ग द्वारा बनाए जाते हैं वे शासित वर्ग के लिए हैं स्वयं शासकों को इन नियमो से कोई लेना देना नही है। यह तो हुई सन 1936 की बात जब कामायनी का सृजन किया गया। किन्तु उसके साठ वर्षों बाद भी जब देश को आजाद

हुए पचास वर्ष हो चुके है तो "लोकपाल विधेयक" (जिसमे देश के किसी भी व्यक्ति के खिलाफ भ्रष्टाचार के विरूद्ध मुकदमा चलाया जा सकता है) से देश के सर्वोच्च शासक पद "प्रधानमत्री" को निकालना इसी मानसिकता का द्योतक है। तो ऐसे शासको द्वारा जिस सभ्यता का नवीन विकास होता है, वह बेशक पूँजीवाद सभ्यता ही है। और, क्योकि "इडा" इस सभ्यता को विकसित करने की एक अह यात्रा है अत वह भी "बुद्धि की प्रतीक नही, पूँजीवादी समाज की मूल विचारधारा की प्रतीक है।"[90]

मुक्तिबोध ने जब उस सभ्यता को पूँजीवादी माना तो यूँ ही नही "इडा" के द्वारा सभ्यता-समीक्षा के दर्शन के आधार पर यह कहा गया है जो कि कही न कही "इड़ा" के रहस्यवादी व्यक्तित्व को भी इगित करता है। जैसा कि मुक्तिबोध ने कहा है कि – "इड़ा जीवन-जगत के वास्तविक आकलन के क्षेत्र मे तो यथार्थवादी सी प्रतीत होती है, किन्तु उसी जीवन जगत की "अतिम व्याख्या" दार्शनिक व्याख्या करते हुए वह स्वय रहस्यवादी हो जाती है। इडा मे यथार्थवाद और रहस्यवाद का यह मिश्रण बडी विचित्र रीति से हुआ है।" एक लम्बे काव्यात्मक उद्धरण में जो बाते मुक्तिबोध को उसकी पूँजीवादी तद्वत रहस्यवादी लगीं वे निम्नवत् है –

(।) "स्पर्धा मे जो उत्तम ठहरे वे रह जावे,
संस्कृति का कल्याण करे शुभ मार्ग बतावे।
× × × × × × × × × × × × × ×
(।।) अपना जिसमे श्रेय यही सुख की अराधना।"[91]

"सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट" और "आत्म श्रेय वाद" नि सन्देह पूँजीवादी समाज की नींव की ईंटें है। जहाँ तक "आत्म-श्रेय-वाद" का सवाल है वह बेशक एक ग़लीज सिद्धान्त है, जिसका अन्त-सूत्र "दुनिया को भाड़ में झोंकने" का ही है। कहने की आवश्यकता नही कि दोनो सिद्धान्तो की एक ही बुनियाद है, क्योकि जो भी आत्म श्रेष्ठता की स्थापना करना चाहता है, उसे निश्चय ही स्पर्धा वाले नियमो का पालन करना होगा। यह एक तरह से "मत्स्य-न्याय" है। जिसमे हर छोटी मछली सघर्ष के क्रम में बडी

मछली का ग्रास बनने के लिए विवश है। "सर्वाइवल ऑफ दि फिटेस्ट" का सिद्धान्त कायदे से वहाँ लागू होना चाहिए, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व विकास का पूरी झाँकी बगैर किसी पक्षपात के मिला हो। किन्तु असमतामूलक समाज मे "योग्यतम की विजय का सिद्धान्त" केवल घोड़ों के साथ गधो की दौड जैसी है, जिसमे किसकी पराजय होगी, यह किसी से छुप नही है।

इसी वजह से "इड़ा" प्रसाद, और श्रद्धा दोनो द्वारा तिरष्कृत की जाती है, क्योंकि इडा की जो सभ्यता है और जो उसके दो मूल नियम– "स्ट्रगल फॉर इक्स्टिेन्स" और "सर्वावल ऑव दि फिटेस्ट" को वह सृष्टि का चितन नियम मानती है, हालाँकि प्रसाद जी केवल इसे इड़ा का दृष्टिकोण कहके खारिज नही कर सकते क्योंकि "काम सर्ग" मे वे स्वय भी "काम" के मुख से लगभग इसी ढंग का वाक्य कहलवाते हैं .

"यह नीड मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म– रंगस्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।"[92]

इन सिद्धान्तो के आधार पर मुक्तिबोध की निर्भ्रान्त धारणा है कि – "इडा में निर्माणात्मक प्रतिमा होने के बावजूद, उसके सिद्धान्त शुद्ध प्रतिक्रिया वादी हैं।"[93]

किन्तु मुक्तिबोध यह भी मानते हैं कि प्रसाद जी ने निश्चय ही "इड़ा" के साथ अन्याय किया है और श्रद्धा द्वारा उसकी जो उपेक्षा की गई है वह केवल और केवल यह दिखाने के लिए ही की – "जिस पूँजीवाद ने अपने उत्थान–काल में धर्म के मजबूत पंजो से जनता के मन को छुटकारा दिलाया, वही पूँजीवाद आगे चलकर, अपने चरमराते ढाँचे को थामने के लिए, धर्म या किसी न किसी दार्शनिक रहस्यवाद का सहारा लेता ही है।"[94]

मुक्तिबोध द्वारा उक्त चरित्रो की ऊपरी ढाँचे मे सुगबुगाती आत्मा और उनकी "बनियों" तथा उसके निहितार्थों की गहरी छान–बीन के पश्चात् ही कामायनी की कमजोरियों की ओर ध्यान दिया गया। उन्होने कामायनी की सबसे बडी कमजोरी प्रसाद की सबसे बडी कमजोरी मानते हुए उनके सभ्यता समीक्षा सम्बन्धी भाववादी दार्शनिक दृष्टिकोण को एक गहरे प्रतिक्रियावाद के ही रूप मे देखा है। उनको नागवार गुजरा श्रद्धा और मनु द्वारा कैलास गमन, वह भी अपने बच्चे (मानव) को इडा के हाँथो सुपुर्द करके। वह इसको शुद्ध पलायनवाद की संज्ञा देते है और कहते है कि – "अब "मानव की विजय" मानसरोवर पर होगी। सारी दृष्टि का कार्य मनु के पुत्र को सौपा गया है और हमारे मनु जी "मूड़ मुड़ाय भए सन्यासी"। तुलसीदास यदि आज होते तो इस खर्व रहस्यवादी पराजयवादी मनु को भी आडे हाँथो लेते। क्योंकि वे सामाजिक कर्त्तव्यवाद के घोर पक्षपाती थे। वे सत् और असत् का भेद जानते थे।"[95]

इस अस्वाभाविक कथा–विकास को स्वाभाविकता की कसौटी पर खरा उतरने के लिए या कि वास्तविक लगने के लिए मुक्तिबोध प्रस्ताव करते हैं कि – "पश्चाताप दग्ध मनु, शासन सूत्र, पुन. अपने हाँथों में लेकर, इड़ा और श्रद्धा की सहायता से अपनी भूल सुधारते, काम करते, जनकल्याण का कार्य अग्रसर करते, ऐसे समाज की स्थापना करते जहाँ पूर्ण समता तथा साम्यावस्था विराजमान हैं तथा जहाँ मानव शक्तियाँ निरन्तर उत्कर्ष करती जा रही हैं।"[96]

किन्तु यह तो मुक्तिबोध जैसे प्रतिबद्ध सामाजिक विचारक का प्रस्ताव मात्र है। अतएव वास्तविकता और वैज्ञानिकता के अभाव मे – "हम प्रसाद जी को विश्व के उन महान उन्नायक कलाकारो के बीच नहीं खड़ा कर सकते, जिन्होंने मानवता के उद्धार के रास्ते पर जनता को अपने साहित्य का सम्बल प्रदान किया। हम प्रसाद जी को रिबेलाइ, रोम्याँ रोलाँ, गोर्की, टॉलस्टॉय बाल्जाक आदि साहित्यकारो की श्रेणी में इस लिए नही रख सकते कि कामायनी हमें मनुष्यता के वास्तविक उद्धार लक्ष्यों की ओर

पहुँचने का मार्ग बतलाती है, न सामाजिक वास्तविकताओ का इस प्रकार विश्लेषण ही करती है कि जिससे हम उन उन्नत लक्ष्यो की ओर ले जाने वाले मार्गों की रूपरेखा नियत कर सके और उसकी ओर अग्रसर हो सके। अगर प्रसाद जी चाहते तो वे कामायनी को यह बल प्रदान कर सकते थे, किंतु वे – वास्तविकताओ से अधिक अपनी अमूर्त रहस्यवादी भावधारा के दर्शन मे बिधे रहे। यही कामायनी की सबसे बडी ट्रैजेडी है।"[97]

कामायनी के अतिरिक्त धर्मवीर भारती के "अन्धायुग" को भी एक "फैंटेसी" ही मुक्तिबोध ने माना है। जिसमे आजादी के बाद की सामाजिक स्थिति पर चिन्ता व्यक्त की गयी है। यूँ तो मुक्तिबोध ने अपने प्राय निबन्धो में स्वतन्त्रता के उपरान्त आयी सामाजिक गिरावट पर गहन विवेचन किया है और व्यक्ति के प्रगति और उन्नति कारक तत्वो मे अन्तर बताया है। लिखते हैं कि – "सामाजिक ह्रास के कई लक्षणो मे से एक है चरित्र के क्षेत्र में व्यक्तिगत धरातल पर नैतिक भावना और व्यवहार की बढ़ती हुई कमजोरी। x x x x x x x x x x x x x x x कुछ लोगों को यह नई सामाजिक परिस्थिति अत्यन्त सुविधाजनक प्रतीत हुई। x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x चरित्र की अन्य शैली के लोग इस ह्रास ग्रस्त परिवेश से अपना सामञ्जस्य स्थापित न कर सके। वे उन्नति की ओर नहीं, प्रगति की ओर बढ़े।"[98]

मुक्तिबोध का मानना है कि सामाजिक ह्रास आज की दुनिया का सबसे सशक्त वास्तव है जिसे आधार बनाकर फैन्टेसी के जरिए श्री धर्मवीर भारजी ने आत्मपरक ढंग से पाठकों के सामने इसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जो आज की पीढ़ी का मूड बताती हुई उसकी इस दृढ़ धारणा को भी स्पष्ट करती है कि – "मौजूदा सभ्यता या समाज या यथार्थ– जैसा कि वह है – तो किसी मानव – प्रगति की आशा नही की जा सकती x x x x x x x x x x x x x x x x x x x x मौजूदा सभ्यता के मसीहा जिस वर्ग या श्रेणी या तबके से निकले हैं, उनके नेतृत्व मे चलने

वाली सभ्यता या समाज, कुछ भी कह लीजिए, का नाश अवश्यभावी है।"[99]

अन्धायुग का भावनात्मक आधार है – "मौजूदा सभ्यता"। चूँकि यह आज का एक नगा सच है अत अपने पूरे प्रभाव मे मारक ही नही अचूक भी है जो केवल रसोत्पादक ही नही बल्कि उससे भी आगे पाठक को गम्भीर विवेचना की ओर भी ले जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि – "भावना की राइफल से विचारो के कारतूस कौधकर निकल पडे है।"[100] मुक्तिबोध को गहरी शिकायत है कि भारती द्वारा अन्धायुग मे जो भी सभ्यता–समीक्षा की गई है उसमे "सामाजिक रूपान्तर" का कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नही है, तद्वत – "अन्धायुग" का जो "आशात्मक भविष्यवाद" है वह भी एक बहकावा ही है, क्योंकि जिस आत्म परकता को इस काव्य नाटिका मे बेहद अन्तर्महत्व प्राप्त है, उसकी वस्तुगतता का कोई ठोस आधार नही है।

जैसा कि मुक्तिबोध की मान्यता है कि कामायनी, उर्वशी, या कि "अन्धायुग" जैसे विलक्षण काव्यो में चरित्रो की एक मरीचिका और इतिहास के साथ पात्रों का वास्तविक सम्बन्ध केवल लीलामात्र है। अत उनके सम्बन्ध मे यह कहना कि उनमे कथा का केवल एक ढाँचा है, एक चौखटा है, अत उसमें "फैन्टेसी" या "कल्पना–स्वप्न" जैसी बातो को देखना व्यर्थ की खीचतान है। किन्तु यह एक तथ्य है कि कोई भी कलाकार या काव्यकार जब भी किसी ऐतिहासिक कथा का चुनाव करता है तो उसके पीछे उसकी गहरी आत्मपरकता का ही योग होता है। जब तक कि वह कथा, कल्पना–स्वप्न बनके लेखक के मनश्चक्षुओ के सामने साक्षात् नहीं हो जाता – "एक ऐसा कल्पना–स्वप्न जिसमें उसकी (लेखक की) आत्म–वृत्तियों को तृप्त और सतोष प्राप्त होता हो।"[101]

मुक्तिबोध ने जब "उर्वशी" को मनोवैज्ञानिक काव्य की जगह पर "कृत्रिम मनोवैज्ञानिक व्यापार प्रधार" माना ता उसके पीछे काव्य में

वास्तविकता का अभाव ही था जो न केवल वैचारिक स्तर पर था, बल्कि सामाजिक स्तर पर भी था। जैसा कि उर्वशी मे राष्ट्रकवि "दिनकर" ने कामाचार के बाह्योविधान के माध्यम से परमसत्ता की प्राप्ति को काव्य का सवेदनात्मक लक्ष्य साबित करने का प्रयास किया। उसके विषय मे मुक्तिबोध का कहना है कि – "सभवत प्रेम का आध्यात्मिक प्रभावा स्वाभाविक है, जो सकता है, क्योकि उसमे, काम सवेदना गौड़ रूप मे और मानव व्यक्तित्व का आकर्षण प्रधान रूप मे होता है। साथ ही प्रिय के गुणो के प्रति आस्था के अतिरिक्त त्याग और उत्कर्ष की भावना निहित होती है। प्रिय के बिना अपने निज का अस्तित्व भी असम्भव सा लगता है। अतएव, विभिन्न देशो और विभिन्न युगो मे प्रेम को पवित्र और दिव्य माना गया है। सम्भवत शिक्षित समाजो मे विशुद्ध काम का कोई अध्यात्म सम्भव नही हो सकता, जब तक कि प्रेम के साथ उसका विशेष सयोजन न किया जाए।"[102]

इसी कामाचार को आधुनिक पंडित आचार्य रजनीश ने "संभोग से समाधि की ओर" जैसा ग्रन्थ लिखकर, अपनी जिस तथाकथित मौलिक दिमाग का सम्मोहन, अन्य लोगो मे गालिब करने का प्रयास किया, वह अपने सम्पूर्ण तर्क–वितर्क के बावजूद "दूषित पांडित्य" का नमूना साबित हो चुका है। अलावा इसके जैसे – "दिनकर" ने "प्रज्ञावान भोगियो के लिए" ही परमतत्व की प्राप्ति संभव बतायी है, वैसे ही रजनीश ने मनुष्य की "सेक्सुअलिटी" को "निषेध मे आमन्त्रण" कहकर परिभाषित किया है। उनका मानना है कि पशु–समाज में उन्मुक्तता का वातावरण और आवरणहीनता की वजह से उस मात्रा मे "काम" जाग्रत नही होता, जैसे कि मनुष्य मे उसकी गोपनशैली और आवरण के बावजूद। किन्तु ऐसे में यह देखना अधिक प्रासंगिक है कि जिन मानव–मूल्यों को शत–सहस्त्र वर्षों में शोधित करके निकाला गया, क्या उसकी सिद्धि पशु समाज में संभव है? अथवा "विवाह–सस्था" का आदिम पद्धति से निकलना हमारे विकास को दर्शाता है अथवा मानव–ज्ञान की निम्न स्तरीयता को?

कहने की आवश्यकता नही कि भ्रष्टाचार, अनाचार, व्यभिचार को खत्म करने के लिए विषस्य विषमोषधम् की तर्ज पर उसी को समाज मे आद्यन्त स्थापित करना कुछ ही लोगो की "लॉजिक" हो सकती है, न कि सम्पूर्ण समाज की।

अतएव अपने पाडित्य के बल पर मूल्यो की जगह – निर्मूल्यता को समाज मे स्थापित करना अथवा महिमा मण्डित करना न केवल वैचारिक एव सामाजिक पश्चगामिता का प्रतीक है वरन् अपने समग्र प्रभाव में अनर्थकारी भी है। जहाँ तक कामाचार के माध्यम से परमतत्व की प्राप्ति का सवाल है, मुक्तिबोध पूँछते है कि – "और, यदि ऐसी उपलब्धि सचमुच हुई होती, तो भारत के विभिन्न मार्गों (धर्मों) मे जितेन्द्रियत्व का इतना महत्व नहीं होता। फिर, प्रश्न यह उठता है कि आखिर दिनकर इस "लाइन" की फैरवी क्यो कर रहे हैं? क्या उनकी मंशा पर शक करना गलत है? कौन है वे प्रज्ञावान भोगी, जिन्हे रति सुख की चरम परिणति मे अतीन्द्रिय सत्ता से साक्षात्कार होता है? क्या वे इस समय भारत मे उपलब्ध हैं? और क्या उनके लिए काव्य का सृजन किया जाना चाहिए, किया जा सकता है? राष्ट्र कवि दिनकर जवाब दे।"[103]

xxxxxxxxxxxxxx xxxxxx xxxxxxxxxxx

सन्दर्भ

अनुक्रम	संपादक/लेखक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ संख्या
1	स0 डॉ0 राजेन्द्र कुमार	अभिप्राय (त्रैमासिक"98) (जनवरी–मार्च)	47
2	गजानन माधव मुक्तिबोध	चाँद का मुँह टेढा है	भूमिका
3	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	71
4	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	92
5	उप0	मुक्तिबोध रचनावली –5	195
6	उप0	उप0	60
7	उप0	उप0	54
8	उप0	उप0	54
9	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग–1	120
10	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	9
11	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	50
12	उप0	उप0	52
13	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास	311
14	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध	37
15	डॉ0 देशराज भाटी (कुन्तक)	भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र (वक्रोक्ति जीवितामु)	
16	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास	310
17	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	37–38
18	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इर्तिहास	309
19	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध	21
20	उप0	उप0	150

21	अज्ञेय	शेखर एक जीवनी	10
22	श्री दूधनाथ सिह	निराला आत्महता आस्था	228
23	स0 डॉ0 राम विलास शर्मा	राम–विराग	150
24	अज्ञेय	शेखर एक जीवनी	10
25	उप0	उप0	7–12
26	स0 डॉ0 निर्मला जैन	नई समीक्षा के प्रतिमान	12
27	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	159
28	उप0	उप0	109
29	उप0	उप0	104–105
30	उप0	उप0	152
31	गजानन माधव मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबंध	98
32	उप0	उप0	98
33	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	चितामणि भाग–1	189
34	उप0	उप0	125
35	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष ताथा	भूमिका
36.	उप0	साहित्यिक की डायरी	42
37	उप0	उप0	43
38.	उप0	उप0	112
39.	उप0	उप0	48
40.	स0 डॉ0 मोती राम वर्मा	लक्षित मुक्तिबोध	79
41.	श्री दूधनाथ सिह	निराला आत्महता आस्था	भूमिका
42	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	33–34
43	डॉ0 राम विलास शर्मा	नई कविता और अस्तित्ववाद	182
44	उप0	उप0	184
45	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	48
46	उप0	उप0	48
47	उप0	कामायनी . एक पुनर्विचार	48
48	उप0	उप0	170

49	मुक्तिबोध	कामायनी एक पुनर्विचार	169
50	उप0	उप0	170
51	उप0	उप0	108
52	तारणीश झा	मद्यालोक	काण्ड 1/8
53	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास	375
54	उप0	उप0	375
55	जयशकर प्रसाद	कामायनी की भूमिका	7–8
56	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	113
57	उप0	कामायनी एक पुनर्विचार	17
58	उप0	उप0	17
59	उप0	उप0	22
60	ग0मा0 मुक्तिबोध	उप0	22
61	उप0	उप0	9
62	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	21
63.	उप0	कामायनी एक पुर्नविचार	9
64	उप0	उप0	17
65.	उप0	उप0	22
66.	उप0	उप0	39
67.	उप0	उप0	23
68.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास	373
69.	मुक्तिबोध	कामायनी एक पुनर्विचार	23
70.	सं0 डॉ0 राम विलास शर्मा	राग–विराग	98
71.	उप0	उप0	98
72.	डॉ0 गिरिजा राय	कामायनी की आलोचना प्रक्रिया	74
73.	उप0	उप0	74
74.	स0 विजेन्द्र स्नातक	कबीर	55
75.	मुक्तिबोध	कामायनी . एक पुनर्विचार	55
76.	उप0	उप0	55
77.	डॉ0रामविलास शर्मा	राग–विराग	103
78.	मुक्तिबोध	कामायनी . एक पुनर्विचार	55–56

79	डॉ0 राम विलास शर्मा	नई कविता और अस्तित्ववाद	181
80	उप0	उप0	147
81	उप0	उप0	183
82	उप0	उप0	185
83	उप0	उप0	150
84	उप0	निराला की साहित्य साधना–1	97
85	मुक्तिबोध	कामायनी एक पुनर्विचार	82
86	उप0	उप0	69
87	उप0	उप0	109
88	उप0	उप0	111
89	उप0	उप0	129
90	उप0	उप0	120
91	उप0	उप0	138
92	उप0	उप0	123
93	उप0	उप0	123
94	उप0	उप0	143
95	उप0	उप0	172
96	उप0	उप0	153
97	उप0	उप0	128
98	उप0	मुक्तिबोध की रचनावली–5	441
99	उप0	उप0	442
100.	उप0	उप0	442
101	उप0	उप0	464
102.	उप0	उप0	461
103	उप0	उप0	466

सप्तम अध्याय

साहित्यिक सृजनात्मक तत्वों का विश्लेषण एवं चिन्तन का स्वरूप

साहित्यिक सृजनात्मक तत्वों का विश्लेषण

काव्य के अनिवार्य दो पक्ष माने जाते है – अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष। यदि पुरानी शब्दावली का प्रयोग करें तो यही भावपक्ष और कला–पक्ष कहे जा सकते है। भाव–पक्ष के अन्तर्गत काव्य के समस्त वर्ण्य विषयो को तथा कलापक्ष के भीतर अभिव्यक्ति के ससाधनो को महत्व प्राप्त है। यो तो दोनो पक्ष अन्योन्याश्रित है, लेकिन साहित्य मे जब दोनो, अतिवाद से गुजरते है तो भावपक्ष, वस्तुवाद, और अभिव्यक्ति पक्ष केवल रूपवाद तक सीमित हो जाते है। हिन्दी साहित्य के "प्रयोगवाद" और "प्रगतिवाद" मे इस ढग की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इस पक्ष पर अधिक जोर न देने के कारण अधिकाश वस्तुवाद का ही पर्याय है तो प्रयोगवादी साहित्य केवल शैली पक्ष पर ही अधिक जोर देने के कारण रूपवादी ढाँचे का हो जाता है।

(क) भावतत्व –

मुक्तिबोध ने भावपक्ष और कलापक्ष के महत्वपूर्ण प्रश्न पर "वस्तु और रूप" नाम से संकलित चार क्रमिक निबन्धो मे सम्यक विचार किया है। पहला निबन्ध "वस्तु और रूप एक", "मुक्तिबोध रचनावली . पाँच" मे "नई कविता का आत्मसंघर्ष" नाम से भी पुर्नप्रस्तुत हुआ है। इस पहले वाले लेख का सर्वप्रथम प्रकाशन उज्जैन से निकलने वाले मासिक "कालिदास" के दिसम्बर 1961 तथा जनवरी 1962 के दो क्रमिक अंकों में हुआ। चारों निबन्धों की प्रस्तुतीकरण को लेकर सम्पादक नेमिचन्द्र जैन का फुटनोट्स यह सूचित करता है कि – "चारो ही रूपों को प्रकाशित करना उपयुक्त समझा गया" क्योंकि "अनेक प्रकार की पुनरावृत्तियो के बावजूद, प्रत्येक मे किसी न किसी अलग और विशिष्ट पक्ष पर जोर है।"[1] बावजूद इसके वस्तु और रूप : एक को अलग शीर्षक से प्रस्तुत करने का कारण?

मुक्तिबोध ने अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष के दोनो अतिवादों अर्थात् केवल वस्तुवाद या केवल शैलीमात्र, से बचते हुए इसके द्वन्द्वात्मक स्वरूप को ही ग्रहण करने का प्रयास किया है। शुद्ध वस्तुवाद इन दोनो की एकांगिता

और उससे उत्पन्न साहित्यिक खतरे को उन्होने गहरे महसूस करते हुए लिखा कि आज की काव्य-प्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक धाराएँ यदि विशुद्ध आत्मपरक भाव-धारा होती, अर्थात् अनायास प्रवाहित होने वाले स्वच्छन्द भावो का वह प्रवाह होता, तो दिक्कत का सामना न करना पडता। किन्तु वह कविता सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनो के तीव्र मानसिक प्रतिक्रियाओ को प्रकट करना चाहती है। ऐसी स्थिति मे, उसे न केवल अनुभूति पक्ष के वरन् वस्तु पक्ष के और उससे सम्बन्धित परिज्ञान के विकास की अपेक्षा है।"[2] चूँकि उनके लिए नई कविता (उनकी कविता) शुद्ध आत्मपरकता का यथार्थ न होकर आत्मपरकता के साथ-साथ वस्तु-परकता के समन्वय का परिणाम है। अत जाहिर सी बात है कि वे वस्तु और रूप में किसी एक के एवज मे दूसरे को खारिज नही करना चाहते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वस्तु और रूप की इसी अन्योन्याश्रिता को इस तरह दिखाया है "ससार-सागर की रूप तरंगो से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उनके भीतर विविध भावो या मनोविकारो का विधान हुआ है।× × × × × × × × हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन बाहर ही के है- इसी चारो ओर फैले हुए रूपात्मक जगत के ही है। जब हमारी आँखे देखने मे प्रवृत्त रहती हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते है, जब हमारी वृत्ति अर्न्तमुख होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई देते है। बाहरी-भीतर दोनों ओर रहते है रूप ही।"[3]

काव्य मूलत. शब्द व्यापार ही होता है। शब्द-सकेतो के माध्यम से जो कुछ भी व्यक्त करने की चेष्टा करता है प्रकारान्तर से वही कवि के भाव होते हैं। मुक्तिबोध ने कला के जिन तीन क्षणो का अनेकश. वर्णन किया है उसमें जीवन के उत्कट अनुभव का एहसास ही कला का प्रथम क्षण है। यह एहसास दरअसल कवि की अन्त प्रकृति का साक्षात्कार है जिसमें एक कवि की मौलिकता निहित होती है। उसे इसी कलात्मक क्षण मे लगता है कि उसके पास ऐसा कुछ है जो बाहर आने के लिए लगातार छटपटा रहा है इसी भीतरी छटपटाहट को मुक्तिबोध

'आभ्यतर वास्तव' कहते है जो निश्चित ही कवि के भाव का परिचायक है। 'आभ्यतर वास्तव' मे आए शब्द 'वास्तव' का बडा ही महत्व है क्योंकि इसका सम्बन्ध कलात्मक स्तर पर जहाँ "प्रत्यक्ष रूप विधान" से है, वही यह जिए या भोगे गये जीवन का परिचायक भी है। मुक्ति बोध काव्य मे इस जिए अथवा भोगे गए जीवन का अन्तर्महत्व तब और भी समझा जा सकता है, जब वह "बाह्य का आभ्यंतरीकरण" जैसे नवीन शब्द–युग्म का इस्तेमाल इसी सन्दर्भ मे करते हैं। चूंकि उन्होने कलात्मक विवेक को "जीवन–विवेक" से कही भी अलगाने की कोशिश नही की अत उनकी भाव–विषयक समझ को जीवन और जगत के सापेक्ष ही समझना चाहिए। बाह्य के आभ्यतरीकरण के विषय मे उन्होने स्पष्ट लिखा है कि "हमारे जन्मकाल से ही शुद्ध होने वाला हमारा जो जीवन है, वह बाह्य जीवन–जगत के आभ्यतरीकरण द्वारा ही समपन्न और विकसित होता है। यदि वह आभ्यंतरीकरण न हो तो हम कृमि–पानी का जीव हाइड्रा बन– जाएगे – हमारी भावसम्पदा, ज्ञानसमपदा, अनुभव–स्मृद्धि उस अर्न्ततत्व–व्यवस्था ही का अभिन्न अंग है कि जो अर्न्तत्व–व्यवस्था ही का अभिन्न अग है कि जो अर्न्तत्व व्यवस्था हमने बाह्य जगत के आभ्यंतरीकरण से पाप्त की है।"[4]

बाह्य के आभ्यतरीकरण की यह प्रक्रिया मुक्तिबोध को रूपवादी, कलावादी या सौन्दर्यवादी साहित्य–विचारकों से अलग श्रेणी प्रदान करती है। यथार्थ–वादियो से भिन्न विचारकों का मानना है कि लेखक और कलाकार किसी सामाजिक मन्तव्य को प्रकाशित करने के लिए नही, सुन्दर और चमत्कारपूर्ण उक्ति द्वारा अपनी वैयक्तिक अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए ही लिखता है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में भी इस प्रकार का साहित्य "सिद्धावस्था का साहित्य है जिसमें सघर्ष के बीज तत्वों का अभाव तो है ही साथ ही साथ कुल उद्देश्य भी केवल रंजन करना ही है।

भाववादी विचारकों की दृष्टि मे मन की एक निरपेक्ष सत्ता है जिसमे भावों का स्वयं प्रसूत होना एक अनिवार्य प्रक्रिया है। इसलिए वे "प्रत्यक्ष रूप विधान" "स्मृति रूप–विधान" और "कल्पित रूप–विधान" में केवल कल्पित रूप–विधान को

ही रचनाओ मे महत्व देते है। बता देना आवश्यक होगा कि स्मृति रूप–विधान का मूलाधार भी प्रत्यक्ष–जगत ही है। यहाँ कल्पित रूप–विधान को मुक्तिबोध के 'कलात्मक पुनर्सृजन' से अलग रखना पडेगा, क्योंकि इस पुनर्सृजन में जीवन की अनिवार्यता के सूत्र रचे–बसे है। साहित्य को समझाने के लिए उन्होने जो सूत्र दिया उसमे स्पष्टत उल्लेख है कि –"साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है।"[5] लेकिन जिन लोगो की दृष्टि केवल कल्पना या मन की स्वय पूर्ण सम्पूर्णता अथवा सामाजिक निर्लिप्तता की ओर ही अधिक थी, उन्होंने स्वाभाविक तौर पर कलात्मक अनुभूतियो को, प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियो से न केवल पृथक किया गया वरन् कवि के एक अलग "काल्पनिक जगत" की भी कल्पना की। जिसका इस दुनिया (जिसे पुराने विद्वान शकराचार्य जी ने "माया" कहा है) से कोई लेना–देना नही है। कहने की आवश्यकता नही कि इन वैचारिक मान्यताओ के पीछे आध्यात्मिक सोच का वह पुट है जिसे गूँगे के गुड की भाँति अन्दर ही अन्दर चुभलाया जा सकता है।

इस 'मायावाद' के खण्डन के लिए तब के आचार्य रामानुज को निर्विकल्पक, आदि, अनन्त, अव्यक्त, ब्रह्म को व्यक्त करने के लिए 'सत् चित् आनन्द' जैसी उपाधियो को गढना पडा। इसमे मुख्य सत्ता चित् अर्थात् चैतन्य की है, जिसके अभाव में न तो सत्य का सधान सम्भव है ओर न ही सत्य–सभव आनन्द की अनुभूति। तो, यदि आज के सन्दर्भ में मुक्तिबोध व्यक्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता और आवश्यक समझते हैं, तो उसकी गम्भीरता को समझा जाना चाहिए। उन्होंने बड़ी ही सहजता से कहा है कि– "आज के कवि को अर्थात् हमें, ज्ञान पक्ष के विकास की जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नही रही।"[6] चूँकि मुक्तिबोध के लिए यह दुनिया माया नहीं है न ही रेत का वह ढेर जिसमें सभी कण बहुत नजदीक रहने के बावजूद भी, एक दूसरे से सर्वथा विलग रहते हैं। उसके लिए दुनियां का मतलब है "मित्र, परिवार, परिवेश, साहित्य–जगत, राजनैतिक क्षेत्र आदि–आदि।"[7] आकस्मिक नहीं कि मुक्तिबोध का काव्य नायक 'मैं'– जो संभाव्य पाठक के साथ कहीं न कहीं स्वयं कवि का भी एक रूप है (यद्यपि डॉ0 नामवर

सिह इससे सहमत नही है॥ सामयिक विकृत दुनिया–जिसमे मृतदल की शोभा–यात्रा के साथ–साथ अप्रासंगिक हुए गाँधी और तिलक हैं, वह मृत कलाकार भी है, जो अपनी हत्या से पहले दुनिया की केवल हवाई सोच–समझ रखता था। जाहिरा तौर पर ए लोग काव्य नायक के लिए नाकाफी है– "गुजर गए जमानेके चेहरे हैं"। इसी कारण उसे नए सिरे से विचार करना पड़ा जिसका कुल आशय यह कि

"भागता फिरता था सब ओर।
॥फिजूल है इस वक्त कोसना खुद को॥
एकदम जरूरी दोस्तो को खोजूँ
पाऊँ मै नए–नए सहचर
सकर्मक सत्–चित् वेदना भावकर।।"[8]

मुक्तिबोध की कविताओं मे सृजित फैंटेसी का भयानक संसार और उनके लिखित निबन्धो में बारम्बार भयानक सामाजिक अगति का उल्लेख अद्‌भुत साम्य रखता है सो इस अवसरवादी एव भ्रष्ट तत्र में रामानुज का "सत–चित्–आनन्द" साकार हो भी कैसे सकता है? तो मुक्तिबोध ने अपने युग में कवियों के लिए ज्ञानपक्ष की जिस अनिवार्य जरूरत को समझा था, उसमें 'सत्' केवल वेदना दायक ही था क्यो किसकी हरियाली तो केवल सावन में अंधे हुए गधों को ही सूझती है।

मुक्तिबोध की कविता में जहाँ "सत्–चित्–वेदना का उल्लेख है वहाँ आकस्मिक तौर पर सहचरो का भी उल्लेख है, जो कि उनकी कविताओं की वास्तविक पृष्ठभूमि का ही संकेत है, यथा-

आत्मा में, भीषण
सत्–चित्–वेदना जल उठी, दहकी
विचार हो गए विचरण–सहचर।।[9]

कविता में आए मित्र, सहचर वास्तविक जीवन के हैं किसी कल्पित स्वायत्त संसार के नहीं। यह सही है कि कवि मुक्तिबोध के भाव–सम्बन्धी विचार आकस्मिक तौ पर समाज से जुड़े हैं लेकिन वह केवल समाज का उल्था नही है। उसमें मन के उस मनोविज्ञान का भी योग है जो संस्कारों को लेते हुए अपने वर्गीय प्रतिबद्धता

का पुञ्जी भूत है। होता यह है कि भवो का एक सश्लिष्ट ससार, सस्कार या वासना के रूप मे कवि के मन मे होता है, तो क्या कारण है कि कवि केवल कुछ ही भावो को विशेष महत्व देते हैं? असल मे कवि का मन समाज अथवा बाह्य से क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए सामञ्जस्य और द्वन्द्व दोनो ही रूपो मे प्रस्तुत होता है। वह जिन सामाजिक मूल्यो, आदर्शों से अपने को तदाकार पाता है, वहाँ तो वह सामञ्जस्य स्थापित करता है, तथा जिन मूल्यो, आदर्शों को वह स्वय के अनुकूल या समाज के अनुकूल नहीं पाता, वहाँ द्वन्द्व रूप मे उपस्थित होता है। भाववादी विचारको ने जहाँ पर मन को केवल निजता के सन्दर्भ मे ही देखा तो स्वाभाविक था कि वे भावो की व्याख्या तद्वत कला की व्याख्या मात्र मनोवैज्ञानिक करते। इस प्रकार भावो की अद्वितीयता का जो सिद्धान्त उन्होने गढा वह ऐसा नही था कि सम्पूर्ण समाज ही उसे तिरस्कृत कर दे। क्योंकि समाज अपनी सम्पूर्ण रचना मे खुद ही एक सश्लिष्ट इकाई है, जिसमे अच्छे और बुरे का योग है, व्यक्तिवादी और समष्टिवादी स्वार्थी और परार्थी सब प्रकार के लोग रहते हैं। यह तो कवि की चेतना पर निर्भर है कि वह किन लोगो से अपना सरोकार रखता है अथवा रखने की कोशिश करता है। इस कोशिश मे वह जिस बाह्य का आभ्यतरीकरण करता है उसमे बाह्य का संपादन, संशोधन बहुत ही महत्व का है। इस "एडीटिंग" के कारण ही कोई भी कवि – "अर्जित ज्ञान परम्परा या भाव परम्परा के ही कुछ तत्वो को अपने लिए उपयुक्त समझ, उसके आधार पर अपनी स्थिति सगठित करता है। और फिर इन तत्वो के आधार पर जो बातें समाज मे नहीं है या उसके बिल्कुल विरूद्ध जाती हैं, उनका खण्डन करता है, अथवा ऐसी जीवन-पद्धति या भाव-पद्धति का निर्माण करता है जिससे वे प्रतिकूल बातें खण्डित हो।"[10]

भाववादी, कलावादी कवियों की सृजनात्मक समीक्षा स्वाभाविक तौर पर वे ही समीक्षक करेंगे जिनका स्वय जीवन्त जीवन-स्पन्दनों से कुछ लेना देना नही होगा। ऐसी स्थिति में यदि वे कला-समीक्षा का मुख्य

आधार, "रचना के अन्तर्नियमो का सिद्धान्त प्रस्तुत करते है, तो, आश्चर्य ही क्या! रचना के कथित अन्तर्नियमो का हवाला देते हुए उन महानुभावो का सारा जोर इस बात पर है कि – "जिस प्रकार कवि के "काल्पनिक जगत्" के रूप–व्यापारो की समति प्रत्यक्ष या वास्तविक जगत् के रूप – व्यापारो से मिलाने की आवश्यकता नही, उसी प्रकार उसके भीतर व्यंजित अनुभूतियों का सामञ्जस्य जीवन की वास्तविक अनुभूतियो मे ढूँढ़ना आवश्यक नहीं है।"[11] ऐसी स्थिति में कलावादी समीक्षको की दृष्टि यदि मुक्तिबोध के सृजन को अलक्षित कर दे, तो, बात समझ मे आती है। लेकिन, जिन आलोचको की दृष्टि कथित भाववाद से ऊपर उठकर समाजवाद और वस्तुवाद तक फैली हो, जो अपने को प्रगतिशीलता का स्मारक चिन्ह मानते हो, जिनकी प्रगतिशील समीक्षा दृष्टि की वाहवाही चारो ओर हो चुकी हो – उनकी मुक्तिबोध को लेकर आलोचकीय दुविधा कुछ–कुछ हैरत में डालती है। जी हाँ। हमारा इशारा डॉ0 राम विलास की ही ओर है, जिनकी सैद्धान्तिक जकडबन्दी को हमने इस प्रबन्ध मे कई जगह दिखाने का प्रयास किया है। डॉ0 शर्मा मार्क्सवादी विचारों की मत्यात्मकता से अनवगत नहीं होंगे, जो यह साबित करता है कि सिद्धान्तों मे परिवर्द्धन किया जा सकता है और इस परिवर्द्धन – क्रम में यदि उसका रूप बदल जाय तो बदल जाय, "स्पिरिट" नही बदल सकती। मुक्तिबोध की मार्क्सवादी समझ इसी के इर्द–गिर्द घूमती नज़र आती हैं। उन्होने लिखा है कि – "मार्क्सवाद मनुष्य को कृत्रिम रूप से बौद्धिक नहीं बनाता है, वरन् उसे ज्ञानालोकित" आदर्श प्रदान मार्क्सवाद मनुष्य को अनुभूति को – ज्ञानात्मक प्रकाश प्रदान करता है। वह उसकी अनुभूति को बाधित नहीं करता, वरन् बोधयुक्त करते हुए उसे अधिक परिष्कृत और उच्चतर स्थिति में ला देता है। संक्षेप में, मार्क्सवाद का मनुष्य की संवेदन–क्षमता से कोई विरोध नही है, न हो सकता है।"[12] कहने की जरूरत नहीं कि "सवेदन–क्षमता" हृदय की क्षमता है, आत्मपरकता का परिचायक है, लेकिन इस आत्मपरकता का मतलब आत्मग्रस्तता नही है, क्योकि आत्मग्रस्त व्यक्ति केवल और केवल अपने ही विश्लेषण मे

अपने ही योग क्षेम मे जुटा रहता है। जब कि आत्मपरक व्यक्ति रूप विश्लेषण के साथ परपीडा मे भी अपनी सहानुभूति रखता है।

तुलसीदास पर जब "प्रगतिवादियों" का हमला इसलिए हुआ कि वे वर्ण–व्यवस्था के पोषक है, स्त्री, शूद्र, और गवारो को निर्जीव ढोल तथा पशु की श्रेणी मे रखते है, तो इन्ही डॉ0 राम विलास शर्मा ने तब, "कत विधि सृजी नारि जग माँही/पराधीन सपनेहु सुख नाही// को उद्धत करके गोस्वामी जी के पक्ष मे अपना रूख स्पष्ट किया। वर्ण व्यवस्थावादी, तुलसी वादी, एकदम खुश, गद्‌गद्। "प्रगतिवादियों" को भी सोचने पर मजबूर होना पडा। उसी तरह प्रेमचन्द के विश्लेषण मे उनके प्रथम अध्यक्षीय भाषण, (प्रगतिशील लेखक सघ) की असगतियो तथा कला सम्बन्धी विचारों की असगतियो को दिखाने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रेमचन्द स्वय – "यथार्थ वादी लेखक थे। उनका यथार्थवाद फोटो खीच कर चुप रहने वाला यथार्थवाद नही था। वे एक उद्‌देश्य लेकर चलने वाले कलाकार थे।"[13] उद्‌देश्य अगर नजर नही आया तो केवल मुक्तिबोध के सृजन मे भले ही उद्‌देश्य–उद्‌देश्य लिखते उनकी लेखनी भोथरी हो गयी . यथा,

(क) भैरो और बरगद में बहस खडी हुई है।
जोरदार जिरह कि कितना समय लगेगा
सुबह होगी कब और
मुश्किल होगी दूर कब।।[14]

(ख) मुझको तोड़ने की बुरी आदत है
कि क्या उत्पीडको के वर्ग से होगी न मेरी मुक्ति।।[15]

(ग) अनजाने हाथ मित्रता के
मेरे हाथों में पहुँच ऊष्मा भरते हैं।
मैं अपनो से घिर उठता हूँ
मै विचरण करता – सा हूँ एक फैंटेसी मे
यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी।।[16]

(घ) क्योंकि हम
देखते है अनिवार्य
मृत्यु उस सभ्यता की
जिसका तुम जाने-अनजाने चित
करते हो समर्थन।।[17]

(ड) गरीबी की राहो के चौराहो, दुराहो पर
मत्र-मुग्ध भावो की
शीर्षोन्नित जनता को
पुकारता जगता है
मनस्वी एक अपना ही"[18]

मुक्तिबोध ने कवि के लिए ज्ञान की आवश्यकता के साथ-साथ त्रिविध सघर्ष की जरूरत पर भी बल दिया। इस त्रिविध सघर्ष के स्वरूप निरूपण मे उन्होने -

1 तत्व के लिए सघर्ष,

2 अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए सघर्ष

3 दृष्टिविकास का संघर्ष, - का समाहार किया,[19]

लेकिन जहाँ तक तीसरे सघर्ष अर्थात् "दृष्टि विकास का संघर्ष" और दूसरे संघर्ष अर्थात् "अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने का सघर्ष" है वह पूरी तरह से "तत्व के लिए सघर्ष" पर ही निर्भर करता है क्योंकि "तत्व स्वयं अपना रूप निर्धारित करता है" और बाह्य के आभ्यंतरी करण की प्रक्रिया मे भावो का जो मानसिक संपादन और संशोधन होता है, उसमें दृष्टि विकास के तत्व स्वयं ही अन्तर्भुक्त रहते हे। अत इन सघर्षों को जब वे एक सूत्र मे समेटते हैं तो यही त्रिविध सघर्ष केवल कला या कविता के सघर्ष तक ही सिमट जाते हैं। लिखते है कि - "मै यह कहना चाहता था कि कला का संघर्ष, वस्तुत तत्व का, तत्व के एकत्रीकरण का, तत्व के परिष्कार का तत्व के विकास का सघर्ष है।"[20]

मुक्तिबोध ने अपनी कविता "भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन" मे

एक बडी ही मार्मिक पक्ति लिखी है –

क्योंकि हमे ज्ञान था
ज्ञान अपराध बना।[21]

जहाँ ज्ञान ही अपराध हो जाए, उस युग की, समय की, विकटता पर कुछ कहना बेहद खतरनाक साबित हो सकता है। इसीलिए जो इस भयानक सत्य को जानते है, वे कही न कही उस तत्र से अपनी चूल बिठाने की कोशिश करते रहते है। किसी भी स्थिति – परिस्थिति से सुविधानुसार ताल–मेल स्थापित करते है। लेकिन समय के करवट की आवृत्ति जैसे ही सुनाई देती है तो इस स्थिति मे –

सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप है
उनके ख़याल से यह सब गप है
मात्र किवदन्ती।।[22]

लेकिन जो ज्ञान को, मात्र दुनियादारी से ही अपने को "एडजेस्ट" करने का पर्याय न मान कर उसी आधार से दुनिया की हकीकत को, पूरी नग्नता से, जग–जाहिर कराना चाहते हैं, उनके लिए "ज्ञान" वाकई अपराध साबित होता है। क्योंकि ज्ञान के इसी तकाज़े के कारण ही वह ऐसी "गहन मृतात्माओं" को पूरी नंगई से देख लेता है जो –

हर रात जुलूस में चलती,
परन्तु, दिन में
बैठती हैं मिलकर करती हुई षड्यन्त्र
विभिन्नि दफ्तरो–कार्यालयो, केन्द्रों में घरो मे।[23]

कहने की आवश्यकत नहीं कि इस भाववाद का विभाव पक्ष इसी दुनिया का है, जिसमे हम सभी रहते आ रहे है। अब कोई जब अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी से ही उसकी घटनाओं–दुर्घटनाओं से अनभिज्ञ है वह जाहिरा तौर पर मुक्तिबोध की कविता नही समझ पाएगा। उसमे रहस्यवाद दिखेगा,

विक्षिप्त मस्तिष्क नज़र आएगा, मार्क्सवाद का घालमेल दिखेगा, दिखेगी नही सिर्फ एक चीज - सृजन, जीवन की पुनर्रचना, क्योंकि वह तो शैली के कारण कही नेपथ्य मे है। मात्र इसीलिए मुक्तिबोध, साहित्यकार होने के बावजूद - "साहित्य-चिन्ता" और जीवन-चिन्ता मे जीवन-चिन्ता का स्थान प्रथम और साहित्य-चिन्ता का स्थान द्वितीय"[24] मानते है।

(ख) विचार तत्व -

यो तो काव्य का मूल रूप रागात्मक होता है, लेकिन उसमे विचार तत्व वैसे ही समाहित होते है, जैसे- दिल मे दिमाग। बहुत सी बातो मे कवि अपनी प्रतिक्रिया ज्ञापित कराना चाहता है, लेकिन नही कर पाता। इसका एक बडा कारण यह हो सकता है कि लेखक के मन मे भावों का जो ज्वार उठा करता है, उसे संशोधित करने वाला कवि के ही भीतर कोई न कोई अवश्य है। कहने की जरूरत नही कि भावो को उच्छ्वास से बचाते हुए एक दिशा मे, एक खास दिशा मे अग्रसर करता है, वह ही कवि का विचार है। विचार-तत्व को बुद्धि, मति, ज्ञान तथा भाव-तत्व को हृदय का पर्याय समझा जाता है। लेकिन कविता और कवि के सन्दर्भ में उपरोक्त तत्वों का एकांगी कोई महत्व नहीं होता, क्योंकि बुद्धि जितनी हृदय को अनुशासित और संशोधित करती है, उतनी ही हृदय से प्रभावित होती है, नहीं तो ज्ञान-विकास की प्रक्रिया मे केवल बुद्धि का ही योग होता है, भावना का नही। लेकिन साहित्य और रोजमर्रा की जिन्दगी मे यह एक तथ्य है कि भावना भी ज्ञान का एक आधार होती है। मुक्तिबोध ने इसी सन्दर्भ मे लिखा है कि- "जिस प्रकार सोंचना या विचार करना, ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक साधन है उसी प्रकार भावना भी जीवन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक कलात्मक साधन है।"[25]

मुक्तिबोध को अपनी काव्यात्मक अवधारणा को सामने लाने के लिए कई पदो को गढना पडा, जिसमे "ज्ञानात्मक सवेदन" और "सवेदनात्मक ज्ञान" का अप्रतिम महत्व है। दरअसल ये दोनो ही पद उनकी उस काव्य जरूरत को पूरा करते से है। जिसमे वे कही न कही यह मानते हैं कि – "ज्ञान के क्षेत्र मे ही भावना विचरण करती है। इसलिए ज्ञान को अधिकाधिक मार्मिक यथार्थमूलक और विकसित करने का जो सघर्ष है वह वस्तुत कलाकार का सच्चा सघर्ष है।"[26] ज्ञान को केवल यथार्थ मूलक ही नही बल्कि मार्मिक–यथार्थ–मूलक बनाना है, क्योंकि बगैर मर्म के ज्ञान स्पन्दनहीन देह सदृश है? तो, इस सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदन के माध्यम से मुक्तिबोध ने यह भी सकेतिक किया है कि कविता और आलोचना दोनो में ही बुद्धि या हृदय के द्वैत से काम नही चलने वाला है बल्कि इन दोनो के समन्वय से ही कविता और आलोचना दोनो को ही, नई दिशा दी जा सकती है।

साहित्य के सन्दर्भ मे विचार और विचारमुक्तता का सवाल सबसे पहले 1910 मे नव्य–समीक्षा के प्रथमाचार्य आई0 ई0 स्पिनगार्न ने उठाया जिनका कुल मन्तव्य यह था कि – "समीक्षक, ऐतिहासिक और सामाजिक कारणो के झमेले से मुक्त रहकर अपने प्रतिपाद्य विषय पर ही ध्यान केन्द्रित रखे क्योंकि कलाकृति का सरोकार इन बातो से नहीं रहता।"[27]

कला की स्वायत्ता का यह सवाल जितना ऊपर से देखने पर प्रखर दिखता है, उतना ही अन्दर से निस्सार भी। यह बात सही मानी जा सकती है कि कविता ही कवि का परम और चरम वक्तव्य है, और उसी के दायरे में रहकर ही कविता का विवेचन होना चाहिए। लेकिन जिन कविताओं में "उद्देश्य" को प्राथमिकता दी गई हो उनकी स्वायत्तता का पैमाना क्या हो सकता है? कहने की जरूरत नही कि कवि के विचारो का असली प्रतिनिधित्व उसकी कविता में आया "संवेदनात्मक उद्देश्य" ही होता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक होगा कि विचार केवल सैद्धान्तिक मानदण्डों

का ही नाम नही है, बल्कि जीवन और जगत् को देखने की एक दृष्टि भी है। अब यह अलग है कि जीवन–जगत् को देखने की शैली आकस्मिक रूप से "सिद्धान्त" से भी ऐक्य रखती हो।

कविता को कथित बाह्य दबावो से मुक्त भी रखना है और कविता का अर्थ सधान भी करना है, ऐसी स्थिति मे "भाषा" ही एकमात्र साधन बचती है, जिसे आधार बनाकर कविता का विवेचन किया जा सकता है। लेकिन भाष्य, आभ्यन्तर वास्तव को ही रूप बद्ध कर सकती है, और "यह आभ्यतर वास्तव भिन्न–भिन्न व्यक्तियो का भिन्न–भिन्न होता है।"[28] कोई कलावाद की ओर झुकता है और कोई समाजवाद की ओर लेकिन इस झुकाव मे सबसे अहम् सवाल तो यह है कि क्या कविता, मात्र अभिव्यक्ति है? यदि वह मात्र अभिव्यक्ति है, तो, उसका औचित्य क्या है? और जहाँ तक औचित्य का सवाल है, वह कभी निरपेक्ष नही हुआ करती। इन सब सवालो का जवाब केवल कविता के दायरे मे बँध कर नही दिया जा सकता, तो, जाहिरा तौर पर कविता से बाहर आना होगा, जिससे कि कविता की कथित स्वायत्ता बाधित होती है। मुक्तिबोध ने नए कवि के लिए जिस ज्ञानमूलक सवेदना के विकास की बात की है, वह अकारण नही, बल्कि वह स्वयं कवि के परिवर्धित होते ज्ञान के सोपानो का सूचक है। मुक्तिबोध का ज्ञानात्मक विकास कई मंजिलों में हुआ है। उन्होने स्वयं लिखा है कि– "मैने वस्तुत तीन युग देखे है। छायावाद का पूर्ण प्रकाश मेरी आँखो के सामने हुआ। किन्तु कभी मैं छायावादी नही हो सका। उसके विरूद्ध प्रतिक्रियायें ही मेरे हृदय मे जमा होती गयीं। मैने प्रगतिवाद का अभ्युत्थान देखा। अपने छोटे से क्षेत्र में, छोटे से गाँव शहर या कस्बे मे, भरसक कोशिश की कि उसका फैलाव हो। वह खूब फैला। किंतु मेरी कविता प्रगतिवादी ढाँचे को नही अपना सकी।"[29] जिसका मतलब है कि कवि को प्रगतिकालीन यांत्रिक रूप से चलने वाले राजनैतिक सामाजिक विचार–भाव, यांत्रिक ओज और यान्त्रिक छन्द कभी भी स्पृहणीय नहीं रहे।

सन् 1941 के एक अन्य लेख मे वे लिखते हैं कि – "जीवन किसी भी दायरे मे बँध नही सकता। और जहाँ–जहाँ जीवन की सच्चाई प्रकट की गई है, वहाँ–वहाँ कला अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्रकट हुई है। किन्तु जहाँ किसी "वाद" या बौद्धिक विश्वास से जीवन को देखा गया है, वहाँ जीवन की ताजगी और उसका प्रवाह संगीत लुप्त हो गया है।"[30]

तो एक तरफ सन् 41 की "वाद रहितता" तथा बाद के वर्षों मे वैचारिक रूप से प्रगतिशील होते हुए भी उस से असन्तोष। ये दोनो ही सवाल मुक्तिबोध की वैचारिकता को समझने मे सहायक हो सकते है। उनके वक्तव्य से भी मालूम होता है कि उन्हे अपनी प्रत्येक वैचारिक स्थिति से गहन असन्तोष था। यही सवाल खडा होता है कि मुक्तिबोध का वैचारिक धरातल क्या था? क्योंकि उन्होने घोषित तौर पर न केवल प्रगतिवादी ढाँचे के शिल्प को खारिज किया, बल्कि अपनी रचनाओ की तात्विकता के विषय मे भी उनकी निर्भ्रान्त धारणा है कि – "न उनकी तत्व–व्यवस्था विशुद्ध सामाजिक राजनैतिक है, यद्यपि वे सामाजिक–राजनैतिक तत्व बेमालूम तरीके से, उनमें मिले हुए है।"[31] इसका मतलब साफ है कि वे प्रगतिवादी वैचारिकता में परिवर्द्धन के अन्तर्महत्व को समझते रहे, क्योंकि – "प्रगतिवाद एक क्षेत्रीय था, यन्त्रवत था, वह एक विशेष काल में मध्यवर्ग की एक विशेष मनोवैज्ञानिक दशा का ही सूचक था। वह दशा समाप्त हुयी और वह धारा (धारा के रूप में) समाप्त हो गयी।"[32] ध्यान देने की बात यह है कि प्रगतिवाद को एक "वाद" के रूप मे ही समाप्त होना मानते हैं मुक्तिबोध, न कि जीवन विषयक दृष्टिकोण के रूप मे। क्योंकि मुक्तिबोध को इस तथ्य मे रञ्च मात्र भी सन्देह नही है कि प्रगतिवादी साहित्य ने ही मानवमुक्ति के सवाल को व्यापक धरातल प्रदान किया। यह भी एक सुखद सयोग ही है कि जहाँ–जहाँ मानव को दु:ख, पीड़ा, सन्त्रास, से लडते दिखाया गया है, वहाँ–वहाँ के आलोचको ने प्रगतिशीलता को ही चिन्हित किया। चूँकि मार्क्स

वादी विचारो के चलते सोवियत रूस को कट्टर आतताइ सत्तावर्ग जारशाही से मुक्ति मिल चुकी थी और साम्यवाद के रूप मे वह विश्व–परिदृश्य पर एक जीवन्त उदाहरण था। अत वहाँ से प्रेरणा लेकर तमाम देशो मे मानव मुक्ति के विराट प्रश्न को हल करने की सफल–असफल कोशिश की गई। लेकिन अपने यहाँ तक देश की स्वतन्त्रता का सवाल सबसे अहम् सवाल था। उस समय की राजनीति मे इस सवाल से जूझ ही रही थी, साहित्य भी अछूता नही था। यही कारण है कि छायावादी साहित्य मे विभाव पक्ष की शून्यता के बावजूद जहाँ भी वस्तुपरकता अपना स्थान बना सकी है, वहाँ यह लक्षित करना नामुमकिन नही है कि साहित्य की वह प्रगतिशील विचारपद्धति देश की स्वतन्त्रता की कामना से ही जुडी है। जैसा कि डॉ0 राम विलास शर्मा ने भारतेन्दु और प्रेमचन्द दोनो ही युगो के सन्दर्भ में साहित्य की इसी चिन्ता को लक्षित किया है, लिखते है कि – "प्रेमचन्द ने अपने साहित्य का उद्‌देश्य घोषित किया था – स्वतन्त्रता प्राप्ति। वह स्वाधीनता–संग्राम के सैनिक साहित्यकार थे।"[33]

मुक्तिबोध ने भी यद्यपि देश की स्वतन्त्रता के लिए लोगों को कुर्बान होते देखा, लेकिन उनका तब का साहित्य केवल बँधे–बँधाए ढर्रे पर ही चलता रहा। सन् 42 मे वे मार्क्सवादी सिद्धान्तो और मित्रों के सम्पर्क मे आए जिसकी वजह से उनका पहले वाला "व्यक्तिवाद" क्षीण होता गया, जिसके विषय में उनका मानना था कि – "आन्तरिक विनष्ट शान्ति और शारीरिक ध्वंश के इस समय में मेरा व्यक्तिवाद कवच की भाँति कार्य करता था।"[34]

सन् 47 मे राष्ट्र घोषित रूप से स्वतन्त्र हुआ लेकिन उसके नैतिक चरित्र में आई गिरावट को मुक्तिबोध ने कई जगह साहित्य मे संकेतित किया है। सन् 51–52 को मुक्तिबोध ने "अन्धकार युग" के रूप में "दूसरा सप्तक" के सन्दर्भ मे लक्षित किया है। लेकिन इस गहन अन्धकार में, बड़ी ही कठिनाई के दिनों में वे "ज्योतिष्मान क्षणों" को नहीं भूलते, क्योंकि इसका सम्बन्ध उनकी उस अनुभव सम्पन्नता से है जो कि बाल्य से

घात-प्रतिघात करते हुए उन्हे प्राप्त हुयी। उन्होने उस कालखण्ड के विषय मे लिखा है कि - "जिसे मैने अन्धकार युग कहा है वह मेरे लिए काफी महत्वपूर्ण है। सन् 1943 के जमाने से लेकर सन् 52-53 के कालखण्ड मे जो जीवन-ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ, वह नही होना चाहिए था। मानव-मूल्य गिरते जा रहे थे, मनुष्य सम्बन्ध गँठीले और उलझे हुए हो रहे थे, छोटी-छोटी और अत्यन्त तुच्छ बातो के लिए घनघोर सघर्ष हो रहा था। महत्व, प्रतिष्ठा, पद-प्राप्ति के पीछे बडी-बडी "प्रतिभाए" पडी हुई थी। "तार-सप्तक" की कविताओ के जमाने मे ही, हमने अपने आस-पास जो जीवन-जगत् पाया था, उसके कण्ठ-रोधक रूप-स्वास्थ्य के प्रति हमने अस्वीकार का भाव जताया था। किन्तु आगे चलकर तो परिस्थिति और भी बिगड गई। अवसरवादी सामञ्जस्य करने का हमारा स्वभाव न था। किन्तु अब जीने के लाले ही पड गए थे।"[35]

एक तरफ इस "आत्म वक्तव्य" की पीडा और दूसरी तरफ देश की सद्य स्वतन्त्रता, दोनो मे कितना विरोधाभास है। जाहिर सी बात है कि स्वतन्त्रता का जो वास्तविक आशय है, और होना चाहिए, वह सिरे से नदारद था। इसीलिए मुक्तिबोध कभी भी स्वतन्त्रता के उस कथित जश्न में अपने को शामिल न कर पाए, जो उन्ही के शब्दो मे - "रिक्त स्वतन्त्रता" का पर्याय थी। तो, प्रेमचन्द, निराला, भारतेन्दु, और बालमुकुन्द गुप्त जैसे साहित्यिक प्रहरियो के द्वारा देश की स्वतन्त्रता के सवाल को प्रथमत महत्व देनें के कारण जन की वास्तविक स्वतन्त्रता का जो प्रश्न तब लगभग हाशिए पर डाल दिया गया था, उसे व्यापक धरातल मुक्तिबोध ने प्रदान किया। मेरे कथन का यह आशय नहीं है कि उस समय के उपरोक्त साहित्यकार अप्रगतिशील थे, बल्कि यह कि उनकी प्रगतिशीलता एक सीमित दायरे और समय मे ही थी। कहना न होगा कि प्रत्येक साहित्यकार अपनी रचनाओं मे काल और देश, परिस्थिति और परिवेश को लेकर ही उपस्थित होता है तो, मुक्तिबोध के विचार, साहित्य के विषय में, समाज के विषय मे, जो भी हैं

वह बदली हुयी परिस्थिति के सापेक्ष ही हैं।

मुक्तिबोध ने अपनी रचना प्रक्रिया को समझाने के लिए दो महत्वपूर्ण पदो का सृजन किया है, पहला "बाह्य का आभ्यतरीकरण" और दूसरा "आभ्यतर का बाह्यीकरण"। बाह्य के आभ्यतरीकरण की प्रक्रिया मे उन्होने जिस बाह्य को आत्मसात् किया उसके विषय मे, उसके "अनुभव" के विषय मे उनका मानना है कि "वह नही होना चाहिए था" लेकिन अनुभव हुआ। इस असभाव्य – अनुभव को व्यक्त करने के लिए उन्होने शिल्प चुना। "फैटेसी" जो अपनी अवधारणा मे स्वप्न के समकक्ष और रूपात्मक स्वरूप मे जादुई है, लेकिन यह जादुई ससार "माया ते असि रचि नहिं जाई" है। इसका आधार कवि की देश काल की जीवन्त वास्तविकता है।

"फैटेसी" शैली के विषय मे लेखक की निर्भ्रान्त धारणा है कि यह एक "भाववादी शिल्प" है, जिसमें कल्पना को पूरी स्वतन्त्रता मिलती है, चित्रण की। वास्तविकता के चित्रण के लिए उन्होने जो शिल्प लिया है, लगता है वे ध्वनिवादी आचार्यों आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त से प्रभावित रहे हैं क्योकि ध्वनिकार ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि –

"प्रतीयमानं पुनस्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[36]

जिस "प्रतीयमान सत्ता" को काव्य का आंतरिक सौन्दर्य ध्वनिकार, ने घोषित किया है वह काव्य में उसी तरह विद्यमान रहता है जैसे – कामिनियो में उनके प्रसिद्ध अंगों, अवयवों के अतिरिक्त लावण्य नाम का एक अन्तर्तत्व निहित होता है। लेकिन इस लावण्य की सत्ता यद्यपि प्रसिद्ध अवयवो (कुचा, नितम्बों, नेत्रों, नासिका, कपोलो तथा कुन्तलों) से विलग होते हुए भी सर्वथा अलग नही है, क्योकि इसी का पुञ्जीभूत रूप ही लावण्य है, जिसको वस्तुगत आधार वस्तुत उपरोक्त चीजे ही प्रदान करती हैं। ध्वनिकार ने इस "प्रतीयमान सत्ता" को "स्फोटवाद" से जोड़ा है। जिसके

विषय में लिखा गया है कि –

"स सयोगवियोगाभ्या करणैरूपजन्यते।
सस्फोट शब्दज शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधै ।।"[37]

जिस प्रकार वर्णों से शब्द का अर्थ प्रस्फुटित होता है उसी प्रकार एक अर्थ से दूसरा अर्थ प्रस्फुटित हो जाता है। जिस प्रकार ढोल के साथ सयोग और वियोग से बारम्बार चोट लगने से शब्द उत्पन्न होता है और क्रमागत तरगो द्वारा वह हमारे कान तक पहुँचता है, उसी प्रकार शब्द की अतिम ध्वनि से शब्द के अर्थ को व्यक्त करने वाला स्फोट होता है और काव्य मे के अर्थ को व्यक्त करने वाली ध्वनि होती है।

"फैटेसी" के अर्थ–सघान के लिए पाठक मे "भावयित्री प्रतिभा" का होना अत्यन्त जरूरी होता है, क्योकि इस शिल्प मे अर्थ का अनुमान काव्य–सकेतो के आधार पर करना पडता है। कहना न होगा कि ध्वनिवादी आचार्यों ने जिस व्यग्यार्थ को "काव्यस्यात्मा" घोषित किया है, वह भी अनुमान के आधार पर ही ज्ञात की जाती है।

दूसरी वस्तु जो कवि मुक्तिबोध ने इस सम्प्रदाय से ग्रहण की है वह "स्वइच्छित विश्व के सृजन" को लेकर है, यद्यपि फैंटेसी के ही सन्दर्भ में उन्होने सवेदनात्मक उद्‌देश्य को फैटेसी का मर्म स्वीकार किया है जिससे जाहिरा तौर पर विश्व के प्रति की गई क्रिया–प्रतिक्रियाओ की दिशा तय होती है। लेकिन जिसे आधुनिक शब्दावली मे "यूरोपिया" या "मनोराज्य" का निर्माण कहा जाता है वह भी "यथास्मै रोचते विश्व" कह कर भारतीय काव्यशास्त्र में संकेतित किया गया है। बिना इस इच्छित विश्व के "अपारे काव्य संसारे" के कवि को दूसरा प्रजापति मानने की सगति आखिर क्या हो सकती है? जैसा कि ध्वनिकार ने लिखा है कि –

अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापति ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथा पिरिवर्तते।।"[36]

इसी से एक और मिलता–जुलता सवाल है कि क्या कवि या लेखक उन सभी भावो को रूप प्रदान करे जिन–जिन को उसने अनुभव किया है? साहित्य को मात्र अनुभूति या अभिव्यक्ति पक्ष तक ही सीमित कर डालने वालो के लिए यह सिद्धान्त सही हो सकता है, लेकिन जो साहित्य की सोद्‌देश्यता के कायल हे उनके लिए इस सवाल का कोई महत्व नही है। क्योंकि जब साहित्य सोद्‌देश्य होगा तो केवल उन्ही भावो को ही अभिव्यक्ति प्रदान की जाएगी जो कवि के मन्तव्य को पूरा करने मे सहयोग देते हो। मुक्तिबोध ने साहित्य की इस सोद्‌देश्यता के सवाल को कई निबन्धो मे स्पष्ट और कविताओ मे सकेत के तौर पर सूचित किया है? यह "पक्षधरता" उनके लिए सवेदनात्मक उद्‌देश्य की दिशा मे उठाया गया पहला कदम है। जैसा कि उन्होने लिखा है कि – "मेरी अन्तरात्मा ने, जीवन यात्रा मे जिन लक्ष्यो और भाव दृष्टियो को प्राप्त किया है, जिस भावधारा का विकास किया है, उसमे महत्वपूर्ण सच्चाईयाँ भी है। उस अन्तरात्मा ने जिन विशेष आग्रहो का विकास किया है वे उसके लक्ष्यों से प्रसूत आग्रह है। वे प्रयोजन हैं। वे अन्तरात्मा के सवेदनात्मक उद्‌देश्य है, वे कर्म–प्रक्रिया के लक्ष्य है – चाहे वह कर्म प्रक्रिया कलाकार का कर्म ही क्यो न हो।"[39]

और वे प्रयोजन क्या हैं? – "घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य को मानवोचित जीवन प्राप्त हो।"[40]

वैचारिक तौर पर मुक्तिबोध साहित्य की सोद्‌देश्यता के समर्थक और कलावादी अवधारणा की हरेक स्थापनाओं, मसलन – कला की स्वायत्ता, व्यक्ति स्वातन्त्र्य, क्षणवाद, आधुनिकता बोध, लघुमानव की अवधारणा, कला तथा सौन्दर्य की अद्वितीयता आदि के मुखर विरोधी हैं। वह यद्यपि भाववादी शैली के नाट्‌यधर्मी सर्जक हैं, लेकिन जब वह भाववादी अनुभूति में छुपे "कलात्मक फ्राड" की बात चलाते हैं तो उसका आधार वस्तु को वस्तुगत आधार पर ही जाँचने परखने के आग्रह मे छुपा होता है। जैसे – भावों के फ्रॉड का पता उसके ज्ञानात्मक आधार पर चलता है

वैसे ही कला मे "वैचारिक फ्रॉड" का पता तब चलता है, जब विचार मे कर्म का समन्वय न हो, अथवा विचार मे कर्म की प्रेरणा न हो। मुक्तिबोध ने विचारो को कर्म से जोडने की बात की है, क्योंकि उनका मानना है कि "सोशल इक्वलिटी" केवल लफ्फाजी से तो आने को रही, उसके लिए गहन कर्म की आवश्यकता है। जिन साहित्यिको का सृजन कर्म के सौन्दर्य से हीन है वह काव्य-सत्य होने के बावजूद भी – "वह एक वचना स्वप्न की उपज, अह के प्रक्षेप का परिणाम अथवा आत्माभिनय का साहित्यिक रूप हो सकता है।"[41]

यह मात्र संयोग नही है कि साहित्य मे जिन लोगो ने संघर्ष के तत्वो को महत्व दयिा है वे साहित्य की सोद्देश्यता के समर्थक हैं। यही सघर्ष साहित्य से आगे बढ कर जीवन-संघर्ष की प्रेरणा भी देता है। ऐसे साहित्यकार साहित्य का मुख्य स्रोत जीवन मानते हैं अतएव साहित्य मे आए सघर्ष अथवा जीवन मे आए सघर्ष की अन्योन्याश्रिता स्वाभाविक ही कही जा सकती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा साहित्य को "सिद्धावस्था" तथा "साधनावस्था" के विभागो मे किए गए बटवारे का मूल "सघर्ष" ही है। उन्होने साहित्य मे सघर्ष को विशेष महत्व देते हुए उसे साधनावस्था के साहित्य की बडी विशेषता माना। आचार्य शुक्ल ने सिद्धावस्था के साहित्य के मूल मे आनन्द को लक्षित करते हुए अपनी व्यवस्था मे दोयम स्थान दिया। उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी ने सघर्ष मूलक साहित्य की विशेषता बतलाते हुए "विरूद्धो के सामञ्जस्य" की बात की है। "विरूद्धो के सामञ्जस्य" की अतत परिणति वे "कर्मक्षेत्र के सौन्दर्य" मे मानते हैं। यह विरूद्धो का सामञ्जस्य उत्पन्न वहाँ होता है, जहाँ "लोक में फैली दु.ख की छाया को हटाने" का सघन यत्न किया जाता है। इसी सघर्ष को मुक्तिबोध ने अपनी कविता में बडी ही सूक्ष्मता से पिरोया है –

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे

उठाने ही होंगे।

तोडने ही होगे मठ और गढ़ सब।[42]

"यहाँ जिस अभिव्यक्ति के खतरे की बात की गई है, वह केवल शब्दो की अभिव्यक्ति ही नही बल्कि कर्म की भी अभिव्यक्ति है। पूर्वापर सन्दर्भ से स्पष्ट है कि यहाँ अभिव्यक्ति से अभिप्राय कविता भी है और क्राति भी, क्योंकि जिन मठो और गढो के तोडने का सकल्प यहाँ किया गया है, वे केवल साहित्यिक मठ और गढ नही है।"[43]

मुक्तिबोध ने अपने कथ्य के लिए जिस शैली का चयन किया, वह भाववादी है, और जैसा कि उन्होने मार्क्सवादी यान्त्रिक विचारधारा तथा यात्रिक छन्द शास्त्र को छोड़ने की भी चर्चा की है तो सवाल उठता है कि वे मार्क्सवादी कैसे हुए? क्योंकि आत्मपूरक भावधारा से भी वे प्रभावित हैं, जिसके विषय में उनका कहना है कि – "कविता – विशेषकर आत्मपरक कविता ने हिन्दी साहित्य–चिन्तन धारा को अत्यधिक प्रभावित किया है। हिन्दी की आत्मपरक कविता, व्यक्तिनिष्ठ भले ही हो, उसमे वास्तविक भाव प्रसंगो की विशिष्टता का बहुत कम चित्रण किया गया है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी काव्य मे वास्तविक प्रणय भावना बहुत थोड़ी जगह और बहुत अल्प मात्रा में है। प्रणय जीवन की वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी बहुत खेद जनक है।"[44] जाहिर सी बात है कि मुक्तिबोध अपने साहित्य मे वास्तविक भाव–प्रसगो की मौलिक विशिष्टता को भी चित्रित करना चाहते हैं। साहित्य की यथार्थवादी धारा को, जिसे मुक्तिबोध ने "वास्तविकता की छाया" भी कहा है – पुष्ट करने के लिए सवेदना को वास्तविक बनानी होता है। हलाँकि वास्तविकता को चित्रित करने का अपना कोई पैटर्न नही है। प्रगतिशील साहित्यिक आलोचको द्वारा "रेजीमेण्टेशन" का जो "अरेन्जमेट" खडा किया गया वह इसी दुराग्रह से ही प्रसूत था। उनका मानना था कि प्रगतिवाद की जो यांत्रिक व्याख्या हमारे द्वारा तैयार की गई है

केवल वह ही वास्तविकता का सही चित्रण कर सकती है। उन्होने इसी वजह से आत्मपरक भाव धारा की घनघोर उपेक्षा की तथा प्रगतिवादी साहित्य को साहित्यिक एकागिता तक पहुँचा दिया। मुक्तिबोध द्वारा जो मात्र राजनीतिक सामाजिक और उसकी छन्द–व्यवस्था का परित्याग किया गया। उसे वस्तुत मार्क्सवाद से विचलन न मानकर रूढ मार्क्सवाद ने परिवर्द्धन की इच्छा का प्रतीक मानना चाहिए। जैसा कि उन्होने वास्तविकता की फार्मूलाबद्धता के विषय मे क्षोभ सा व्यक्त करते हुए लिखा है कि – "वास्तविकता एक फार्मूला नही है। जीवन–प्रसग अनेक सूत्रो मे अनेक तत्वो मे उलझे हुए होते है। उनके अन्तर्गत भाव–प्रसग उलझे हुए सूत्रो और परस्पर प्रतिक्रियाशील तत्वो से बने हुए ज्वलन्त अग्निखण्ड है। उसमे स्वपक्ष और वरपक्ष के पर स्वराघात से एक मन स्थिति और परिस्थिति बन जाती है।"[45]

मुक्तिबोध की सारी वैचारिकता का स्रोत भाववादी शैली मे वस्तुवादी समीक्षा, या फैटेसी के द्वारा वास्तविकता के जीवन्त चित्रण मे ही है। फैंटेसी मे आत्मपरकता को कितना महत्व दिया गया है, और जिए, भोगे गए जीवन को भी कितना महत्व प्राप्त है इसे बार–बार सकेतित करने की आवश्यकता नही है, लेकिन जिस तरह से उन्होने भाव को फ्रॉड से बचाने के को वस्तुवादी की जो युक्ति खडी की है, वस्तु और रूप में "वस्तु" को जिस तरह अन्तर्महत्व दिया है, तथा साहित्य और आलोचना विषयक उनका जो दृष्टिकोण है, वह मार्क्सवाद की दिशा मे किया गया परिवर्द्धन है। मार्क्सवादी साहित्यिक अवधारणा तथा समीक्षात्मक समझ को जिन, वर्गीय प्रतिबद्धताओं, द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओ और कलावादी खण्डन मे देखा जाने का उपक्रम है, वह मुक्तिबोध मे बाकायदे पाया जाता है। मुक्तिबोध का मानना है कि – "मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी होते हुए भी आत्मपरक हुआ जा सकता है।"[46] आत्मपरकता को वस्तुपरकता से मिलाने का आग्रह इसलिए है कि इस प्रकार के कथित वस्तुवाद को लेकर प्रगतिकाल मे जो साहित्य रचा गया वह कालान्तर मे केवल वक्तव्य मात्र बन कर रह गया। कला की जो हानि इस काल के साहित्य को उठानी पडी, वह हिन्दी के वैचारिक आधार सम्पन्न अन्य काल के साहित्य को नही।

विचारो को ही केवल महत्व देते हुए कला के अन्य आतरिक पहलू जैसे – अनुभूति को लगभग अलक्षित किया गया। डॉ0 राम विलास शर्मा का यह मत इस सन्दर्भ मे विशेष युक्तियुक्त है – "सन् 47 के बाद प्रगतिशील साहित्य में उग्र और सकीर्णतावादी रूझान प्रबल हुए। इन रूझानो का एक पक्ष यह था कि कला की अवहेलना करके केवल सामाजिक विषयवस्तु पर बल दिया जाए।"[47] तो, जिस यात्रिक ऐतिहासिक सामाजिक तत्व और यात्रिक छन्द की ओर मुक्ति बोध ने इशारा किया है तथा जिस प्रकार से उन्होने मानव वैविध्यमय जीवन को अपनी कला मे जगह दी है तथा छन्द के स्तर पर लगभग "प्रगीत" को चुना वह जहाँ एक आरे उनकी कलात्मक सर्तकता को सूचित करता है, तो दूसरी तरफ उस कलात्मक सतर्ककता को मात्र कलावाद तक ही सीमित न करते हुए साहित्यिक सोद्देश्यता से भी जोडता है। जैसा कि उन्होने अपने मित्र वीरेन्द्र कुमार जैन को लिखे गए पत्र मे इसी तथ्य की चर्चा मे किया है – "कलाकार को सौन्दर्य और अनुभव का वैविध्य चाहिए तभी उनका मन सर्वाष्लेषी होगा।"[48]

साहित्य में विचार धारा का महत्व होता है अथवा नही होता है, विचार साहित्य को किस तरह प्रभावित करते हैं? जैसे प्रश्नों से भी मुक्तिबोध को जूझना पड़ा। काव्य के लिए विचारधारा का महत्व क्या वांक्षीय है? मुक्तिबोध का उत्तर है, हाँ। क्योकि बगैर किसी दार्शनिक आधार के कोई भी काव्यान्दोलन लोकोन्मुखी नही हो सकता, वैयक्तिक समस्याओं को व्यापक धरातल प्राप्त नहीं कराया जा सकता, जब कि वे समस्याए केवल कुछेक लोगों की ही नहीं है, बल्कि उनसे सरोकार रखने वाले बहुत से लोग समाज में हैं। विचारधारा का अन्तर्महत्व साहित्य में क्या है, और कितना है? इसका पता हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन अध्ययन से मालूम किया जा सकता है। भक्ति की जो धारा वैयक्तिक धरातल पर केवल पूजा–विधि तक दक्षिण में या उत्तर में, कही भी सीमित हो चुकी थी, उसको दार्शनिक आधार, प्रदान किया, रामानुजाचार्य ने। रामानुज से पहले इस ससार को माया और अज्ञान मूलक बतलाते हुए ब्रह्मा को ही सब कुछ माना गया, लेकिन

यह अद्वैतवाद कितना असामाजिक साबित हुआ, यह केवल अनुभूत करने का विषय है। रामानुज ने ही सर्वप्रथम दृश्य मान जगत को वास्तविक माना तथा ब्रह्म को सोपाधिक मानते हुए उसे मानव के बढते दु खो को काटने वाला पतितपावन, त्राणकारी आदि न जाने कितनी जीवन्त उपाधियो से विभूषित किया गया। जिनका कि वास्तविक सामाजिक सरोकार था। रामानुज के अनुसार जगत् शरीर है, ब्रह्म शरीरी है। ब्रह्म जीव और जगत् को धारण करता हुआ उसका नियमन करता है, जैसे शरीरी शरीर का। जैसे नील कमल का नीलत्व कमल से भिन्न नही है, वैसे जगत् ब्रह्म से पृथक नही। इस जगत् को वास्तविक मानकर उसे महत्व देने मे ही भक्ति की लोकोन्मुखता एव करूणा है। जगत् मिथ्या नही, वास्तविक है, यह लौकिकता की विश्वबोधात्मक या दार्शनिक स्वीकृति है।

लेकिन इस प्रकार की विश्व दृष्टि का अभाव नई कविता के काल मे पाया गया जो मुक्तिबोध के शब्दो मे – "यह अच्छा नही है, हानिप्रद हे, देश के लिए भी, साहित्य के लिए भी, स्वयं कवियों के अपने अन्तर्जीवन के लिए भी।"[49] नई कविता के पहले अर्थात् प्रगतिवादी साहित्यिकों के पास एक सुचिन्तित विचारधारा थी, लेकिन नई कविता के बुर्ज से शीत युद्ध की गोलदान्जी की गई जिसका कुल मतलब था प्रगतिवादी विचारधारा को साहित्य–जगत से खदेड़ बाहर करना। इस लम्बे सघर्ष के परिणामस्वरूप नई कविता के नव्याचार्यों को सफलता मिली। लेकिन इसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि – "नई कविता को उत्तराधिकार के रूप में न तो अध्यात्मवादी विचारधारा प्राप्त हुई और न भौतिकवादी।"[50] अध्यात्मवादी विचारधारा का विरोध तो प्रगतिवादियों ने खुद ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को साहित्य मे प्रतिष्ठापित करने के निमित्त किया था।

साहित्य के लिए विचारधारा इसलिए महत्वपूर्ण है कि –

ॉ1ॉ बिना किसी केन्द्रीय दृष्टि के भाव–दृष्टि का अनुशासन नही हो पाता।

(2) जब तक भावना का भावात्मक जीवन का अनुशासन नही होता तब तक विश्वदृष्टि का निर्माण नही हो पाता, जो कवियो को आभ्यतर आत्मशक्ति प्रदान कर उन्हे मनोबल दे सके और उनकी पीडाग्रस्त अगतिकता को दूर कर सके।

लेकिन इन तथ्यो के बावजूद भी कवि विचारधारा के सम्पर्क मे इसलिए नही जाते, क्योकि –

(1) उन्हे कोई राजनैतिक न कह दे, उनकी कविता को कहीं कोई गद्यात्मक न कह दे।

(2) कवि को कलाहीन और कवि को कम्यूनिष्ट न कह दें।

इस साधनहीनता के पीछे मुक्तिबोध ने जो तथ्य लक्षित किया है उसके मूल मे "चरित्रहीनता" और "अवसरवाद" है। जो चीजो को – "सच–सच" और साफ–साफ नही कहने देता।"[51]

साहित्य और दर्शन या कि विचारधारा के अन्तर्सम्बन्धो को विवेचित करते हुए एक अड़चन खड़ी होती है कि किसी भी लेखक ने विचारों को ग्रहण केवल बौद्धिक रूप से किया है, अथवा संवेदनात्मक रूप से। इस तथ्य का पता उसके साहित्यिक अनुशीलन से मालूम हो जाता है। जहाँ वह विचारों को शिक्षा और ज्ञान–विज्ञान के माध्यम से अथवा भावनात्मक माध्यम से आत्मसात् करते हुए उसको अपनी आत्मा मे रचा बसा लेता है। वहाँ तक तो ठीक, लेकिन जब वह विचार उस पर थोपे जाने का पर्याय हो जाता है, तो वैचारिक फ्रॉड का पता लता है। जैसा कि मुक्तिबोध का इस सम्बन्ध में मत है कि – "इस जीवन–ज्ञान व्यवस्था की, विचार–व्यवस्था की, एक विशेषता ध्यान में रखने योग्य है। उसमें जीवन–व्याख्यान के जो सूत्र होते हैं वे उस दृष्टि के अंग होते हैं जो दृष्टि भोक्ता मन ने निजगत प्रयासों और बाह्य प्रभावों से प्राप्त और विकसित की है।"[52]

विचारधारा मे भोक्तृत्व मन की जिस अत सगति की ओर मुक्तिबोध ने इशारा किया है उससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लेखक विचारधारा से किसी विराट दार्शनिक धारा से प्रभावित भी होता है और उसे प्रभावित भी करता है। क्योंकि लेखक को अनुभव द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह बहुत कुछ उसके अन्तर्व्यक्तित्व से जी जनित होता है। एक ओर, लेखक स्वय जीवन–जगत् की व्याख्या करना चाहता है, तो दूसरी ओर, साहित्य–क्षेत्र मे विभिन्न प्रकार की विचारधाराए और दर्शन जीवन–जगत् की व्याख्या को लेकर उपस्थित होती है। ऐसी स्थिति मे लेखक अपने मनोजगत् की व्याख्या को बाह्य–व्याख्याओं से मिलाते हुए उस दार्शनिक धारा का परिवर्द्धन कर देता है।

मुक्तिबोध विचारधारा को साहित्यिक प्रचार का माध्यम नही बनाना चाहते। क्योंकि साहित्यिक प्रचार में विचारधारा को कला मे जस का तस प्रकट कर दिया जाता है। साहित्यकार सृजन के माध्यम से वस्तुत मूल्यो का ही सृजन करता है न कि किसी दर्शन की व्याख्या। वैसे भी हम साहित्य का पठन–पाठन विचारधारा जानने के लिए नहीं बल्कि आस्वाद और उद्देश्य को जानने के लिए ही करते हैं। यदि किसी विचारधारा को केवल सीधे सादे स्पष्ट उपदेशात्मक अथवा वैचारिक के ढंग से वर्णित किया जाएगा तो वह रचना साहित्यिक नहीं कही जाएगी। इसके विपरीत यदि विचारो को कलात्मक और सांकेतिक अभिव्यक्ति मिलती है तो निश्चय ही उस कवि की कलात्मक सतर्कता का लोहा मानना पड़ता है। छायावादी कवि निराला का बहुत सा सृजन इसी मुल्य संवेदनात्मक सामाजिक उद्देश्य को लेकर हुआ है, जबकि प्रगतिवादी विचारधारा को लेकर चलने वाले लोगो ने सीधे सीधे हसिया–हथौड़ा, लाल क्रांति, तथा लाल झण्डे के गीत गाए हैं, कलात्मक चेतना का सर्वत्र मखौल उड़ाया हे, ऐसे कवियो ने। नई कविता के यशस्वी हस्ताक्षर और इस शदी के सर्वश्रेष्ठ विचारकों मे से एक मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी विचार को लेने के बावजूद भी अपने सन्देशों को गुप्त ही रखने

का प्रयास किया है। स्वय "लेनिन" भी साहित्य के सवेदनात्मक उद्देश्य को गुह्य रखने के पक्षधर थे, क्योंकि वे विचारधारा और कला के सूक्ष्म व्यवच्छेद को जानते थे।

इस विषय मे मुक्तिबोध की एकदम साफ–साफ धारणा है कि कवि – "चूँकि वह कलाकार है, इसलिए वह कला मे जीवन–चित्र ही प्रस्तुत करता है, न कि दर्शन की व्याख्या। किंतु उसके पास अपना एक वैचारिक दृष्टिकोण रहता ही है जो एक मूल्याकन कर्त्री और नियन्त्रणशील शक्ति के रूप मे उसकी कलाकृति के रूपतत्व और तत्व–रूप को नियन्त्रित करता है।"[34]

इस प्रकरण में अतिम सवाल उठता हे कि मुक्तिबोध पर जिन–जिन वैचारिक प्रतिभाओ का अतिशय प्रभाव है वे कौन हैं और उनका प्रभाव मुक्तिबोध पर क्या–क्या हैं? मुक्तिबोध भारतीय काव्य–शास्त्र की ध्वनिवादी परम्परा, मार्क्सवादी दर्शन, मुशी प्रेमचन्द तथा चीनी लेखक लू–सुन से सर्वाधिक प्रभावित रहे है। भारतीय ध्वनिसिद्धान्त का प्रभाव, और मार्क्सवादी दर्शन की मुक्तिबोध के सृजन मे भूमिका को हमने पहले दिखा दिया है। अब "लू–सुन" तथा "प्रेमचन्द मुशी" के कलात्मक प्रभावों का विवेचन करते हुए मुक्तिबोध के सन्दर्भ मे इन दोनों लेखको के योग को रेखांकित किया जाएगा।

एक व्यक्ति के रूप में प्रेमचन्द जी का साहित्यिक रंगमंच से उठने का वर्ष 1936 ई0 है और यही से मुक्तिबोध का लेखन प्रारम्भ होता है। जाहिरा तौर पर मुक्तिबोध प्रेमचन्द जी से न मिल पाए। जैसा कि मुक्बिोध संस्मरण के तौर पर लिखते हैं कि – "एक छायाचित्र है। प्रेमचन्द और प्रसाद दोनो खड़े हैं। प्रसाद गम्भीर सस्मित। प्रेमचन्द के होठों पर अस्फुट हास्य। विभिन्न विचित्र प्रकृत्ति के दो धुरन्धर हिन्दी कलाकारों के उस चित्र पर नजर ठहरने का एक कारण यह भी है। प्रेमचन्द का जूता कैनवास का है, और वह अंगुलियो की ओर से सटा हुआ है। जूते की कैद

से बाहर निकलकर अँगुलियाँ बडे मजे से मैदान की हवा खा रही है।
× × × × × × × × × × × × × × × × इस फोटो का मेरे जीवन मे काफी महत्व है।" मैने उसे अपनी माँ को दिखाया था।
× वह प्रेमचन्द को एक कहानीकार के रूप मे बहुत–बहुत चाहती थी।"[55] और इस योग्य माँ के "अयोग्य" शिष्य मुक्तिबोध ने यह भी स्वीकार किया है कि– प्रेमचन्द के प्रति श्रद्धा और ममता को अमर करने का श्रेय मेरी माँ को ही है।"[56]

प्रेमचन्द के जिन प्रभावो को मुक्तिबोध के सन्दर्भ मे निष्कर्ष रूप से दिया जा सकता है वे सूत्रवत और क्रमवार इस तरह से है –

(क) मुक्तिबोध के हृदय में किशोरावस्था से ही अमानवीय व्यवस्था के प्रति नफरत, सामाजिक दम्भ, स्वाँग ऊँच–नीच की भावना, अन्याय और उत्पीड़न से कभी भी समझौता न करते हुए घृणा करना, उनकी माँ ने सिखाया। यह सारी बाते वे प्रेमचन्द जी के पात्रों के माध्यम से भावनात्मक आधार पर जान सकी थी।

(ख) किशोर हृदय की भावनात्मक काति की अवधारणा शनै शनै बलवती होकर मुक्तिबोध को कही भी सामञ्जस्य परक नहीं बना सकी।

(ग) उन्होंने प्रेमचन्द की वेदना को ग्रहण किया।

(घ) छायावादी संस्कारों मे साहित्य सृजन करने वाले प्रेमचन्द जी ने सामाजिक पक्षों की उपेक्षा कभी भी नही कि, मुक्तिबोध पर इसका प्रभाव यह था कि आत्मपरक शैली मे वे वस्तुवाद और सामाजिक समस्याओं को अपने सृजन में महत्व देते है।

(ङ) प्रेमचन्द के सामाजिक सन्देश का प्रभाव मुक्तिबोध के सवेदनात्मक उद्देश्यों में मिलता है।

(च) प्रेमचन्द के पात्रो की मानवीयता मुक्तिबोध को छूती है और वे चाहने लगते हैं कि – "हम उतने ही मानवीय हो जाये जितना कि प्रेमचन्द चाहते है।"

(छ) कथा साहित्य के नैतिक प्रभाव की भी प्रेरणा मुक्तिबोध को प्रेमचन्द जी से ही मिली।

(ज) प्रेमचन्द न केवल मुक्तिबोध को समाजोन्मुख करते हैं, बल्कि आत्मोनमुख भी कर देते हैं और – "जब प्रेमचन्द हमे आत्मोन्मुख करते है, तब वे हमारी आत्म–केन्द्रिता के दुर्ग को तोड़ कर हमे एक अच्छा मानव बनाने मे लग जाते हैं।

और निष्कर्षात्मक तौर पर मुक्तिबोध की यह मान्यता सर्वोपरि है कि – "प्रेमचन्द समाज के चित्रणकर्ता ही नही, वरन् वे हमारी आत्मा के शिल्पी भी हैं।"[57]

चीनी लेखक – "लू सुन" जिसे मुक्तिबोध ने "चीन के नए युग का बाल्मीकि" माना है, को पढते वक्त जिस व्यक्ति/पाठक का बिम्ब खड़ा किया है वह स्वयं कवि का ही है – "एक कोने में, फटी दरी पर लेटा हुआ सैतीस साल का एक व्यक्ति" जिसकी दशा कहानी की तासीर का परिचायक है – "कहानियाँ पढने वाला व्यक्ति कभी–कभी एकदम उठ बैठता। बेचैनी से सारे कमरों में घूम आता। गली की धूल में खेलते हुए बच्चो को पुचकार लेता और न मालूम क्या बुदबुदाने लगता।" पाठक की इस गहन बेचैनी और लगभग पागल की सी दशा पर उसकी बीबी उसे डाँटती भी है कि – "न काम न धाम"

"लू सुन" की कहानियो का पाठन, वह फटेहाल व्यक्ति अपनी आंतरिक आग्रहों तथा "सुविधानुसार" करता है।

लू सुन की कहानियों में "अद्‌भुत नाटकीयता" यथार्थ मनोवैज्ञानिकता, "प्रतीकात्मकता" होने के बावजूद भी – "उसका आधार ठोस सामाजिक व्यक्तिगत अनुभव है। मन का सारा सूक्ष्म इस प्रकार से रचा गया है कि वह

सामाजिक व्यक्तिगत जीवन के स्थूल के आधार का चित्र बन जाए।'[58]

मुक्तिबोध जिस "विश्व दृष्टि" के निर्माण पर निरन्तर अनुसधान, और मनोमन्थन करते रहे, उसका एक बडा कारण यह था कि मनुष्य अपनी वेदना और समस्त कमजोरियो, अच्छाइयो के बावजूद अतत देश और काल की सीमाओ से पार चला जाता है नही तो कोई कारण नही कि चीनी सामाजिक प्रेक्ष्य मे लिखी कहानियों से भी "हिन्दुस्तान के एक कोने मे बैठा हुआ एक साधारण ईमानदार मनुष्य उक्त वास्तविकता से बेचैन हो उठता है, वह कभी अपनी टूटी-फूटी गिरस्ती के सामान को देखने लगता है, अपने फटेहाल बच्चो की सूरत की ओर देखने लगता है, दिन भर घर की चिन्ता में घुलने वाली अपनी स्त्री की ओर देखकर करूणा से भर उठता है, वह कभी अपने स्वदेश के कर्त्तव्य मार्ग पर चलने के लिए स्वय के बलिदान की बात सोंचने लगता है। जी हॉ, शायलॉक ने बैसोनियो से सिर्फ एक पौण्ड गरम-गरम जीवित देह-मॉस मॉंगा था, लेकिन आज के हिन्दुस्तानी शायलॉक को पूरी की पूरी देह मॉग रहे हैं।"[59]

मुक्तिबोध की "एक साहित्यिक की डायरी" जो फुटकल निबन्धों की एक असमयबद्ध सकलन है जो 57, 58 ओर 60 के "वसुधा" (जबलपुर) के अंकों में प्रकाशित होते रहे। जो बकौल मुक्तिबोध – "बहुत मेहनत से बनाई थी। परसाई जी के पत्र-रूपी पिस्तौलों से सप्रेरित होकर मैंने इतनी की थी।"[60] इस डायरी में साहित्य और समाज के जिन प्रश्नो का व्यापक पर्यवेक्षण किया गया है वह मिलान करने पर "लू सुन" के "एक पागल की डायरी" नामक कहानी के पात्र (नायक) से काफी मिलती जुलती है जिसे – "परसीक्यूशन काम्पलेक्स" हो गया था। इस स्थिति का मुख्य स्रोत नायक मे वहॉं मिलता है – "जब लोग पेट पर तुम्हारे लात मारने, तुम्हे और तुम्हारे बच्चों को रास्ते पर खड़ा कर देने को उतावले हो जाते हैं, तुम्हारी जान की ग्राहक हो जाते हैं।"[61] लेकिन इसके बावजूद भी जो लोग इस सामाजिक सच्चाई से रूबरू नहीं हो पाते, उनका सोंचना जबरन बन्द कर दिया जाता

है, उनका "गला ही नही आत्मा भी घोट दी जाती है।"

इसके सबसे ज्वलंत उदाहरण ब्रितानी काल मे बाबू बाल मुकुन्द गुप्त है जिन्हे छद्म नाम का सहारा लेकर ही- लार्ड कर्ज़न की "नीतियों" का पर्दाफाश करना पडा। हमारी सास्कृतिक विरासत बताती है कि – "सत्य ब्रूयात् प्रियमृ ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रिययम्" तो उसका कुछ तो मतलब होना ही चाहिए। तो इस सास्कृतिक "विरासत" पर ध्यान न धरने के कारण मुक्तिबोध की पुस्तक "भारत इतिहास और सस्कृति" पर मध्य प्रदेश सरकार की पाबन्दी 19 सितम्बर 1962 को लगी जो मुक्तिबोध के शब्दों में – "वह दिन मेरे लेखक – जीवन की महान तिथि है।"[62] अब यह अलग बात है कि लेखक चिल्लाता रहे कि – "उस पुस्तक में (अ) क्रांतिकारी आह्वान नही है (ब) हिंसा का प्रसार नहीं है (स) वह अश्लील भी नहीं है। मान लिया जाता है कि उपरोक्त बातें सही हैं, लेकिन असली सवाल तो अब भी जस का तस है, वह यह कि – "उसमें ऐसे कुछ महत्वपूर्ण सत्यांश हैं, जो नामवार गुजरे हैं।"[63] क्या जरूरत है इन "महत्वपूर्ण सत्यांशों" को सामने लाने की।

लू सुन का प्रभाव भले ही भावाकन के जरिए ही मुक्तिबोध पर है, लेकिन है। और यह प्रभाव इस कद्र कि – "मुझे ऐसा कहीं नहीं मालुम हुआ कि लू सुन में कोई "प्रचारवाद" है। (उससे और मैक्सिम गोर्की से कहीं अधिक प्रचार प्रेमचन्द में है। वस्तुत प्रेमचन्द से अधिक मनोवैज्ञानिक रूप–कथा के इस क्षेत्र में – हमें लू सुन में मिलता है।"[64]

मुक्तिबोध उन विचारकों में से है जिन्होंने अपने से बाद के साहित्यिकों को बहुत–बहुत प्रभावित किया। जैसा कि उन्होंने अपने कई निबन्धों में यह माना है कि प्रगतिशील साहित्य की एक परम्परा नई कविता तक चली आयी है और वह उसी से अपनी चूल बिठा पाए। प्रगतिवादी दर्शन को उन्होंने एक व्यापक जीवन दृष्टि के रूप में ग्रहण भी किया, किन्तु जिस

अध्यात्मवादी भावधारी का समग्र प्रत्याख्यान प्रगतिवादी समीक्षको ने किया था। उसके महत्हवपूर्ण सत्याशो से कभी भी मुक्तिबोध कभी भी अपने को अलग नही कर पाए क्योकि वे जानते थे कि कोई भी दर्शन केवल दृष्टि देता है, कला नही। और जो ज्ञान परम्परा उनको प्राप्त है। उसकी भी एक सामा हे। इस सन्दर्भ मे उनका यह वक्तव्य ऐतिहासिक महत्व रखता है – "मनुष्य का ज्ञान–शक्ति की भी सीमाए है, क्या इसे पहचानना जरूरी नहो।"[55]

शैली उनकी रोमानी भाववादी है लेकिन काव्य–वस्तु और उसमें आए प्रश्न वे वैविध्यमय जगत् और उसकी वास्तविकता से ही निकले हैं। जब वे लिखते हैं कि – "उसके द्वारा उठाए गये प्रश्न आज भी सुलझे नही। उसके लक्ष्य अभी भी पूरे नही हुए।"[66] तो उनका इशारा उसी प्रगतिशील साहित्यकारो द्वारा उठाये मानव मुक्ति के विराट प्रश्नों की ओर है। वे प्रश्न क्यो अधूरे रह गए उनका कोई हल क्यो नही निकल सका, यह उत्तर प्रत्येक साधारण जन भी जानता है। इन्ही प्रश्नों को नई कविता के क्षेत्र में उठाने का श्रेय यशस्वी विचार का मुक्तिबोध को है। जो बात साठोत्तरी कवियों ने "डिसइल्यूजनमेंट" के रूप मे मुक्तिबोध की मृत्यु के लगभग एक दशक बाद उठाइ वह व्यंग्य के रूप में और कहीं–कहीं एक दम साफ मुक्तिबोध पहले ही आ चुके थे। जिस सामाजिक विसंगति, विडबना, और अजनबीपने का बोध अकविता वालों को बहुत बाद में हुआ, वह मुक्तिबोध पहले ही संकलित कर चुके थे। वे ऐसे भविष्यदृष्टा थे जिन्होंने देश की आजादी में भाग लेने वालों के गुप्त चरित्रों का न केवल भविष्य जानते थे बल्कि साथ ही देश और उसकी बहुतायत जनता का भी भविष्य जानते थे। इस प्रेक्ष्य में "तीसरा सप्तक" [1959] के कवि केदारनाथ सिंह का यह कथन अप्रतिम महत्व रखता है, जिसे उन्होंने सन् 1968 में लिखा, शीर्षक था – "तार सप्तक का पुनर्मूल्यांकन" लिखते हैं कि – "अपने अन्य समकालीन कवियों की परिधि से मुक्तिबोध का काव्य यदि कुछ अलग या कटा हुआ–सा दिखाई पड़ता है तो इस लिए कि उन्होंने सृजन के स्तर पर कला के संघर्ष

को अस्तित्व के सघर्ष से एकाकार कर लिया था। आज का नया रचनाकार उनके काव्य के इस पक्ष को नई काव्यात्मक मान्यताओ के अधिक अनुकूल पाता है। नए कवियो के बीच मुक्तिबोध की बढती हुई लोकप्रियता का एक कारण शायद यह भी है।"[67]

[ग] सौन्दर्य बोध की अवधारणा –

"कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचना है।"[68] इस सूत्र का अन्तर्महत्व मुक्तिबोध की समस्त साहित्यिक समझ को जानने के लिए अन्यतम है। इसमे "स्वानुभूत" का अर्थ जहाँ पर निजी भोगे गए जीवन से है, वही पर "कल्पना" की रचनात्मक क्रियाशीलता द्वारा वह [कवि/लेखक] परानुभूत मे भी अपनी सम्यक पैठ रखता है। इस तरह से लेखक स्व और और पर दोनों ही अनुभूतियों को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान कर सकता है। उपरोक्त सूत्र को आगे बढ़ाने में जिन अनुषगों का योग है वे क्रमश इस प्रकार से हो सकते हैं –

[क] जिया या भोगा जाने वाला यह जो व्यापक जीवन है, वह जितना आंतरिक है, उतना ही बाह्य।

[ख] जिया या भोगा जाने वाला जीवन विशिष्टि वस्तु है। इस विशिष्ट से [जीवन की पुनर्रचना में] सामान्य की ओर जाया जाता है।

[ग] ज्ञान दृष्टि और संवेदनात्मक उद्देश्य एक दूसरे के अन्योन्याश्रित है। अर्थात् जहाँ तक ज्ञान–क्षेत्र का प्रसार होगा, संवेदनात्मक उद्देश्यों की दशा और दिशा वहीं तक जा पाएगी।

[घ] जीवन की पुनर्रचना कल्पना द्वारा होती है। कल्पना वह माध्यम है जिसके द्वारा संवेदनात्मक उद्देश्य जीवन की पुनर्रचना करते हैं।

(ड) कल्पना के महल की ईंटे वास्तविक जीवन मे जिए गए तत्व ही है।

कहना न होगा कि साहित्य और जीवन की यह परस्पर अविच्छिन्नता ही मुक्तिबोध को अपने समकालीन कवियो से अलग व्यक्तित्व प्रदान करती है। उन्होने साहित्य और जीवन की इस अन्त सूत्रता को अपने कई लेखो मे दिखाने का प्रयास किया है, मसलन एक साहित्यिक की डायरी का यह वक्तव्य – "जब साहित्य जीवन से प्रसूत होकर जीवन को प्रभावित करता है तो वस्तुत उसकी खरी कसौटी भी जीवन ही है और यह जीवन वस्तुत एक कॉम्पलेक्स चीज है। उनके विचित्र पक्ष और पहलू परस्पर एक–दूसरे मे समाहित, प्रविष्ट और परस्पर सन्निहित है।"[69]

यही कारण है कि मुक्तिबोध और राजनीति, व्यक्ति और समाज के साथ–साथ सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि मे भी बुनियादी ऐक्य देखते है। उनके लिए उपरोक्त तत्वों को संश्लिष्टता मे न ग्रहण कर अलग–अलग समझना, केवल "बौद्धिक विक्षेप" के ही कारण है। "सामाजिक दृष्टि और सौन्दर्य प्रतीति" नामक निबन्ध में उन्होंने पहले इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या लेखक सामाजिक दृष्टिकोण से जनता के सेवार्थ साहित्य सृजन करे? अथवा वह अपने भीतर सौन्दर्य प्रतीति से अभिभूत होते हुए आत्म प्रकटीकरण करे? उनकी दृष्टि में यह सवाल ही अस्वाभाविक है तथा इस अस्वाभाविक सवाल को स्वाभाविक–जामा पहनाने वाले लोग "किमियागर" ही हैं क्योंकि यह प्रश्न ही "दिमागी कीमिया की उपज है।"

यह सही है कि लेखक आत्म औचित्य के प्रतिष्ठापन में भावों का संपादन और संशोधन करता है, लेकिन वे भाव एकदन निरपेक्ष तत्वों से निस्सृत हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नही है। वस्तुत. लेखक केवल उन्ही भावों को, मन स्थितियों को आर मानवीय मूल्यों को प्रस्तुत करता है जिससे वह तादात्म्य रखता है। लेकिन जीवन और साहित्य की इस तदाकारिता को नष्ट करने का जो भाववादी वैचारिक उपक्रम हुआ, उसमें

साहित्य और जीवन की समानान्तरता का सिद्धान्त विशेष महत्व रखता है। यह सिद्धान्त दरअसल रूपवादी विचारको के उस सिद्धान्त की ही अन्तिम कड़ी थी जिसमे – "कविता को एक अद्वितीय और असाधारण सरचना माना गया तथा कविता को दूसरे प्रकार की रचनाओ से पृथक करने वाली विशेषता मे उसके कथ्य को महत्व न देते हुए उसके "रूप" को महत्व दिया गया।"[70]

जाहिरा तौर पर इस "अद्वितीयता" के सिद्धान्त ने कवि की अद्वितीयता अनुभव की अद्वितीयता, व्यक्ति की अद्वितीयता के साथ–साथ सौन्दर्य की अद्वितायता वाले सिद्धान्त का भी सूत्रपात किया। मुक्तिबोध का मानना है कि प्रयोगवादी जमाने से ही, अर्थात् जब "तारसप्तक" का प्रकाशन हुआ, वे इस तरह के विचार हिन्दी जगत् मे चले आ रहे थे, लेकिन कालान्तर मे यह प्रवृत्ति अधिक पल्लवित हुयी जिसका परिणाम यह हुआ कि – "बहुत से ऐसे लेखक जो उनकी मूल जीवन व्याख्याओ से, और जीवन दृष्टि से सहमत नही थे, वे उनके कट कर अलग हो गए।"[71] कहने की आवश्यकता नही कि इन अलग होने वाले कवियो मे अग्रणी स्थान स्वय मुक्तिबोध का था।

कला की स्वायत्ता तद्वत उसकी अद्वितीयता का जो सवाल नव्य समीक्षा के पुरोधा आचार्यों ने अमरीका और लदन में उठाया, वही सवाल दूसरा सप्तक वालों ने भी उठाया, जैसा कि अज्ञेय का यह कथन इसकी पुष्टि मे सहायक होगा, – "अनुभूति अद्वितीय होती है, क्योकि कोई दूसरे की अनुभूति भोग नही सकता ———————————— और कवि साधारणीकरण द्वारा जिस अनुभूति का प्रेषण करता है वह काव्यानुभूति जीवन की अनुभूति से अलग होती है।"[72]

मुक्तिबोध को कला की ऑटोनामी से विरोध नही है जेसा कि उन्होंने लिखा है कि – "सृजन प्रक्रिया की आन्तरिक स्वाधीनता तथा उसके अन्तर्नियम ही कला की स्वायत्त स्वतन्त्र सत्ता के प्रधान लक्षण है और उसमें किसी भी प्रकार के बाह्यानुरोधों का हस्तक्षेप नही होना चाहिए।"[73] विरोध इस बात से है कि इस स्वायत्ता क पीछे जो दृष्टि काम कर रही है

उसका कुल मन्तव्य – "साम्यवादी प्रगतिवादी प्रभाव का मूलोच्छेद" था।

कला के इन्ही कथित अन्तर्नियमो का हवाला देकर व्यक्ति मन के दो भाग कर दिए गए तथा इस दूरी को कलात्मक उच्चता का प्रतिमान मान लिया गया। ऐसे स्वायत्त–तत्री लोगो ने कलाकार–व्यक्तित्व का विभाजन कर डाला तथा कलाकार की अद्वितीयता को महत्व देते हुए, उसके द्वारा जिए गए अन्य सम्बन्धो जैसे पिता, भाई, पति, पुत्र को उस अन्तर्व्यक्तित्व से काट दिया। लेकिन कलाकार को उसकी अनुभव सम्पन्नता के उच्चतम स्तर पर पहुँचाने मे इन सम्बन्धो का कितना अह होता है, यह इस वक्तव्य मे देखा जा सकता है – "इनका "आधुनिक भाव" पारिवारिक व्यक्ति नही होता। ﴾मैंने रिवोल्यूशनरी बात कह दी है। लेकिन उससे मुझे डर लगता है ——————————﴿ और जो पारिवारिक व्यक्ति हैं उसमे कहीं न कही, आधुनिकता मे कमी है ———————— या ऐसा ही कुछ।

लेकिन ऐसा क्यों होता है? मेरे ख्याल से इसका काम यह है कि विवाहोपरान्त अपनी स्त्री को जच्चाखाने मे भरती कराना पड़ता है, मँहगाई पर सोंचना–विचारना पड्ता है। × × × × × × × × × × ×
लड़को–लडकियो के विवाह के सम्बन्ध में पहले ही सोच कर रखना पडता है। कमाई बढाने की कोशिश करनी पड़ती है। दूसरों से सहायता लेने के लिए विवश होना पड़ता है। इसलिए उनमें दया, ममता, करूणा, वात्सल्य, कर्त्तव्य–बोध, विवशता के भाव होते हैं।

और इसके अलावा उन्हे हर कदम पर समाज के दर्शन होते हैं – वास्तविक समाज के। × × × × × × × × × × इसलिए समाज उनके लिए भीड़–भडम्के का नाम नहीं। वह अमूर्त कल्पना भी नहीं क्यों कि उसके लिए पेन्शन और प्रॉविडेन्ट फण्ड की व्यवस्था भी वह करता है। इसलिए समाज उसके लिए जीवन्त और स्पन्दशील वस्तु है। उस समाज के बिना न उसका गुजारा हो सकता है और न उसके बच्चों की शिक्षा, न उनका विवाह, न उनकी नौकरी।"[74] कहने की आवश्यकता नही कि

काव्य के विभावन-व्यापार को सत्यता से दीप्त करवाने वाले वस्तु तत्व इसी वास्तविक जावन से ही प्रसूत होते हैं।

मुक्तिबोध ने जिस "फैटेसी" को अपना कविता का माध्यम बनाया है। वही उनके लिए आलोचना की बल्कि सैद्धान्तिक आलोचना का एक औजार भा है। और इस "फैटेसी" मे भोगे गए जीवन, चाहे वह स्वयं का हो अथवा दूसरो का, निर्भ्रान्त महत्व है। जो प्रकारान्तर से भाववाद अथवा आत्मपरकता से कही न कहीं अवश्य जुडा है। अत मुक्तिबोध का यह वक्तव्य – "मुझे गहरा सन्देह है कि आजकल की सौन्दर्य परिभाषा केवल कविता और वह भी आत्मपरक कविता की विशेषताओं के आधार पर बनाई जा रही है।"[75] कुछ भ्रमित सा करने वाला जान पडता है, लेकिन इस भ्रम का निराकरण होता है, मुक्तिबोध के ही उस कथन से, जिसमें उन्होंने स्पष्ट तौर पर कहा है, कि – "दृष्टि रोमैण्टिक होने मात्र से उस भावना का ज्ञानात्मक आधार कमजार नही होता × × × × × × × × × × × ज्ञान का अर्थ केवल वैज्ञानिक उपलब्धियों का बोध ही नही है, वरन् समाज की उत्थानशील तथा ह्रासोन्मुख शक्तियों का बोध भी है।"[76]

अतएव मुक्तिबोध के भाववाद को शैली के अर्थ में तथा शुद्ध भाववाद को जो कि एक विचार सरणि अथवा एक जीवन-दृष्टि का परिचायक, समझना चाहिए। इस विचार से सौन्दर्य केवल दृष्टि में होता है न कि वस्तु में। ऐसे चिंतकों के लिए मन की सत्ता निरपेक्ष सत्ता है, जिसका वस्तु जगत से कोई सम्बन्ध नही है। इसके विपरीत मुक्तिबोध का मानना है कि आत्मा में जो कुछ भी है, चाहे वह अनिन्द्य सौन्दर्य ही क्यों न हो, वह समाज प्रदत्त है। अर्थात् सामाजिक हलचलों का व्यक्ति के मन पर प्रभाव अवश्यंभावी है।

जिस प्रगीतात्मक काव्य का आधार बना कर जड़ीभूत सौन्दर्या-भिरुचि को सींचा गया और कथित सौन्दर्य-परिभाषा को निर्मित किया गया, वह

भी "व्यक्ति स्वातन्त्र्य की अवधारणा" क्षणवाद, "आधुनिक भावबोध" की तरह ही शीतयुद्ध की ही उपज था और जैसे कला की स्वायत्ता के अलबरदारों ने भोक्तामन और सृष्टा मन के खतरनाक पार्टीशन को खड़ा किया, वैसे ही इन्होंने जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की विलगता पर ही अधिक जोर दिया, ऐसा इसलिए कि इन दोनो की परस्पर सहति से कला की कथित स्वतन्त्रता बाधित होती थी और जीवन और साहित्य की परस्पर अत सूत्रता से उन विचारको का काम बिगडता था। अत उन्होने सौन्दर्य की जो अवधारणा प्रस्तुत की वह बकौल मुक्तिबोध – "वास्तविक जीवनानुभूति सौन्दर्यानुभूति से भिन्न स्तर की और भिन्न श्रेणी की वस्तु है। सौन्दर्यानुभूति जीवन के एक निगूढ क्षण में कल्पोद्भास-पूर्ण मानसिक द्रवण है। जीवनानुभूत सौन्दर्यानुभूति से पृथक् तो है ही, वह समानान्तर भी है।"[77] यदि इस उद्धरण को सूत्रबद्ध किया जाय तो तीन बाते समाने आती है –

(क) जीवनानुभूति सौन्दर्यानुभूति स भिन्न स्तर और भिन्न श्रेणी की चीज है।

(ख) यह जीवन के एक खास क्षण मे (निगूढ क्षण) कल्पनोद्भासपूर्ण मानसिक द्रवण है।

(ग) इन दोनो का पृथक् स्थिति तो है ही, समानान्तर भी हैं।

मुक्तिबोध ने एक सतर्क विचारक का नाईं इन तीनों ही बिन्दुओं की अवास्तविकता पर अँगुली रखी है, उन्होंने सौन्दर्य की निरपेक्ष स्थिति से बचते हुए लिखा है कि – "असलियत यह है कि सौन्दर्य तब उत्पन्न होता है, जब सृजनशील कल्पना के सहारे, सर्वेदित अनुभव ही का विस्तार हो जाए।"[78] और जैसा कि पहले ही बता दिया गया है कि कल्पना ही वह माध्यम है जिसके द्वारा वास्तविक जीवन तथा कलागत जीवन (पुनर्सृजित जीवन) मे अन्तर लाया जाता है लेकिन "यह पुनर्सृजित जीवन जिए और भोगे गए जीवन से सारत एक होते हुए भी स्वरूपत भिन्न होता है।"[79] स्वरूपत भिन्न ही नहीं बल्कि उस जीवन से कुछ आगे भी होता है – जो कवि भोगता है। ऐसा

इसलिए कि भोगे गए जीवन को यदि हू-ब-हू चित्रित कर दिया जाय तो वह जीवन कलात्मक रूप से निष्फल होता है, लेकिन जब कवि के स्वप्न, जिसे कि वह "सवेदनात्मक उद्देश्य" भी कहता है, उस पुनर्रचित विश्व मे समाहित होते है तो नवीन ससार भोगे गए ससारिकता से स्पष्टत पृथक होता है। और यही पृथकता ही उस विशिष्ट कवि-मुक्त ससार से अलग हटता हुआ "सामान्य" बन जाता है जो कला मे सम्प्रेष्य वस्तु तत्व होता है। ध्यान रखना होगा कि कला मे विशिष्ट [अद्वितीय] का सम्प्रेषण नही होता, बल्कि "सामान्य" का सम्प्रेषण होता है, जिसमे मनुष्य मात्र अपना अक्स देखता है। भारतीय

भारतीय काव्य शास्त्र मे "साधारणीकरण" की अवधारणा लगभग ऐसी ही है जिसमे मनुष्य का हृदय अपनी निजता से उठकर दूसरो से भी तदाकार हो जाता है और ऊपर उठने की इस प्रक्रिया में मनुष्य मात्र को जिस अनुभूति का एहसास होता है, वही सच्ची सौन्दर्यप्रतीति है। इसी सौन्दर्य प्रतीति के विषय मे जैसी कि मुक्तिबोध की धारणा है कि – "सौन्दर्यानुभूति के दो लक्षण हैं। एक- आत्मबद्ध दशा का परिहार। दो – आनन्दात्मक अनुभव।"[80]

मुक्तिबोध का यह वक्तव्य और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कविता सम्बन्धी समझ अद्भुत रूप से समान है। आचार्य शुक्ल ने "रस दशा" की व्याख्या करते हुए लिखा है कि – "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के सकुचित मडल से ऊपर उठा कर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है × × × × × × × × × × × × इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किए रहता है।"[81] तथा पंडित शुक्ल ने अपने निबन्ध "रसात्मक-बोध के विविध रूप" में यह माना है कि – "मानसिक रूप-विधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है। मन के भीतर यह रूप-विधान दो तरह का होता है। या तो यह कभी प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओ का ज्यो का त्यो प्रतिबिम्ब होता है अथवा प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के रूप, रंग जटिलताओं के आधार पर खड़ा किया गया नया वस्तु-व्यापार-विधान। × × × × × × ×

इन दोनो प्रकार के भीतरी रूप-विधानो के मूल मे प्रत्यक्ष अनुभव किए हुए बाहरी रूप-विधान।"[82] कहने की आवश्यकता नही कि मुक्तिबोध ने प्रत्यक्ष अनुभवो को अधिक महत्व तो दिया है लेकिन उसको "स्मृति रूप विधान" के रूप मे ज्यो का त्यो प्रतिबिम्बित नही किया, बल्कि उस प्रत्यक्ष जीवन जगत को कल्पना के माध्यम से एक नए "वस्तु-व्यापार-विधान" के रूप मे खडा किया। इसीलिए उसके सौन्दर्य को महसूस करने के लिए काव्य की प्रतीयमान सत्ता जिसे आचार्य आनन्दवर्धन ने "ध्वनि" कहा है, का अनुसधान जरूरी हो जाता है। इस तरह हम देखते है कि मुक्तिबोध ने भाववादी शुद्ध आत्मपरक सौन्दर्यप्रतीति का न केवल खण्डन किया है, वरन् उसकी जगह पर कला की उस गौरवशाली परम्परा का पृष्ठ पोषण भी किया है, जो हमारी जातीयता का स्मारक चिन्ह भी है।

भाववादी विचारकों की दूसरी मान्यता है कि – "सौन्दर्यानुभूति जीवन के एक निगूढ़ क्षण मे कल्पनोद्भासपूर्ण मानसिक द्रवण है। दरअसल यह सिद्धान्त भी "लघुमानव की अवधारणा" का ही एक बिन्दु है। जैसे मानव की महान विल्पवकारिणी शक्ति को भुलाकर "लघुमानव" के सिद्धान्त का सूत्रपात किया गया, वैसे ही समय की अविरल धारा मे से क्षण-विशेष को अलग कर उसे कलात्मक विशेषता प्रदान की गई। इस साजिश को सूँघते हुए मुक्तिबोध ने लिखा कि – "इन नए महोदयों का यह सौन्दर्यवाद कलाकार की क्षणजीवी सौन्दर्यानुभूति के छोटे से मानसिक बिन्दु मे ही उसे समेट कर, बाँध कर रखना चाहते हैं, ताकि वह अपने समस्त व्यक्तित्व और अन्तर्जीवन की प्राणधाराओं को भूमिगत करके, केवल ऊपरी सतह पर उछाले गए बिन्दुओ में अपने को तृप्त मान ले और शेष को भूल जाए या उस शेष को महत्व न दे। संक्षेप में वह एक प्रकार का क्षणवाद है। किन्तु उस क्षण को उत्पन्न और आविर्भूत करने वाले, व्यक्त करने वाले, गहन और व्यापक सलिल प्रवाह से, उस अन्त सलिला से कोई मतलब नहीं, जो अन्त. सलिला वास्तविक जीवन ही का एक आत्मरूप है।"[83] इस क्षणवाद के "अन्तर्महत्व" को मुक्तिबोध के समकालीन कवि "अज्ञेय" ने समझा था, जिसका प्रमाण उनका

उपन्यास "शेखर एक जीवनी" है। जिसके प्रणयन के विषय मे अज्ञेय का दावा है कि – "शेखर धनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।"[84] यद्यपि यह – "दस वर्ष के परिश्रम का फल" भी है लेकिन दस वर्षों के सापेक्ष एक रात का महत्व उतना ही है जितना कि एक रात के सापेक्ष, क्षण विशेष का महत्व। विजन है क्षण विशेष का ही, चाहे उसे शब्दबद्ध करने में दस या बीस बरस ही क्यों न लग जाएँ। भाववादी विचारको का एस्थेटिक इमोशन के विषय में दावा है कि गहन अनुभूति (अर्थात् जिसमे सृजन किया जा सके) के क्षण बहुत थोड़े होते हैं और बगैर इस विशेष क्षण के सृजन मे प्रवृत्त नहीं हुआ जा सकता। जिसका एक मतलब यह हुआ कि काव्य–सृजन के क्षण और हृदय के रसात्मकता के क्षण युगपत रूप से एक ही होते है। यह बात सैद्धान्तिक तौर पर जितनी सुन्दर है उतनी वास्तव मे नही है। क्योंकि काव्य सृजन के समय जरूरी नही कि हृदय भी रसमग्न हो ही। मुक्तिबोध ने भाववादियों क्षणवाद का खण्डन करते हुए लिखा कि – "कला का प्रसव सौन्दर्यानुभूतियों के क्षण मे ही होता है, यह एक अनिवार्य नियम नहीं है। यदि सचमुच वैसा होता तो महाकाव्य और खण्डकाव्य न लिखे जाते। तुलसीदास जी रामायण न लिख पाते। एज पाउण्ड लम्बे काण्ड न लिख पाता। आधुनिक प्रदीर्घ काव्य केवल मानसिक द्रवण के क्षण के उत्कर्ष रूप नहीं लिखे गए है।"[85] इस तर्क के किसी भी स्तर पर भाववादी विचारधारा नहीं टिक पाती। सौन्दर्यानुभूति का क्षण, यदि वह क्षण है तो, निरतर नहीं बना रह सकता। रचनाधर्मिता के दौरान यह अनिवार्य नही है कि कागज–कलम पकडते ही इस्थटिक इमोशन्स प्राप्त होने लगे। या तो महाकाव्यो के लिए कहा जाएगा कि वे सौन्दर्यानुभूतियों की उपज नही है या फिर सौन्दर्यानुभूतियों की अविरल बारम्बारता की अप्राकृतिकता को स्वीकार करना पड़ेगा।

कलात्मक चेतना के विस्तार के लिए स्थान, काल, परिस्थिति उतनी महत्वपूर्ण नही है, जितनी कि कलाकार का सचमुच कलाकार होना। जीवन के किसी भी मोर्चे पर किसी भी स्थिति मे वह अपनी सौन्दर्यानुभूति का

विस्तार कर सकता है। और जरूरी नही है कि वह अपनी अर्जित सौन्दर्यानुभूति का इस्तेमान करने के लिए फौरन कागज–कलम उठा ले और लिखने बैठ जाए – "कलाकार केवल कलाकृति उपस्थित करते समय ही कलाकार नही होता, वरन् उस समय के बाहर भी वह कलाकार होता है।

क्षणवादी अवधारणा मे स्वय अन्तर्विरोध निहित है। उनके अनुसार कलाकार तभी तक कलाकार हो सकता है जिस समय मानसिक द्रवण के उत्कर्ष के क्षण वह जिए। शेष काल मे गोया उसे कलाकार नही कह सकते। ऐसी स्थिति मे उसे विशिष्ट मानना या समाज मे अद्वितीय स्थान देना भी गलत होगा। दरअसल यह धारणा प्रागमैटिक होने के कारण तत्काल प्रभाव तो डालती है, लेकिन गहराई से विचार करने पर इसकी निस्सारता खुल जाती है।

सौन्दर्य सम्बन्धी तीसरी अवधारणा जो भाववादी विचारकों ने फैलाई वह जीवन और सौन्दर्यानुभूति की समानानतरता कथा जिसमें एक तरह से यह भ्रम फैलाने का प्रचार किया गया कि भाववाद जीवन को भी कला मे महत्व देता है। लेकिन तथ्य बताते हैं कि समानान्तरता के सिद्धान्त मे स्वाभाविक तौर पर जीवन और सौन्दर्यानुभूति की परस्पर अंत सूत्रता नदारद पायी जाती है और यह सिद्धान्त यह भी इंगित करता है कि जीवन और साहित्य कभी भी नदी के दो कूलो की भॉति एक दूसरे से मिल नही सकते। निश्चय ही यह सिद्धान्त निराला, प्रेमचन्द रामचन्द्र शुक्ल, तथा मुक्तिबोध जैसे साहित्यकारों का सिद्धान्त नहीं है क्योंकि इन सभी विचारको ने समय–समय पर कलावादी स्वायत्ता की आतरिक असगतियो की ओर इशारा करते हुए जीवन और साहित्य की परस्पर अनुस्यूतता को ही दिखाया है।

इस तरह से मुक्तिबोध का सौन्दर्य सम्बन्धी प्रतिमान सघर्ष के सौन्दर्य का ही प्रकारान्तर से प्रतिष्ठापन है तथा वह कवि की अद्वितीय सौन्दर्यानुभूति की न केवल मुखालफत करता है, बल्कि इसे मनुष्य मात्र की विशेषता मानते हुए, "मनुष्यत्व का एक लक्षण"[87] घोषित करता है।

उन्होने कविता को बैठे–ठाले काम घोषित करवाने वाले, और जनवाद से कोसो दूरी बनाए रखने वाले विचारको से अपनी सहमति न व्यक्त करते हुए – "घर मे दिन भर मेहनत करने वाली माँ और पत्नी, मारा–मारा फिरने वाला नवयुवक, अपने माँ–बाप का बोझ हल्का करने के लिए नौकरी ढूँढने वाली बेटी"[88] मे भी उसी सौन्दर्य का दर्शन किया जिस पर भाववादी विचारको की बपौती हुआ करती थी।

मुक्तिबोध की काव्यात्मक समझ को बताने के क्रम मे बहुत से आलोचको ने केवल शुद्ध वस्तुवाद को ही विशेष महत्व दिया है। इसका एक उदाहरण अशोक चक्रधर की पुस्तक "मुक्तिबोध की समीक्षाई" मे मिलता है। पुस्तक मे, मुक्तिबोध की सौन्दर्यानुभूति को विश्लेषित करते हुए वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे है वह शुद्ध वस्तुवाद का ही एक उदाहरण है। लिखते हैं कि – "निष्कर्षत यह कि सौन्दर्य की सत्ता वस्तु मे है न कि व्यक्ति में। विभिन्न यथार्थ–सम्बन्धो की सत्ता वस्तु में है न कि व्यक्ति मे। विभिन्न यथार्थ–सम्बन्धों वाले जीवन–जगत के वस्तुगत सौन्दर्य को कलाकार रूप अथवा वाणी देने की चेष्टा करता है।"[89]

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस शुद्ध वस्तुवाद का मूल स्रोत वह चिंतन है जिसमें मुक्तिबोध को मार्क्सवादी घोषित करने की उनके निधनोपरान्त होड़ सी ~~रूढ़~~ लगी थी। बता देना आवश्यक है कि अशोक चक्रधर की उपरोक्त पुस्तक सन् 1975 की उनके शोध–प्रबन्ध "मुक्तिबोध की काव्य प्रक्रिया" के अंशो का ही पुनर्नवीकरण है। तो जिस "वस्तुवाद" को कट्टर मार्क्सवादी धरातल पर तब प्रतिष्ठित किया गया था, इस पुस्तक में भी जस का तस उतार लिया गया है, बगैर इस चीज़ का ध्यान देते हुए कि – "यदि हिन्दी की नई कविता को साहित्य के इतिहास मे, या यूँ कहिए कि संस्कृति के इतिहास में, कोई महत्वपूर्ण पार्ट अदा करना है, तो उसे काव्य की प्रवृत्ति तथा शिल्प में आत्मपक्ष और वस्तुपक्ष का समन्वय उपस्थित करना होगा।"[90]

इस प्रकार हम देखते है कि मुक्तिबोध जितने शुद्ध आत्मपरकता के खिलाफ थे, उतने ही कट्टर मार्क्सवाद से भी जो कही न कही शुद्ध वस्तुवादी अवधारणा का ही एक रूप है। मुक्तिबोध की पूरी समझ आत्मपरकता और वस्तुपरकता के आन्तरिक द्वन्द्व पर ही टिकी है, अगर ऐसा न होता तो वे "दर्शक के ज्ञान" और "भोक्ता की सवेदना" को परस्पर एक न समझते। काव्य की सम्पूर्ण रचना–प्रक्रिया मे – "भोक्तृत्व और दर्शकत्व का द्वन्द्व एक समन्वय मे लीन होकर एक–दूसरे के गुणो का आदान प्रदान करता हुआ"[91] ही आगे बढता है।

मुक्तिबोध के सौन्दर्य सम्बन्धी अवधारणा में एक अन्तर्विरोध भी दिखाई देता है, जब वे वस्तुतत्व को रूप के बदले उचित स्थान नही देते। उल्लेखनीय है कि वस्तु को ही रूप लेते हुए उन्होने कई लेखो मे दिखाया हे, लेकिन इस अश मे इस तथ्य का ठीक उल्टा दिखाई पडता है – "सभी तरह के अनुभूत वस्तु तत्व एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति शैली मे नहीं बाँधे जा सकते। यह तो कहने की बात है कि तत्व स्वयं ही अपना रूप ग्रहण करता है। सच बात तो यह है कि पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया में तत्व स्वय बदलने लगते हैं। यहाँ तक कि, प्रारम्भत जिस उद्वेगपूर्ण भाव को लेकर कवि लिख रहा था, कृति उस मूल भाव से दूर चली जाती है उससे भिन्न हो जाती है।"[92]

****

(घ) इतिहास और सांस्कृतिक बोध –

इस प्रकरण के माध्यम से नई काव्यधारा की परम्परा और इस परम्परा मे मुक्तिबोध की परम्परा की जाँच जरूरी हो जाती है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि – "आज की नई कविता के भीतर जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया लक्षित होती है, वह निःसन्देह छायावादी या प्रगतिवादी अथवा उसके पूर्व की काव्य–प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है।"[93] ऐसा कहके वे नई कविता को एक तरफ जहाँ छायावादी व्यक्तिवादी भावुकता से अलग करते है वही पर दूसरी तरफ प्रगतिवादी यांत्रिक विचारधारा से भी अलग करते है। प्रगतिवादी साहित्य के विषय मे बहुत से प्रगतिशील विचारको का मानना है कि उसमे केवल मानव की राजनैतिक चेतना का ही दर्शन मिलता है। अतएव प्रगतिवादी साहित्य को राजनैतिक जागरण से उत्पन्न होना, एक स्वाभाविक मान्यता है, इसके विपरीत मुक्तिबोध ने नई कविता को "एक सास्कृतिक प्रक्रिया" माना है, जिसमें जीवन के संस्कृति के तत्व, जिसमें से राजनीति भी एक है, बेमालूम तरीके से घुलेमिले हैं। मुक्तिबोध ने प्रगतिवादी साहित्य का जिन आधारों पर विरोध किया उसमें एक तरफ वे साहित्य को विशद्ध प्रचारात्मक बना देने के खिलाफ थे, दूसरी तरफ कही न कहीं वे यह भी मानते थे कि साहित्य को व्यापक मानवता के सवालो को भी समेटना है, तभी उसमें मानव के वैविध्यमय संसार की झाँकी पायी जा सकती है, यद्यपि साहित्य और राजनीति के विषय में, उसके अन्तःसम्बन्धो के बारे में, निर्भ्रान्त धारणा है कि – "एक कला सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन–दृष्टि होती है, उस जीवन–दृष्टि के पीछे एक जीवन दर्शन होता है, और उस जीवन दर्शन के पीछे, आजकल के जमाने में, एक राजनैतिक दृष्टि भी लगी रहती है।"[94] लेकिन वे राजनीतिक प्लेटफॉर्म को ही साहित्यिक प्लेटफार्म नहीं मानते, और न ही सामाजिक परिवर्तन के लिए मात्र राजनैतिक जागरण को जरूरत को ही अधिक महत्व देते हैं।

मुक्तिबोध ने छायावादी युग मे ही अपना सृजन शुरू किया और काफी समय तक उसी ढग की कविताए लिखते रहे, फिर वे प्रगतिवादी युग मे भी लेखन का मोर्चा संभाले रहे, लेकिन इसी समय उनकी कविताओ के विषय में "न समझ मे आने वाली" जैसे वक्तव्य पेश किए गए। इसका एक बडा कारण यह था कि उन्होने – "काव्य–जगत के आत्मिक क्षेत्र मे, प्रगतिवाद विशिष्ट यांत्रिक रूप से चलने वाले राजनैतिक – सामाजिक विचार भाव यान्त्रिक ओज और यान्त्रिक छन्द अस्वीकार कर दिए।"[95] लेकिन स्वयं अपनी रचनाओ को गूढ और जटिल वे नही समझते, इसका आधार मात्र, "निज कवित्त केहि लागि न नीका" ही नहीं है, बल्कि वह जनता है, जो "वायवयी आस्था मे वायवीय तरीके से, अपनी सुविधानुसार, विश्वास या अविश्वास नहीं करते, वरन मूर्त मानव–आस्था के मूल्यो के अनुसार कार्यों का संगठन करना चाहते है।"[96]

प्रगतिवादी काव्यधारा से पहले की काव्य–धारा अर्थात् छायावाद के विषय में उन्होने लिखा है कि – "संसार को जीवन–जगत् को देखने की छायावादी दृष्टि में हमे अतिशय भावुकता और आध्यात्मिकता के दर्शन होते है। छायावादी काव्य–दृष्टि भावुकता–प्रधान है, अत्यधिक भावुकता–प्रधान।"[97] दूसरी तरफ प्रगतिवाद के विषय में उनका विश्वास है कि – " प्रगतिवाद ने मनुष्य जीवन का केवल राजनैतिक पक्ष उठाया, उसने सम्पूर्ण मनुष्य को अपना काव्य–विषय नही बनाया।"[98] स्पष्ट रूप सें नई कविता के पहले वाली दोनो काव्य–दृष्टियाँ या तो भाववादी रूमानी थी अथवा मात्र राजनैतिक। इन दोनो ही स्थितियों की घातकता को मुक्तिबोध समझते हुए ही हिदायत के लहजे में नए कवि को सचेत सा करते हैं कि – "यदि इसी प्रकार नई कविता (निम्न प्रकार से) एकांगी हो जाती है तो उसके लिए यह कल्याण कर नही सिद्ध होगा।"[99] इसीलिए वे नई कविता में आत्मपरकता और सामाजिक समस्याओं के एकीकरण पर विशेष बल देते हैं। नई कविता को मुक्तिबोध ने जिन आधारों पर पूर्ववर्ती काव्य–परम्परा से अलग किया है, वे सूत्रवत इस

प्रकार से है –

(1) विषय–स्तर पर (2) शिल्प–स्तर पर

विषय के स्तर पर वे वस्तु–चयन, समाज से क्रिया–प्रतिक्रिया, उसके फलस्वरूप द्वन्द्व अथवा सामञ्जस्य तथा विचारधारा को महत्व देते हैं। जबकि शिल्प–स्तर पर वे कला के बाह्य तत्वो, मसलन, कला का रूप, उसकी भाषा तथा छन्द पर विचार करते है। नई कविता मे आत्मपरकता को वे अत्यधिक महत्व देते हे, लेकिन यह आत्मपरकता छायावादी आत्मपरकता का पर्यायनही है, बल्कि इसका आधार है बाह्य के प्रति, कवि–परिवेश के प्रति सजग आत्मचैतन्यता, नया कवि बाह्य के प्रति सवेदनशील है। इस सवेदना को वह आत्मपरक रूप से प्रकट करता है।

वैचारिक स्तर पर मुक्तिबोध की मान्यता है कि नई कविता को विरासत के तौर पर कोई ऐसी वैचारिक पद्धति नहीं मिली जो "जीवन को विद्युन्मय कर दे"[100] यद्यपि यह सही है कि नए कवि के पास कोई सर्वांगीण दार्शनिक विचारधारा नही है, किन्तु अपने जीवन की और परिवेश की वास्तविकता से अनभिज्ञ भी नही है। सामाजिक परिस्थितियों और उसकी पेचीदगियों से उसका दिन–प्रतिदिन का साथ है, अत यह मानने का कोई आधार नही कि बगैर किसी दर्शन के वैज्ञानिक जीवनदृष्टि के, दु.ख अथवा सुख का अनुभव नही किया जा सकता। सवेदननशील मनुष्य होने के नाते मानव के कष्टपूर्ण जीवन का उन पर प्रभाव अवश्य पडता है। विषमता तथा अन्याय के प्रति उनका रोष काल्पनिक नही है बल्कि उसका आधार है परिवेश और परिस्थिति की जीवन्त सच्चाइयाँ।

इस जीवन्त सच्चाइयो को और व्यापक धरातल प्रदान करने के लिए मुक्तिबोध एक वैज्ञानिक जीवन–दृष्टि की आवश्यकता महसूस करते हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि जीवन–जगत् के ज्वलत सवालो को अमूर्त मानवतावादी दर्शन से नही हल किया जा सकता, भले ही लेखक वैयक्तिक स्तर पर समाज के शोषकों और उत्पीड़को के विरूद्ध, तथा विषम सामाजिक

स्थिति के भीतर गरीब मध्यवर्गीय जनता से लगाव ही क्यो न हो।

मुक्तिबोध ने साफ तौर पर नई कविता मे भी दो दल होने की बात स्वीकार की है, एक लोकविरोधी जो अपना चितन पश्चिम की ह्रासोन्मुखी विचार पद्धति से ग्रहण करते है, दूसरे जनवादी जिनकी जनवाद की धारणा प्राय अमूर्त है इसी अमूर्त धारणा की भरपाई किस वैज्ञानिक आधार पर हो, यह चिता मुक्तिबोध को अपने पूरे लेखन काल मे रही। जब वे लिखते है कि – "दिवसानु दिवस समाज और सभ्यता के प्रश्न विकट हो रहे है। नयी कविता उन प्रश्नो से बच नही सकती, न वह बची ही है।"[101] तो वे अपनी विचार धारा को उस प्रगतिवादी विचारधारा के अनुरूप पाते है, जिसमे लेखक के सामाजिक उत्तरदायित्व को बहुत महत्व दिया जाता है। कहने की आवश्यकता नही कि उक्त वैज्ञानिक विचारधारा मार्क्सवाद थी।

भाषिक परम्परा के रूप मे छायावादी जमाने मे ही काव्य भाषा के दो स्तर विद्यमान थे, पहली वह जो लाक्षणिक और अलकरण प्रधान थी। दूसरी भाषा थी जो पद्याभास गद्य के अधिक नजदीक थी। नव्य काव्य धारा ने दूसरी प्रकार की भाषा का ही चुनाव किया, कारण यह कि "सवेदनात्मक प्रतिक्रियाय जो मन मे उठती हैं, वे किसी काव्य–भाषा के वस्त्र पहनकर नही आती।"[102] सामान्य बातचीत की शब्दावली भी ग्रहण की गई शर्त यह थी वे काव्यात्मक अर्थद्योतन की क्षमता रखते हो।

कविता के सन्दर्भ मे इतिहास और सास्कृतिबोध की बात की जाय, उसकी परम्परा की बात की जाय तो टी एस इलियट के निबन्ध "ट्रेडिशन एण्ड इन्डिविजुवल टैलेण्ट" की बात न की जाए तो चर्चा अधूरी सी जान पड्ती है। जिसके विषय मे उनके महत्वपूर्ण निष्कर्ष इस प्रकार से हैं –

(क) परम्परा केवल विरासत अथवा मृत इतिहास का ही नाम नही है, बल्कि यह एक जीवन्त प्रणाली है जो संघर्ष से प्राप्त होती है।

(ख) परम्परा और इतिहास काव्य के आधारभूत हैं। इसलिए परम्परा किसी देश की अखण्ड सास्कृतिक चेतना है। कवि अपने समसामयिक सन्दर्भों मे परम्परा का पुनर्सजन करता है, और इस प्रकार सृजनात्मक का नाम है परम्परा को युगीन सन्दर्भों मे विकसित करने की प्रक्रिया।

(ग) परम्परा अपने पूर्ववर्तियो की उपलब्धियो से अभिभूत होकर सास्कृतिक अन्धानुकरण का नाम नही है। इस पुनरावृत्ति की अपेक्षा काव्य की नवीनता अच्छी है, लेकिन इस नवीनता को परम्परा के परिप्रेक्ष्य मे ही मूल्याकित किया जाना चाहिए।

(घ) कोई भी कलाकृति अपने आप मे महत्वपूर्ण नही हो सकती और न ही अपनी अर्थवत्ता सिद्ध कर सकती है। वास्तव में किसी भी कृति का समुचित मूल्याकन परम्परा के अभाव मे नहीं हो सकता। उस पर पहले महत्वपूर्ण कृतियो के साथ उनके अनुक्रम पर भी विचार किया जा सकता है।

(ड) प्रत्येक नई रचना परम्परा के अनुक्रम मे ही होती है, किसी नई रचना के आ जाने से पहले का अनुक्रम परिवर्तित होते हुए ही पूर्ण हो सकता है।

और इसलिए अतत जिस काव्यात्मक निष्कर्ष पर पहुँचे वह . "किसी अधिक मूल्यवान वस्तु के लिए कवि को अनवरत आत्म समपर्ण करना चाहिए। कलाकार की प्रगति एक अनवरत आत्म बलिदान है व्यक्तित्व का अनवरत विनाश।"[103] अपने इसी निबन्ध में उन्होने प्रसिद्ध निर्वेयाक्तिकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, लेकिन व्यावहारिक तौर पर कलापरक व्यक्तिहीनता कितनी असभव जान पडती है, इसका गवाह अपने युग सन्दर्भों से जुड़े साहित्यिको का साहित्य है।

असल मे इलियट की यह काव्यात्मक समझ उस कलावादी सम्मेलन से प्रसूत है, जिसमें परिवेश, कवि-जीवन, के वैयक्तिक

अनुभवो को आत्मपरकता के नाम पर काट कर फेक देने का प्रस्ताव है। "इन्टीविजुवल टैलेण्ट" के विषय मे इलियट का कहना है कि, "इसके अन्तर्गत हम किसी कवि की रचना के उन पक्षो की प्रशसा करते है। जिसमे उसकी दूसरो की अपेक्षा सबसे कम समरूपता होती है। उसकी रचना के इन पक्षो मे या अशो मे हम वह चीज ढूढते है जो व्यक्तिगत है जो उस मनुष्य का वैयक्तिक सार है।"[104] लेकिन जिन्होने काव्य को एक सास्कृतिक प्रक्रिया मानते हुए भी एक आत्मिक प्रयास माना हो, भाववादी चेतना, विचार, मन, आत्मा को प्राथमिक महत्व न दिया हो, वह स्वाभाविक तौर पर यह मानेगा कि – "काव्य प्रक्रिया मे जो सास्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते है, वे व्यक्ति की अपनी देन नही, समाज की या वर्ग की देन हैं।"[105]

मनुष्य के वैयक्तिक अनुभवो का कलात्मक योगदान क्या है, बकौल इलियट – "वे अनुभूतियाँ और अनुभव जो मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण होते है, उनका मनुष्य के जीवन मे नगण्य स्थान होता है।"[106] कहने की आवश्यकता नही कि यह सिद्धान्त कला–सौन्दर्य की उस धारणा के काफी नजदीक हैं, जिसमें कलात्मक सौन्दर्य को जीवन–सौन्दर्य से अलगा कर समानान्तरता की निगाह से देखे जाने का उपक्रम है। स्पष्ट रूप से मुक्तिबोध की परम्परा यह नही है जिसमे मनुष्य जीवन, उसके अनुभवो को कला की वेदी पर कला के नाम पर बलि दी जाती हो। उन्होने स्पष्ट रूप से माना है कि उनकी परम्परा साहित्य की उस प्रगतिशील परम्परा से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी है, जो नया कविता तक चली आई है।

मुक्तिबोध ने नयी कविता को सामने रखने मे कोई हिचक नही महसूस की। इस दृष्टिकोण से उनका यह वक्तव्य ऐतिहासिक महत्व का है जिसमें वे बताते हैं कि – "नई कविता के क्षेत्र मे भी दो दल तैयार हो रहे हैं, एक दल वह है जो उच्च मध्यवर्ग का अग है, दूसरे वे है जो निचले गरीब मध्यवर्ग से सम्बन्धित है। उनकी वर्गीय प्रकृत्तियाँ न केवल

उनके काव्य मे वरन् साहित्य सम्बन्धी उनके सिद्धान्तो मे परिलक्षित है।"[107] इस प्रकार मुक्तिबोध को साहित्य की उस त्रिकोणीय परम्परा का विरोध करना पडा जिसमे एक कोण छायावादी भावुकता का था, दूसरा कोण प्रगतिवादी यान्त्रिक विचार और शिल्प का था, तथा तीसरा कोण स्वयं उनके ही दल के लोक विरोधी, जन–विरोधी थी, साहित्यिक मानदण्डो का था।

मुक्तिबोध ने नव्य काव्य धारा की मुख्य प्रवृत्ति – "तनाव" को लक्षित करते हुए लिखा है कि – "आज का कवि अपनी बाह्य स्थिति परिस्थितियो और अपनी मन स्थितियो से न केवल परिचित हैं वरन् अपने भीतर वह उस तनाव का अनुभव करता है जो बाह्य पक्ष और आत्म पक्ष के द्वन्द्व की उपज है।"[108] "तनाव" की इस साहित्यिक अवधारणा का श्रेय "एलन टेट" को जाता है, जिन्होंने टी एस इलियट के सूत्र "डिसोसियेशन ऑफ सैंसिबिल्टी" (सवेदना की विच्छिन्नता) को आधार बना कर उसके कारक तत्व की व्याख्या की। एलन टेट ने इस "तनाव" को लेखक के "अभिप्राय" (इंटेशन) और इस इंटेन्शन के प्रसार (एक्सटेन्शन) के द्वन्द्व से उत्पन्न माना है। मुक्तिबोध ने "अभिप्राय" के अनतर्गत ही बुद्धि और हृदय दोनों को समन्वय पर बल दिया है, जिसका प्रमाण उनके द्वारा सृजित पद "सवेदनात्मक – ज्ञान" है। लेकिन इस सवेदना के ग्रहण और उसको सम्प्रेषित करने की जो पेचीदगियाँ हैं वह कवि को तनावग्रस्त बनाती है। मुक्तिबोध के साहित्य–चितन मे तनाव का एक रूप दृष्टव्य है – "हिन्दी के वर्तमान काव्य–साहित्य के प्रति कुछ लोगों को जो असन्तोष है, उसे देखकर यह कहना पड़ता है कि यह असतोष इसलिए है कि काव्य मे जो कुछ वे कहना या देखना चाहते हैं, वह प्रकट नहीं होता या नही हो पाता। कोई चीज़ कही खो गई है, गुम गयी है। जो बुनियादी है, बुनियादी होकर सताती है, वह नही मिल पाती। × × × × × × × × × इसीलिए कुछ लोग "खोज" पर विश्वास करते हैं। सतत् अन्वेषण सतत् अनुसंधान के पथ का नाम लेने वाले लोग कम नही।"[109]

यह "तनाव" जिन रूपो मे नई कविता मे प्रकट है वे निम्न हैं –

(क) प्रणय जीवन मे (ख) अपूर्तिग्रस्त व्यक्ति मानस के सामाजिक पक्ष को लेकर प्रकट होता है। (ग) आत्मालोचन के स्वर मे (घ) प्रकृति रमणीयता मे उदास भावो के आरोप द्वारा।

मुक्तिबोध ने साहित्य–विवेक और जीवन–विवेक मे से मुख्य जीवन–विवेक को माना। इस जीवन–विवेक को वे अन्यत्र "जीवन–दृष्टि" जीवन–ज्ञान और मूल्य–भावना भी कहते है। यह "विवेक" जितना जरूरी है कवि की मानसिक प्रतिक्रिया के विश्लेषण के लिए उतना ही जरूरी है साहित्य को उसकी पूरी पारम्परिक विरासत मे सहेजने के लिए भी। जब हम मुक्तिबोध को निराला, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, कबीर की परम्परा का कवि मानते हैं तो इसका मतलब यह नही कि केवल चार–पाँच लोगो के द्वारा ही हिन्दी–साहितुय का इतना बड़ा कृतित्व खडा किया गया है। बल्कि उस समूची साहित्यिक परम्परा को भी ध्यान रखते हैं, जिसमे भक्तिकालीन कवि, रीतिकालीन कवि, छायावादी, प्रयोगवादी आदि–आदि लोग भी है। ये सब हिन्दी कविता के अनिवार्य अभिन्न अंग है, लेकिन मूल्याकन करते समय सभी रचनाओ और कवियो को एक समान स्थान देना न ही संभव है और न ही श्लघनीय। जब कबीर की तुलना मे तुलसी को "प्रतिक्रियावादी" कहा जाता है तो इसका अर्थ सम्पूर्ण रूप से उनको अमातिक घोषित करना नहीं है, वरन् उनके अन्तर्विरोधो को विवेक सम्मत आलोचना के द्वारा सामने ले आना है।

तमाम आलोचकों की राय है कि मुक्तिबोध और अज्ञेय की आलोचना "पॉलिमिक्स" की उपज है लेकिन स्वय मुक्तिबोध की धारणा क्या थी "अज्ञेय" के प्रति, उन्हीं के शब्दों में – "अज्ञेय, भारत की विकसिनशील संस्कृति के मुख्य अंगों में से एक अंग, अर्थात् कर्मण्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दुस्तान की बलवान आत्मा यदि दर्शन, कविता

विज्ञान को उपलब्धि के लिए पोषक समझती है, तो कर्म को भी महत्व देती है। आधुनिक सास्कृतिक उत्थान के लिए कर्म भी उतना ही अपरिहार्य है जितना कि बौद्धिक और भावनात्मक पक्ष। सम्पूर्ण विकास को दृष्टि मे रखते हुए हमे "अज्ञेय" की तेजस्विता सुन्दर परिणाम के लिए सहायक प्रतीत होती है।"[110] ध्यान मे रखना है इस रचना का रचनाकार, जो कि सम्भावित तौर पर 1940–41 दी गई है। लेकिन "अज्ञेय" की तेजस्विता सुन्दर परिणाम देने के लिए कितनी सहायक हुयी, यह भी मुक्ति बोध ही बताते है कि – "तार सप्तक के प्रकाशन (सन् 1943) तक उसके चार कवि प्रगतिवादी (थे) और दो कवि प्रगतिवाद से प्रभावित हुए। केवल एक श्री अज्ञेय प्रगतिवादी न हो सके।"[111]

मुक्तिबोध के सामने अपनी विरासत को लेकर दो चुनौतियाँ थी –

(क) साहित्यिक विरासत की प्रगतिशील परम्परा को विकसित करने की,

(ख) प्रगतिशील साहित्यिकों द्वारा समाज में मानव को मनुष्योचित जीवन प्राप्त कराने सम्बन्धी मुहिम को आगे बढ़ाने की।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त दोनो ही कार्यों को उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से एक नवीन दिशा दी यही कारण है कि छायावादी रचना संसार मे जो स्थान निराला को प्राप्त है, हिन्दी नई कविता मे वही स्थान मुक्तिबोध को देना होगा।

xxxxxxxx

सन्दर्भ

अनुक्रम	लेखक/संपादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ संख्या
1	गजानन माधव मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली–5	90
2	उप0	उप0	91
3	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग–1	195
4	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	8
5	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	241
6	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	14
7	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	106
8	उप0	चाँद का मुँह टेढा है	282
9	उप0	उप0	259
10	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	103
11	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग–1	198
12	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली–5	88
13	डॉ0 रामविलास शर्मा	प्रेमचन्द और उनका युग	131
14	मुक्तिबोध	चाँद का मुँह टेढा है	68
15	उप0	उप0	209
16	उप0	उप0	130
17	सं0 अशोक बाजपेई	प्रतिनिधि रचनाए . मुक्तिबोध	49
18	उप0	उप0	36
19	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	3
20	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	109
21.	उप0	चाँद का मुँह टेढा है	82
22.	उप0	उप0	291

अनुक्रम	लेखक/सपादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ संख्या
23	मुक्तिबोध	चाँद का मुँह टेढा है	265–66
24	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	109
25	उप0	उप0	22
26	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	115
27	स0 डॉ0 निर्मला जैन	नई समीक्षा के प्रतिमान	6
28	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध	
29	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली–5	107
30	उप0	उप0	21
31	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली–5	108
32	उप0	उप0	108
33	डॉ0 रामविलास शर्मा	प्रेमचन्द और उनका युग	122
34	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली–5	270
35	उप0	उप0	273
36	बाबू गुलाबराय	सिद्धान्त और अध्ययन	253
37	उप0	उप0	255
38	डॉ0 नामवर सिह	कविता के नए प्रतिमान	211
39	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबंध	110
40.	उप0	उप0	114
41	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	102
42	उप0	चाँद का मुँह टेढ़ा है	287
43	डॉ0 नामवर सिह	कविता के नए प्रतिमान	247
44	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध	65
45	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	431
46	उप0	नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध	67

47	डॉ0 राम विलास शर्मा	नई कविता और अस्तित्ववाद	32
48	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली–5	338
49	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	31
50	उप0	उप0	31
51	उप0	उप0	33
52	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	355
53	उप0	उप0	355
54	उप0	उप0	357
55	उप0	उप0	425
56	उप0	उप0	425
57	उप0	उप0	427
58	उप0	उप0	410
59	उप0	उप0	409
60	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	106
61	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	409
62	उप0	उप0	362
63	उप0	उप0	362
64	उप0	उप0	412
65	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	105
66	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	108
67	डॉ0 नामवर सिह	कविता के नए प्रतिमान	94
68	ग0मा0 मुक्तिबोध	कामायनी एक पुर्नविचार	9
69	उप0	उप0	103
70	सं0 डॉ0 निर्मला जैन	नई समीक्षा के प्रतिमान	11
71.	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	162
72	अज्ञेय	आत्मनेपद	169
73	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध	176
74	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	91–92

अनुक्रम	लेखक/सपादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ संख्या
75	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	17
76	उप0	उप0	116
77	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	164
78	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	22
79	उप0	कामायनी एक पुनर्विचार	10
80	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	165
81	आचार्य राम चन्द्र शुक्ल	चितामणि भाग–1	113
82	उप0	उप0	195
83	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली–5	165
84	अज्ञेय	शेखर एक जीवनी	07
85	मुक्तिबोध	मुक्तिबोध रचनावली–5	262
86	उप0	उप0	263
87.	उप0	नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध	166
88	उप0	नई कविता का सौन्दर्यशास्त्र	166
89	डॉ0 अशोक चक्रधर	मुक्तिबोध की समीक्षाई	114
90.	मुक्तिबोध	एक साहित्यिक की डायरी	109
91	उप0	एक साहित्यिक की डायरी	23
92	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	348
93	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	11
94.	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	332
95	उप0	उप0	108
96.	उप0	उप0	108
97	उप0	उप0	345
98	उप0	नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध	19

अनुक्रम	लेखक/संपादक	सन्दर्भ ग्रन्थ	पृष्ठ सख्या
99	गजानन माधव मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	19
100	उप0	उप0	108
101	उप0	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	13
102	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	344
103	अनुवादक डॉ0 ओम अवस्थी	इलियट का काव्यशास्त्र	103
104	उप0	उप0	100
105	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	19
106	अन0 डॉ0 ओम् अवस्थी	इलियट का काव्यशास्त्र	106
107	मुक्तिबोध	नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध	15
108	उप0	उप0	12
109	उप0	मुक्तिबोध रचनावली–5	346
110	उप0	उप0	280
111	उप0	उप0	318

xxxxxxxxxx

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी आधुनिक काव्य धारा के बहुत से कवियो की भाँति मुक्तिबोध का रचनाकाल भी एक साथ तीन–तीन स्थानो तक फैला है। छायावाद का सम्पूर्ण प्रकाश उनकी आँखो के सामने फैला। लेकिन वे कभी पूरी तरह छायावादी नही हो सके। प्रगतिवाद का अभ्युत्थान उन्होने देखा, प्रगतिवादी जीवन मूल्यो के सामाजिक प्रसार मे उनका योगदान स्पृहणीय रहा लेकिन उन्होने नई कविता के सन्दर्भ मे प्रगतिवादी कविता और आलोचना दोनो की ही जोरदार आलोचना की। प्रयोगवाद और नई कविता को वे पूरक ही मानते रहे अत मुख्य रूप से उनकी जमीन नई कविता वाली ही है। यह ठीक है कि मुक्तिबोध ने छायावादी कल्पना प्रवणता और रूमानियत की जी खोलकर आलोचना की, प्रगतिवादी यांत्रिक, छन्द, ओज तथा यांत्रिक रूप से चलने वाले उसके राजनैतिक–सामाजिक विचार भाव को भी उन्होंने खारिज किया, प्रयोगवाद में वे भाषा के स्तर पर प्रयोग कर्मी न होकर विषय के स्तर पर प्रयोग धर्मी हुए, बावजूद इन सारी विशेषताओं के मुक्तिबोध ने अपने सृजन में इन तीनों ही वादों से महत्वपूर्ण चीजो का ग्रहण किया। मसलन, छायावाद से उन्होंने अनुभूति, आत्मपरकता और रूमानियत, प्रगतिवाद से मार्क्सवादी दर्शन का ग्रहण करते हुए नई कविता के लिए वस्तुपरकता और आत्मपरकता के परस्पर समन्वय की बात की है। इन सारे समन्वयो के पीछे साहित्य के एकांगीपने से होने वाली हानियो का ही प्रभाव था। क्योंकि प्रगतिवादी साहित्यकारो में जिस तरह से सामाजिक राजनैतिक विचार धारा का प्रचार साहित्य के माध्यम से किया उससे कला के प्रति सर्वत्र गैर जिम्मेदाराना भाव ही प्रदर्शित हुआ। छायावादी कवियों ने कल्पना और रूमानियत को जिस तरह से काव्य स्थान प्रदान किया उसमें विभाव पक्ष की शून्यता आ गयी। मुक्तिबोध ने इन सारी साहित्यिक कमियों को बहुत गहरे महसूस करते हुए एक ऐसे साहित्य की कल्पना जिसमे समग्र मानवीयता और मानव सम्पूर्णता का कलात्मक एहसास निहित हो।

मुक्तिबोध का रचना–काव्य स्वय उनके अनुसार सन् 1936 से शुरू होता है, लेकिन उनकी तब की रचनाओं की कोई नोटिस नहीं ली गई। एक गुमनाम सा लेखक एक गुमनाम सी जगह पर उस समय की काव्यधारा 'छायावादी' शैली मे

रचनाए करता रहा। नोटिस लिया गया 'तारसप्तक' के सम्पादनोपरान्त। यो तो हरेक कवि ही सवेदना और सहानुभूति का सागर होता है, लेकिन मुक्तिबोध मे यह मात्रा अतिवाद को छूती थी: जिसके चलते वे हिन्दी के 'दूसरे निराला' कहलाए। ऐसा नही है कि जिस सामाजिक सत्रास, गरीबो के जीवन और राजनीतिक भ्रष्टाचार को मुक्तिबोध ने महसूस किया, और कवि न कर सके हो। किया उन्होने भी होगा लेकिन उन सकटो के प्रति किसी गहरी बेचैनी का भाव समकालीन कवियो मे उस मात्रा मे नही मिलता जितनी मुक्ति बोध मे। 'तारसप्तक' के काव्य मं ही उन्होने जिस परिवेश ओर परिस्थिति को अपने इर्द–गिर्द पाया वह नितान्त कण्ठरोघक था। किन्तु आगे चलकर परिस्थिति और भी बिगड गई। अवसरवादी सामञ्जस्य का स्वभाव मुक्तिबोध का कभी नही रहा, जिससे यह निजी सकट और भी गहरा गया। सन् 48 से लेकर सन् 1952–53 के कालखण्ड को उन्होने 'अन्घकार युग' के रूप मे लक्षित किया है। जिसमे मानव सम्बन्ध गठीले और उलझ गये थे। छोटी–छोटी और तुच्छ सी बातो पर हृदय विदारक सघर्ष होते जा रहे थे, ठीक इसी समय से उनकी कविताओ का रग स्याह होता गया। जो अनुभव इस बीच कवि को हुए उनको कतई नहीं होना था। मुक्तिबोध की सारी 'इमेजरी' का प्रस्थान बिन्दु यही काल है।

मुक्तिबोध मूलत हैं। लेकिन कविता के अलावा भी उन्होने बहुत सा रचनाकर्म किया। इस सृजन मे कुछ लेख नई कविता आन्दोलन को, उसकी पृष्ठभूमि को विश्लेषित करने वाले हैं। कुछ निबन्ध समकालीन कवियो की कृतियों पर समीक्षाएं है। बहुत सा लेखन उन्होने स्वतन्त्र पत्रकार की हैसियत से किया। पुस्तकाकार उनकी मात्र दो ही किताबे मिलती हैं, एक भारत इतिहास और सस्कृति, दूसरी कामायनी एक पुनर्विचार। इन सारे सृजनकर्म मे कविता के अलावा जो फुटकल निबन्ध अति महत्व के है, उनमें 'रचना–प्रक्रिया' को विश्लेषित करने मे लिखे जाने वाले लेख हैं। हुआ यो कि मुक्तिबोध ने जो कविताएं लिखी वह शिल्प के स्तर पर 'फँटेसी' थी जिसके अर्थ सधान के लिए 'भावयित्री प्रतिभा' का होना अपरिहार्य है। कविताओ अथवा कला को न समझना एक प्रकार

की सवेदनहीनता का परिचायक है, वही यह बात कवि को बराबर उद्वेलित करती है कि उसकी रचना का जो मनमाना अर्थ किया जा रहा है उसे उसकी वास्तविक अर्थोत्पत्ति तक पहुँचाना। सवेदनहीनता और भावयित्री प्रतिभा के अभाव में कवि ही एक मात्र विकल्प बचता है जो कविताओ की व्याख्या का सूत्र प्रदान करे। मुक्तिबोध नई कविता से तो जुड़े ही थे, रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण द्वारा उन्होने न केवल इस आन्दोलन के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया बल्कि अपनी रचनाओ के शिल्प और कथ्य निरूपण के लिए भी बहुत से सूत्र फेके। यदि यह कहा जाय कि मुक्तिबोध के सारे महत्वपूर्ण लेख रचना–प्रक्रिया से ही कही न कही जुड़े है तो, अतिशयोक्ति नही होगी।

मुक्तिबोध हिन्दी के पहले ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने पौराणिक आख्यान का एक झीना सा सूत्र भी अपनी कविताओं के कथानक मे नहीं ग्रहण किया। इससे पहले हिन्दी में जो भी लम्बी कविताएं लिखी गई उनका देशी–विदेशी कुछ न सन्दर्भ अवश्य रहा है। इसीलिए उनकी कविताएं स्वय उन्हीं के शब्दों में 'आत्म–संभवा' हैं। कवि ने अपनी रचनाओ में प्राय. आस–पास के जीवन्त–परिवेश का ही चित्रण किया है, जिसमें एक हद तक उनका आत्मिक संस्पर्श भी है। कथानक के निर्माण में व्यक्तिमन तथा समष्टिमन के द्वन्द्व और उसके तनाव को आधार बनाया गया है। जाहिरा तौर पर जिन कविताओं का कोई ऐतिहासिक और पौराणिक सन्दर्भ न हो, उसके अर्थ संधान में कठिनाइयों का आना स्वाभाविक है। बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों का अर्थ जिस तरह से पौराणिक ऐतिहासिक कथानकों को आधार बनाकर रची जाने वाली कविताओं में खुलता है, वैसा मुक्तिबोध की कविता में नहीं। मुक्तिबोध की कविता को व्याख्यायित करने के लिए जन–जीवन और उसकी कठिनाइयों, उसकी आकांक्षा तक को जानना होगा। यद्यपि इन सारी वास्तविकताओं को निरूपित करने के लिए उन्होंने निश्चित ही दुरूह शैली को चुना। "कथानक यद्यपि ऊपर–ऊपर देखने पर एक माया लोक का आभास देता है, लेकिन उस मायालोक में 'बहुत प्यारी मानवी अन्त कथाओं की व्याख्या ही निहित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कविता की वास्तविकता को तभी जाँचा जा

सकता है जब उस बाह्य मायालोक का भेदन हो सके।

मुक्तिबोध लम्बी कविता के शिल्पकार है। जिसमे कविता मे समाहित कथा–तन्तु का अप्रतिम महत्व है। और यह आकस्मिक नही कि कविताओं के कथानक को बढ़ाने मे जितना महत्व वर्णन का है उतना बिम्बो का नही। इस वर्णनात्मकता की वजह से ही मुक्तिबोध की भाषा जितनी 'लिरिकल' नही है उतनी गद्यात्मक है। पचास के दशक मे नव्य समीक्षा का जब अमरीका के ही नव अरस्तूवादियो ने विरोध शुरू किया तो उस विरोध के मूल में लम्बी कविताओ की कथानक संरचना की समस्या ही रही है। एलन टेट ने तो पचास के दशक के पहले ही यह घोषित किया था कि लम्बी कविता की समस्या कुछ अलग किस्म की होती है जैसा कि छोटी कविता या प्रगीत जिसमे बिम्बो के सहारे कथन की मितव्ययिता की बात की जाती है, उसी कलात्मक स्फीति के सवाल को मुक्तिबोध ने 'फैंटेसी' के द्वारा हल किया।

मुक्तिबोध का समग्र साहित्य सृजन और चिन्तन विरुद्धो की एकता पर टिका है। इन विरुद्धों की एकता में, हृदय के साथ बुद्धि भाव के साथ विचार आत्मपरकता और वस्तुपरकता, आत्मचेतस् ओर विश्वचेतस्, आत्मलोचन और समाजालोचन, घनघोर अंधकार के बीच उम्मीद की एक झीनी किरण, अनुभूति–विचार, आवेश और संयम, स्थूल और सूक्ष्म आदि जाने कितने परस्पर विरोधी ऐक्य समाहित हैं। विरोधों की इस आकस्मिक एकता के कारण ही उनका सृजन परस्पर खण्डित सा लगते हुए भी अपने आंतरिक कलेवर मे अखंड और एकतान है। उनकी कविताओं को पढ़ते हुए उसमे कहानीपन का आनन्द, नाटकीयता और पात्रों के द्वन्द्व को भी गहरे महसूस किया जा सकता है।

मुक्तिबोध कला को उसके किसी भी एकांगीपन में नही ग्रहण करते। ऐसे लेखकों से उनका घनघोर विरोध है जो भाव और भाषा की सफाई के नाम पर एक दूसरे को खारिज करते हैं। मुक्तिबोध भोक्तामन के वस्तु तत्वों से भागते नहीं, बल्कि उसे एक गरिमा प्रदान करते हैं। उन्होंने अपने लेखो में साहित्य के ऐसे आलोचकों को नकार दिया जो 'समुद्र दर्शन' के नाम पर 'लहरों के गिनने में

विश्वास करते हैं। क्योंकि बगैर जीवन को उसकी समग्रता में जाने, उसकी हैरतनाक सच्चाइयो को समझे, उस तिक्त यथार्थ की व्याख्या या तो हवाई होती है अथवा सतही। इसीलिए वे लेखक से अधिक आलोचक को जीवन के रूबरू होना जरूरी मानते है।

मुक्तिबोध ने वास्तविकता के चित्रण के लिए जो शैली अपनाई वह भाववादी रूमानी है। 'फैटेसी' को एक तरह से 'अभिजात्य शिल्प' भी कहा जाता है। इस शिल्प को भाववादी विचारकों के ही अधिक अनुकूल समझा जाता रहा, लेकिन मुक्तिबोध जैसे प्रतिबद्ध मार्क्सवादी विचारक के हाथो पडकर यह मानव वैविध्य को चित्रित करने का एक माध्यम बना। मुक्तिबोध के लिए 'फैटेसी' केवल शिल्प मात्र नही है बल्कि कला का एक प्रकार है जैसे, प्रबध मुक्तक अथवा लम्बी कथानक कविताए। कारण यह कि जिन कवियों ने इतिवृत्त अथवा पौराणिक कथाओं को कविता का आधार बनाया है, उसमें फैंटेसी का प्रयोग शैल्पिक स्तर पर माना जा सकता है। लेकिन जिन कविताओ मे 'फैंटेसी' का ही सृजन हो वह शिल्प से आगे निकलकर कलात्मकता का पर्याय हो जाती है। कहने की आवश्यकता नही कि कला के अन्य अनुषंग, बिम्ब, प्रतीक, मिथक आदि का जो प्रयोग कवि ने किया है वह 'फैंटेसी' के अनुकूल ही है। एक तरह से 'फैंटेसी' को साकार करने में इनका अहं रोल होता है।

सवाल उठता है कि मुक्तिबोध ने यह शिल्प क्यों चुना? दरअसल इसका बड़ा कारण यह है कि कवि ने मानव-जीवन को उसके समस्त परिवेश, परिस्थिति से आवयविक रूप से सम्बद्ध करके देखने का जो उपक्रम किया है वह एक बिम्ब दो मिथक या चार प्रतीकों के माध्यम से नहीं व्यक्त हो सकता। इसीलिए वे इस जरूरत को पूरा करने के लिए एक ऐसे शिल्प को ईजाद करते हैं, जो कवि के संश्लिष्ट वास्तव को सम्प्रेषित कर सके। इस शिल्प के अन्तर्गत निजी मन की बातों को असंदिग्ध रूप से संप्रेषित किया जा सकता है। जिसे आधुनिक शब्दावली में 'यूटोपिआ' कहा जाता है उसको भी यह शैली बखूबी वहन कर सकती है। लेकिन इतना ही नहीं विचार है कि मुक्तिबोध का, फैंटेसी की असंगतियों की ओर भी उन्होंने संक्षिप्त संकेत किया है।

अपनी पूरी साहित्यिक समझ मे मुक्तिबोध भोगे गए यथार्थ अर्थात् 'भोक्ता मन' को बहुत अधिक महत्व देते है। लेकिन उनका साहित्य भोक्ता के अनुभवों का ही मात्र निजी दस्तावेज न बन जाय, इस कलात्मक असगति को मुक्तिबोध ने बराबर महसूस किया। कला का सौन्दर्य भी बरकरार रहे अर्थात् वह कला के रूप मे ही व्याख्यायित की जाय, समझी जाय न किसी कवि की निजू बातो के रूप मे, और कवि के अनुभवो का वैविध्य भी झलके। कहने की जरूरत नही कि दोनो ही चीजो को उनका सृजन वहन करता है। इस समन्वय का आधार निश्चित ही 'फैंटेसी' है।

जैसा कि मैने शुरू मे ही कहा है मुक्तिबोध मूलत कवि है आलोचक नही। आलोचना का कार्य तो उन्होने तात्कालिक आलोचको की उपेक्षा और अपनी रचनाओं को समझाने के निमित्त ही किया है। इस आलोचना कर्म में उनका व्यक्तित्व एक ऐसे सहृदय विचारक का है जो लेखक का न केवल दोस्त है बल्कि पथ–प्रदर्शक भी है। उनका आलोचना कर्म भी उनके साहित्य की ही तरह जीवन से ही नि सृत है। वे 'साहित्य विवेक' तथा 'जीवन विवेक' मे जीवन–विवेक को प्रथम स्थान देते हैं। कई बार उनके गद्य लेखों को देखकर यह महसूस होता है कि वे कविताओं के ही गद्यात्मक रूपान्तर हैं। कई वैचारिक चिन्तन के लेखों में भी यही बात कमोवेश रूप से विद्यमान है। दरअसल इसका एक बड़ा कारण यह है कि जिस जिन्दगी ये कविताएं उमग कर जन्म पाती हैं वहीं से चिन्तन धारा का भी प्रस्फुटन होता है।

मुक्तिबोध के आलोचन कर्म की सबसे बड़ी विशेषता है, तथ्यों की अनदेखी न करना, उस पर किसी जमे जमाए सिद्धांत जिसे वे जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि से नि सृत मानते हैं, को साहित्य के विवेचन मे न थोपना। वे सहज जीवन और उसकी चैतन्यता के कायल थे। बनावटीपन चाहे वह कला के क्षेत्र में हो अथवा जीवन में उन्हें कभी स्पृहणीय नहीं रहा। साहित्य में कलात्मक फ्राड की बात वह यूँ ही उठाते, बल्कि उसका एक आधार है और वह आधार है, लेखक होने का बोध और उसकी जिम्मेदारी।

एक महान कवि की सार्थकता अपने युग को मूर्त रूप देने में होती है। अपने युग को अर्थ देने से अधिक कोई कवि अन्य सार्थक काम कर भी क्या सकता है? मुक्तिबोध का काव्य इस चुनौती को स्वीकार करके युग की भयावहता को पूरे तौर पर उघाड़ सा देता है। समाज मे किसी भी रचना का प्रभाव तो होता ही होता है, यह जुदा सवाल है कि वह कृति अपने पूरे प्रभाव मे कौन सी दिशा समाज को देती है।

साहित्य जिस युग को प्रतिबिम्बित करता है, वह जिन सामाजिक गतिविधियो का पुञ्जीभूत होता है, अपने सृजनोपरान्त एक ऐसे समाज का समानान्तर निर्माण करता है जो स्थिति परिस्थिति की घात प्रतिघात से उत्पन्न होने के साथ स्वय लेखक के मनोराज्य का भी प्रतीक होता है। मुक्तिबोध मानते हैं कि यदि लेखक आज ईमानदार है तो उसे अपने प्रति और अपने युग के प्रति अधिक उत्तरदायी होना होगा।

मुक्तिबोध ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय चिन्तक हैं लेकिन वे उन भाव-वादी चिन्तकों की पॉत में नहीं आते जो सिद्धान्त के नाम पर रंचमात्र भी परिवर्तन के पक्षपाती नही हैं। मुक्तिबोध की आलोचना-प्रक्रिया में मानव-मूल्यो तथा मनुष्यता के सामान्य तकीजों के सूत्र इस अनिवार्यता से संगुम्फित है कि प्राय. साहित्य और समाज की विभाजक स्थूल रेखा सी मिट जाती है। और होगी क्यों न, उनका पूरा चिन्तन ही साहित्य में सामाजिक दखल पर आधारित है। उनके प्राय: निबन्धों में कलात्मक विवेचन के साथ-साथ सामाजिक अमतिकता की प्रसंगबद्धता अनिवार्य रूप से पाई जाती है। कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध की आलोचना प्रक्रिया केवल साहित्यिक मूल्यों और मानदण्डों की ही नहीं बल्कि मानव जीवन के मूल्यों और प्रतिमानों की पक्षधर हैं। वे ऐसे मार्क्सवादी चिंतक हैं जो बगैर किसी पूर्वाग्रह के अपनी बात को साफ-साफ कहते हैं। यदि नई कविता में आन्दोलन में ही उन्हें कमी दिखाई दी तो उस कमी को दूर करने का उन्होंने सुझाव दिया, सघर्ष करके उस काव्य प्रवृत्ति को ही नष्ट करने का उद्योग नहीं किया। मुक्तिबोध उन सहृदय आलोचकों में से रहे जो अपने प्रतिपक्षी को भी वैचारिक भिन्नता के बावजूद मित्र मानते हैं।

जैसे उनका साहित्य वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस् व्यक्ति की प्रतिक्रिया है उसी तरह उनका आलोचना कर्म भी समग्रता के आयामो को छूने का ही एक उपक्रम है। बडी ही निभ्रात धारणा इस विषय मे उनकी है कि साहित्य की केवल ऐतिहासिक अथवा स्थूल समाजशास्त्रीय विवेचना कर चुकने मे जो आलोचक अपनी इति कर्तव्यता समझ लेते है। वे न केवल एक–पक्षीय अतिरेक करते है, वरन् वे मनुष्य का विवेचन करने के स्थान पर केवल उसके अस्थि पजर को ही पाठको को दिखाते हुए घोषणा करते है कि देखो मनुष्य जो कुछ है वह यही है।

मुक्तिबोध अपनी सैद्धान्तिक समझ मे नव्य समीक्षा के मूल्यवादी खेमे के आलोचक है, जिसमे प0 रामचन्द्र शुक्ल भी शामिल थे। नई समीक्षा के इस खेमे का जो मूल्य सिद्धान्त है वह यह कि पाठक किसी साहित्य से इसलिए जुडता है क्योकि वह अपने अनुकूल उसमें मूल्य–दृष्टि पाता है। उसकी तदाकारिता साहित्य मे निहित मूल्यो के प्रति ही है चूँकि साहित्य मे जीवन के मूल्य निहित होते हैं अत साहित्य के प्रति श्रद्धा ओर अश्रद्धा का सवाल भी इसी जीवन गत मूल्यपरकता से ही जुडा है।

मुक्तिबोध प्रगतिशील विचारधारा के चिन्तक है। उनका रचना कर्म, आलोचना कर्म, जहाँ एक तरफ प्रगतिवादी जीवन मूल्यो को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास करती है, वही दूसरी ओर शीतयुद्ध से उपजे साहित्य सिद्धान्तो का प्रबल विरोध भी करता है। कारण यह कि शीत युद्ध कालीन साहित्य सिद्धान्तो पर क्षयिष्णु यूरोपीय साहित्य और समाज की छाप है, तथा इनकी प्रेरणा अमेरिका और इग्लैण्ड की उस विचार धारा से ली गई जो समाजवादी विचारधारा को समूल उखाड़ने का यत्न कर रही थी।

मुक्तिबोध ने इस प्रक्रिया को रोकने का अपने रचना कर्म के माध्यम से प्रयास किया। उन्होंने शीत युद्ध कालीन जिन सिद्धान्तो की तीव्र आलोचना की वे थे, कला की ऑटोनामी का सिद्धान्त, आधुनिक भावबोध का सिद्धान्त, लघु मानव की अवधारणा, व्यक्ति स्वातन्त्र्य की अवधारणा, सोन्दर्यानुभूति और

वास्तविक जीवनानुभवो की समान्तर गति का सिद्धान्त इत्यादि। उन्होने इन सारे कथित सिद्धान्तों की भर्त्सना करते हुए उने मूल मे जनवाद के गहरे विरोध को लक्षित किया।

कला की ऑटोनामी के सवाल पर नई समीक्षा मे दो गुट हो गए थे, एक का नेतृत्व टी0 एस0 इलियट करते थे, दूसरे का नेतृत्व आई0 ए0 रिचर्ड्स। मुक्तिबोध स्वयं कला की स्वायत्तता के समर्थक है लेकिन इलियट की तरह कला को हरेक बाह्य दबावों से हटाते हुए नही। उनका रुख आई0 ए0 रिचर्ड्स, जॉन क्रोरैंसम एफ0 आर0 लिविस प्रभृति विद्वानों के अधिक नजदीक है। इन तीनों ही विचारकों ने काव्य–वस्तु की व्याख्या के लिए 'बाह्य सन्दर्भों' को एकदम गैर जरूरी नहीं समझा। मूल्यवादी विचारक होने के नाते मुक्तिबोध भी कला की स्वायत्तता को निरपेक्ष स्वतन्त्रता न मानते हुए सामाजिक मूल्यों की कसौटी पर ही कला को जाँचने परखने का प्रस्ताव किया। कारण यह कि स्वयं मूल्य निरपेक्ष होते नहीं अत इस दृष्टि से कला कोमूल्यांकित करने के लिए कविता, कला से बाहर जाना पड़ेगा।

मुक्तिबोध रूप और तत्व में से तत्व को अधिक महत्व देते हैं क्योंकि तत्व अपने साथ रूप भी ले आता है। इस सिद्धान्त के माध्यम से उन्होने कलावादियों की कला का निर्विकल्प स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को प्रत्याख्यायित करने का यत्न किया है। उनके लिए कला की ऑटोनामी का सिद्धान्त ही जनवादी विचारधारा और मनुष्य जीवन का मखौल उड़ाने वाला है। लेकिन कलावादी विचारक यह भूल जाते हैं कि साहित्य को स्वय कलात्मक सिद्धान्तों के माध्यम से विवेचित नहीं किया जा सकता है, बल्कि उसके विवेचन का मुख्य आधार है वास्तविक जीवन में पाये जाने वाले तत्व, जिसके आधार पर कोई ग्राहक या आलोचक कह सकता है कि अमुक कवि के आँसू वास्तविक हैं, उसकी करुणा वास्तविक है और अमुक कवि के भाव और अनुभूतियाँ 'फ्रॉड' इसीलिए मुक्तिबोध कलात्मक स्वतन्त्रता को मानते हुए भी उसकी स्वतन्त्रता जीवन सापेक्ष ही मानते हैं।

कला की सापेक्ष स्वतन्त्रता को अधिक बोधगम्य बनाने के लिए उन्होने प्रकृति के उपादानो की मदद ली है। जैसे प्राकृतिक उपादान अपनी प्रत्येक स्थिति को स्वतन्त्र होते हुए भी अपने मूल से आवयविक रूप से जुडे रहते है, वैसे ही कला का मूल चूँकि जीवन ही है। अत अपनी सारी स्वायत्ता के बावजूद वह जीवन से विलग नही है। यही कारण है कि वे आलोचक और साहित्यकार तद्वत कृति और आलोचना के अन्त सम्बन्धो का विवेचन करते हुए आकस्मिक रूप से इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कला की समीक्षा के लिए जीवन–समीक्षा की समझ बहुत आवश्यक है।

मुक्तिबोध इस बात के कायल नही थे कि मनुष्य जो कुछ अनुभव करे, उन सब पर लिखे। साहित्य मे अनुभूति की दुहाई देना दूसरे शब्दो मे साहित्यिक निरुद्देश्यता की घोषणा करना है। इस साहित्यिक सोद्देश्यता को उनके 'सवेदनात्मक उद्देश्य' मे देखा जा सकता है। वर्गीय प्रतिबद्धता, पक्षधरता, वर्गीय स्थिति और सघर्ष जैसे कई बिन्दु मुक्तिबोध के साहित्य को सोद्देश्य बनाने मे सहायक होते हैं। वह प्रेमचन्द की परम्परा के साहित्यकार है जो बिना किसी उपयोगिता के साहित्य का सृजन भी गुनाह समझते हैं। 'पक्षधरता' उनके लिए सवेदनात्मक उद्देश्य की दिशा में उठाया गया पहला कदम है।

हिन्दी साहित्य मे मुक्तिबोध, निराला दो ऐसे कवि हैं, जिनका लेखन और जीवन एक दूसरे का पूरक है। उनका काव्य व्यक्तित्व और निजी व्यतित्व दोनों बहुत गहरे घुले–मिले हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों ही कवियों के सृजन की बहुत कुछ अर्थवत्ता इनके जीवन से ही प्रसूत होती है। मुक्तिबोध विचार और कर्म के समन्वय कलाकार हैं। यद्यपि वह भाववादी शैली के नाट्यधर्मी सर्जक हैं, लेकिन जब वे भाववाद में छुपे वस्तुवाद का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं तो उनका सारा आग्रह वस्तु को वस्तुगत आधार पर ही जॉचने–परखने का होता है। जैसे भावों के 'फ्रॉड' का पता उसके वैचारिक या ज्ञानात्मक आधार पर होता है, वैसे ही कला में वैचारिक फ्रॉड का

पता विचार मे कर्म के अभाव से चलता है। विचार मे कर्म की प्रेरणा मुक्तिबोध बहुत ही गहरे महसूस करते है। क्योंकि जिस विचार मे कर्म की प्रेरणा नही होती वह साहित्य मे स्थान पाने के बावजूद 'वचना स्वप्न की उपज', अह के प्रक्षेव और साहित्यिक आत्माभिनय से अधिक की हैसियत नही रखता।

यह मात्र सयोग नही कि साहित्य मे जिन लोगो ने सघर्ष के तत्वो को महत्व दिया, वे साहित्य की सोद्देश्यता के समर्थक है। यही सघर्ष ही साहित्य से आगे बढकर जीवन सघर्ष की प्रेरणा प्रदान करता है। ऐसे साहित्यकार साहित्य का मुख्य उपजीव्य जीवन मानते हैं अत ऐसे विचारको की राय मे साहित्यिक और जीवनगत सोच का ऐक्यभाव आकस्मिक नही हो सकता। कहने की आवश्यता नही कि कवि मुक्तिबोध इन्ही विचारको की कोटि मे आते हैं।

मुक्तिबोध साहित्य के लिए विचारधारा के अन्तर्महत्व से अवगत थे। यद्यपि नई कविता के परिप्रेक्ष्य मे उन्होने लक्षित किया है, इस काल के कवियो को सम्यक विचारधारा नही प्राप्त हुई। लेखकों के पास मात्र एक अमूर्त मानवीयता, मानववादिता की दृष्टि है, जो हद तक विचारधारा का ही प्रतिनिधित्व करती है। लेकिन समाज को बदलने के लिए अमूर्त विचारधारा नही वैज्ञानिक विचारधारा की जरूरत होती है जो वैयक्तिक प्रश्नों को व्यापक धरातल प्राप्त कराए, आन्दोलनों को लोकोन्मुख बनाने में मदद करे।

साहित्य के लिए विचारधारा का महत्व इसलिए भी है कि बिना इसके भाव–दृष्टि का अनुशासन नहीं हो सकता। जब तक भावना।काअनुशासन न होगा तब तक विश्व दृष्टि का निर्माण न होगा जो कवियो को आभ्यंतर आत्मशक्ति प्रदान कर उन्हें वह मनोबल दे जो उनकी पीड़ाग्रस्त अगतिकता को दूर कर सके।

लेकिन इसके बावजूद भी मुक्तिबोध विचारधारा को साहित्यिक प्रचार का रूप नही देते। उनकी शैली में फैंटेसी इस बात का प्रमाण है कि उसमें

गहन वास्तविकता के चित्र मिलते है लेकिन बेहद गुप्त आत्मपरकता के साथ। स्वय लेनिन भी साम्यवादी विचारो को साहित्य के माध्यम से फैलाए जाने का समर्थन नही करते थे। क्योंकि उन्हे यह गहरा अहसास था कि साहित्य और राजनीति दोनो के अपने अलग–अलग नियम होते है। मुक्तिबोध यद्यपि साहित्य और राजनीति को एक दूसरे के अन्योन्याश्रित मानते है लेकिन कलात्मक सतर्कता को एक बाहैसियत कलाकार, निभाते है।

अतिम बात स्वय मुक्तिबोध की विचारधारा को लेकर। यह सवाल इसलिए उठाना जरूरी है, कि मुक्तिबोध ने उसे सृजन मे बहुत से विरोधी ऐक्यो का सहारा लिया है। वस्तुवादी होने के बावजूद शिल्प उनका भाववादी है, ज्ञानात्मक आधार को मजबूत करते जाने का कवि वर्ग को सलाह देने वाला कवि आत्मपरकता कोबेहद तरजीह देता है। तो यह ही क्यों न माना जाय कि कवि मुक्तिबोध स्वय भाववादी विचारको की पॉत मे आते है। जिसने स्पष्ट जौर पर घोषित किया हो कि प्रगतिवादी यांत्रिक छन्दो को वह छोड चुका है, सामाजिक ऐतिहासि दर्शन की यात्रिकता से वह उकता चुका है तो सवाल उठता है कि वह मार्क्सवादी कैसे है?

दरअसल मुक्तिबोध ने वास्तविकता के चित्रण के लिए किसी भी फार्मूलाबद्धता को अस्वीकार किया है। प्रगतिवादी आलोचको का मानना था कि वास्तविकता के चित्रण का जो चौखटा उन्होने तैयार किया है वह ही अतिम है उससे हटकर वास्तविकता का चित्रण हो ही नही सकता। मुक्तिबोध ने इस चुनौती को स्वीकार करके भाववादी शिल्प के माध्यम से वस्तुवाद की समीक्षा तथा सृजन दोनो करके दिखाया उनकी स्पष्ट मान्यता है कि जीवन–प्रसग अनेक सूत्रो मे अनेक तत्वो मे उलझे होते हैं। उनमे स्वपक्ष और परपक्ष के परस्पर घात से एक मन स्थिति और परिस्थिति बन जाती है।

मुक्तिबोध ने अपने लेखो मे जिस द्वन्द्ववाद को आधार बनाया है, वह वर्गीय प्रतिबद्धता और पक्षधरता के साथ मिलकर उनको मार्क्सवादी

चितक बनाती है। कलावाद का खण्डन, वस्तु और रूप मे वस्तु को असदिग्ध महत्व देना, जीवन और साहित्य मे जीवन को उच्च स्थान देना, जनता के सवालो को, उनकी मुक्तिकामी आकाक्षा को व्यापक साहित्यिक धरातल प्रदान करना, साहित्य की सोद्देश्यता, पूँजीवाद का नाश, और सबसे बढकर एक ऐसे समाज की परिकल्पना जिसमे 'स्ट्रगल फॉर एक्जिसटेस' 'सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट' का सिद्धान्त न लागू हो। कहने की आवश्यकता नही कि कोई भी भाववादी विचारक इस तरह की बातो के इर्द–गिर्द भी नही टिक सकता।

xxxxxxxxxxxxxxxxxx

"परिशिष्ट"

सहायक साहित्य

आधार ग्रन्थ

ग0मा0 मुक्तिबोध – मुक्तिबोध रचनावली भाग–1,2,3,4,5 एव 6 सपादक नेमिचन्द जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम सस्करण नव0 1980

" – एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सातवॉं सस्करण–1996

" – नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबध, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर द्वितीय संस्करण–1977

" – कामायनी–एक पुनर्विचार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली चतुर्थ सस्करण–1981

" – सतह से उठता आदमी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, तृतीय सस्करण–1983

" – 'चॉंद का मुँह टेढ़ा है' भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, ग्यारहवॉं संस्करण–1998

" – मुक्तिबोध प्रतिनिधि रचनाए राजकमल प्रकाशन, चतुर्थ पुनर्मुद्रित संस्करण–1993

सहायक ग्रन्थ सूची

1 मुक्तिबोध का रचना ससार : संपादक गगा प्रसाद विमल सुषमा पुस्तकालय दिल्ली प्रथम संस्करण–1969

2 मुक्तिबोध का साहित्य एक अनुशीलन–डॉ0 शशि शर्मा इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सस्करण–1977

3 मुक्तिबोध विचारक कवि और कथाकार – डॉ0 सुरेन्द्र प्रताप नेशनल पब्लिसिग हाउस दिल्ली प्रथम सस्करण–1978

4 लक्षित मुक्तिबोध–मोतीराम वर्मा विद्यार्थी प्रकाशन दिल्ली–1972

5 मुक्तिबोध की काव्य चेतना और मूल्य सकल्प–डॉ0 हुकुम चन्द राजपाल वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सस्करण–1985

6 मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि–डॉ0 प्रेमव्रत तिवारी–ग्रन्थ भारतीय प्रकाशन माला इलाहाबाद, प्रथम सस्करण–1986

7 मुक्तिबोध की साहित्यिक मान्यताए और उनका काव्य–डॉ0 बृजबाला सिह श्रीप्रकाशन वाराणसी प्रथम सस्करण–1986

8 मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धान्त–पुष्पलता राठौर लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद सन्–1970

9 नई कविता और अस्तित्ववाद–राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम छात्र सस्करण –डॉ0 रामविलास शर्मा–1993

10 निराला की साहित्य साधना–1 डॉ0 रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, तृतीय संस्करण–1993

11 राग–विराग–सं0 डॉ0 रामविलास शर्मा, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, पन्द्रहवॉ संस्करण–1990

12 प्रेमचन्द और उनका युग–डॉ0 रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पॉचवा संस्करण– 1989

13 कविता के नए प्रतिमान–डॉ0 नामवर सिह, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम छात्र सस्करण–1993

14 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ–डॉ0 नामवर सिह, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, नवीन संस्करण–1995

15. छायावाद–डॉ0 नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पंचम संस्करण–1993

16 साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन–डॉ0 निर्मला जैन, विश्वविद्यालय प्रकाशन दिल्ली, विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण–1986

17 नई समीक्षा के प्रतिमान–सं0 डॉ0 निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली संस्करण–1992

18 इलियट का काव्य शास्त्र–अनुवादक डॉ0 ओम अवस्थी, साहित्य निलय प्रकाशन कानपुर प्रथम सस्करण–1998

19 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास–डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, छठा सस्करण–1996

20 काव्य भाषा पर तीन निबध–स0 डॉ0 सत्य प्रकाश मिश्र, लोकभारती प्रकाशन प्रथम सस्करण–1989

21 मुक्तिबोध एक अवधूत कविता–श्री नरेश मेहता, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम सस्करण–1988

22 हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी इकतीसवा सस्करण–

23 चितामणि भाग–1, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इडियन प्रेस इलाहाबाद

24 रस मीमासा – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

25 आत्मनेपद – अज्ञेय

26 तारसप्तक–स0 अज्ञेय

27 दूसरा सप्तक–स0 अज्ञेय

28 शेखर एक जीवनी – अज्ञेय, सरस्वती प्रेस इलाहाबाद सस्करण–1980

29 मुक्तिबोध की समीक्षाई–अशोक चक्रधर, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सस्करण– 1998

30 आधुनिक हिन्दी कविता–डॉ0 नन्द किशोर नवल, अनुपम प्रकाशन, पटना प्रथम संस्करण–1993

31 कविता पाठ और काव्य मर्म – डॉ0 परमानन्द श्रीवास्तव, अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम सस्करण–1993

32 निराला आत्महता आस्था –दूधनाथ सिह नीलाम प्रकाशन–1972

33 कामायनी की रचना प्रक्रिया–डॉ0 गिरिजा राय लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम सस्करण–1983

34 सस्कृत आलोचना–आचार्य बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान प्रकाशन लाखनऊ तृतीय संस्करण–1978

35 सिद्धान्त और अध्ययन–बाबू गुलाबराय, आत्मा राम एण्ड सन्स प्रकाशन दिल्ली–छठा सस्करण–1985

36 भारतीय एव पाश्चात्य काव्य शास्त्र–डॉ0 देशराज भाटी, अशोक प्रकाशन दिल्ली सप्तम् सस्करण–1989

37 पाश्चात्य काव्य शास्त्र–डॉ0 शान्ति स्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन नई दिल्ली–सस्करण–1989

38 अभिप्राय स0 डॉ0 राजेन्द्र कुमार– अक्टूबर–1999 अक

39 हिन्दी आलोचना विश्वनाथ त्रिपाठी , राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली द्वितीय सस्करण–1982

40 फिलहाल अशोक बाजपेयी

41 मुक्तिबोध की आत्मकथा विष्णु शर्मा

42 कला का जोखिम निर्मल वर्मा,